'विचार और सूत्र' के प्रसंगमें

'विचार और सूत्र' के प्रसंगमें

श्रीमातृवाणी

'विचार और सूत्र' के प्रसंगमें

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण १९७६

मूल फ्रेंच भाषामें 'पंसे ए आफोरिज़्म : त्रादयूई ए कमांते पार ला मैर'के नामसे १९७४ और १९७६ में प्रकाशित

स्वत्वाधिकार श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७४ और १९७३

हिन्दी अनुवाद © श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७६

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रु० ३०.००

खंड १०

श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्टकी ओरसे

श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित

श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी द्वारा भारतमें मुद्रित

वितरक :

शब्द : श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी, पांडिचेरी-६०५००२

प्रकाशकका वक्तव्य

माताजीने श्रीअरविन्दके 'विचार और सूत्र' की ये व्याख्याएं सन् १९५८ से १९७० तक प्राय: १२ वर्षोंकी अवधिमें की थीं। ये व्याख्याएं आकार और प्रकारमें भिन्न-भिन्न तरहकी हैं और इन्हें चार कालोंमें विभक्त किया जा सकता है:

पहला: १९५८ (सूत्र १-१२): ये व्याख्याएं आश्रमके खेलके मैदानमें "बुधवारकी क्लासों"में आश्रमके विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा साधकोंके सम्मुख प्रश्नोंके उत्तरके रूपमें दी गयीं थीं। (ये क्लासें १९५८ में बंद हो गयीं: उसके बाद माताजी अपने कमरेमें व्यक्तिगत रूपसे अथवा छोटे-छोटे दलों-में लोगोंसे बातें करने लगीं।)

दूसरा: १९६०-६१ (सूत्र १३-६८): ये शारीरिक शिक्षणके एक युवक दल-नायकके लिखित प्रश्नोंके माताजी द्वारा दिये गये अधिकांश लिखित उत्तर हैं, कुछ उत्तर मौखिक दिये गये थे।

तीसरा: १९६२-६६ (सूत्र ६९-१२४): ये एक शिष्यको दिये गये मौखिक उत्तर हैं। इस अवधिमें माताजी सूत्रोंकी अपनी व्याख्यासे धीरे-धीरे अलग होती गयीं और इन अवसरोंका उपयोग उन दिनों होनेवाले अपने अनुभवोंकी व्याख्या करनेमें करने लगीं।

चौथा: १९६९-७० (सूत्र १२५-५४१): ये उपर्युक्त दल-नायकको लिखे गये संक्षिप्त उत्तर हैं।

श्रीअरविन्दके 'विचार और सूत्र' लगभग सन् १९१० और १९१५ के बीच लिखे गये थे। श्रीअरविन्दने उनका संशोधन या संपादन नहीं किया। ये मूल अंगरेजीमें सबसे पहले १९५८ में प्रकाशित हुए और इन्हें श्रीअरविन्दके ही किये हुए विभाजनके अनुसार इन तीन भागोंमें बांट दिया गया था: ज्ञान, कर्म और भक्ति।

माताजीकी सभी व्याख्याएं, चाहे मौखिक हों या लिखित, मूल फ्रेंच भाषामें थीं। प्रथम बार कुछ सूत्रोंकी व्याख्याएं १९५९ में फ्रेंच भाषामें 'पांसे ए आफोरिज़्म: त्रादयूई ए कमांते पार ला मैर' शीर्षकसे प्रकाशित हुईं।

इनका हिन्दी अनुवाद पहली बार 'श्रीमातृवाणी' के इस खंडमें छप रहा है। शेष व्याख्याएं त्रैमासिक 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र पत्रिका'में फ्रेंच, अंगरेजी और हिन्दी भाषाओंमें क्रमशः छपती रहीं। 'पांसे ए आफोरिज्म : त्रादचूई ए कमांते पार ला मैर' नामकी पूरी फ्रेंच भाषाकी पुस्तकका पहला संस्करण दो भागोंमें सन् १९७४ और १९७६ में प्रकाशित हुआ।

'श्रीमातृवाणी' (शताब्दि संस्करण) का यह दसवां खंड उस पुस्तकका पहला पूरा हिन्दी संस्करण है। और अनुवादोंकी तरह यह अनुवाद भी शिक्षा-केंद्रके हिन्दी विभागने उन लोगोंके लिये किया है जो मूल फ्रेंच नहीं पढ़ सकते।

श्रीमाताजी

जन्म

२१ फरवरी, १८७८

भारतमें आगमन

२९ मार्च, १९१४

महासमाधि

१७ नवम्बर, १९७३

शताब्दी

२१ फरवरी, १९७८

ज्ञान

शिक्षाप्रद पुस्तकें पढ़नेका कोई लाभ नहीं, यदि वे जो कुछ सिखाती हैं उनपर अमल करनेका हम प्रण न कर लें।

आशीर्वाद

— श्रीमां

★

ज्ञान

१ — मनुष्यके अंदर दो संबद्ध शक्तियां हैं — ज्ञान और प्रज्ञा। ज्ञान एक विकृत माध्यममें देखा हुआ उतना-सा ही सत्य है जितना कि मन टटोलता हुआ प्राप्त कर सकता है; प्रज्ञा वह है जिसे दिव्य दर्शनका नेत्र आत्मामें देखता है।

किसीने पूछा है कि : "ये शक्तियां संबद्ध क्यों हैं?"

मेरा ख्याल है कि हम मनुष्यमें परस्पर लड़ती-झगड़ती इतनी अधिक चीजें देखनेके आदी हैं कि "संबद्ध" शब्द सुनकर हमें आश्चर्य होता है। पर ये द्वन्द्व बाहरी आभास हैं। वास्तवमें ऊपरके स्तरोंसे आनेवाली सभी शक्तियां संबद्ध ही होती हैं — वे 'अज्ञान'के विरुद्ध लड़नेके लिये सहमत होती हैं। और श्रीअरविन्द यहां अत्यन्त स्पष्ट रूपमें कहते हैं (जो समझते हैं उनके लिये) कि इनमेंसे एक शक्ति तो मानसिक है तथा दूसरी आत्मिक। श्रीअरविन्द ठीक जिस गंभीर सत्यको अपने सूत्रमें व्यक्त करना चाहते हैं वह यह है कि यदि मन इस दूसरी शक्तिको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है तो उसे सफलता नहीं मिलती, क्योंकि यह शक्ति 'आत्मा'की है तथा मनुष्यके अन्दर इसका आविर्भाव आध्यात्मिक चेतनाके साथ ही होता है।

ज्ञान एक ऐसी वस्तु है जिसे मन बहुत अधिक प्रयासके द्वारा ही प्राप्त कर सकता है, भले ही वह 'सत्य-ज्ञान' न होकर 'ज्ञान'का एक मानसिक पक्ष ही क्यों न हो। पर 'प्रज्ञा' तो मनकी वस्तु है ही नहीं। मन उसे प्राप्त करनेमें सर्वथा असमर्थ होता है, क्योंकि यथार्थमें वह तो यह भी नहीं जानता कि यह है क्या। मैं फिर कहती हूं : 'प्रज्ञा' मूलतः 'आत्मा'की शक्ति है तथा आध्यात्मिक चेतनाके साथ ही आविर्भूत होती है।

यहां एक रोचक प्रश्न पूछा जा सकता है — श्रीअरविन्द जिसे "विकृत माध्यममें देखा हुआ सत्य" कहते हैं उससे उनका क्या तात्पर्य है? पहले तो यह विकृत माध्यम है क्या तथा ऐसे माध्यममें 'सत्य' किस दशाको प्राप्त होता है?

सदाकी भांति, श्रीअरविन्दके कथनके कई अर्थ हो सकते हैं; एक तो अति-विशेष तथा दूसरा बहुत साधारण।

अति-विशेष अर्थमें विकृत माध्यम मनका माध्यम है जो अज्ञानमें कार्य करता है तथा उसके फलस्वरूप सत्यको उसके विशुद्ध रूपमें व्यक्त करनेमें

असमर्थ है। किन्तु यह सारा जीवन ही जब अज्ञानमें चल रहा है तब विकृत माध्यम यह पार्थिव वातावरण भी है जो पूरा-का-पूरा इसमेंसे अभिव्यक्त होनेकी चेष्टा करनेवाले सत्यको एकदम विकृत कर देता है।

यहीं इस वाक्यांशका सूक्ष्मतम रहस्य सामने आता है। भला टटोलकर मन क्या पा सकता है? हम जानते हैं कि यह सदा ही टटोलता है, कि यह जाननेकी चेष्टा करता है, कि यह धोखा खाता है, फिर अपने पुराने प्रयत्नोंमें ही लौट जाता है, फिर कुछ नये प्रयत्न भी करता है, अन्तमें ... यह बहुत-बहुत-से पदस्खलनोंसे भरी हुई एक यात्रा सिद्ध होती है, और फिर भी यह 'सत्य'का क्या पकड़ पाता है? क्या यह एक खण्ड, एक टुकड़ा, या कोई ऐसी वस्तु होता है जो 'सत्य' तो हो पर हो आंशिक, अपूर्ण, अथवा कोई ऐसी वस्तु जो बिलकुल 'सत्य' न हो? बस, यही है मनोरंजक बात।

हम यह सुननेके अभ्यस्त हो गये हैं (शायद अनेक बार इसे दुहरा भी चुके हैं) कि हम केवल आंशिक, अपूर्ण तथा खंडित ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं और फलतः वह सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। यह दृष्टिकोण अतिसाधारण है जिसे समझनेके लिये अपने जीवनमें इसका थोड़ा-सा अध्ययन करना ही पर्याप्त है, पर श्रीअरविन्द जिसे "विकृत माध्यममें देखा हुआ सत्य" कहना चाहते हैं वह इससे भी कहीं अधिक मजेदार है।

इस माध्यममें स्वयं 'सत्य' अपना स्वरूप बदल लेता है, अब यहां 'सत्य' 'सत्य' ही नहीं रह जाता, बल्कि 'सत्य'की एक विकृति रह जाती है। और परिणामस्वरूप, उसका जो कुछ पकड़में आता है वह कोई ऐसा खण्ड नहीं होता जो सत्य हो, बल्कि उस सत्यका, जो स्वयं विलुप्त हो चुका है, एक पक्ष, एक मिथ्या आभास मात्र रह जाता है।

तुम्हें समझानेके लिये मैं एक रूपक दे रही हूं। यह केवल रूपक ही है, इससे अधिक कुछ नहीं, इसे अक्षरशः नहीं लेना चाहिये।

यदि मूल 'सत्य'को हम एक शुभ्र, उज्ज्वल और निष्कलंक ज्योतिर्मण्डल मानें तो हम कह सकते हैं कि मानसिक माध्यममें, मानसिक वातावरणमें, यह पूर्ण, शुभ्र ज्योति सहस्र-सहस्र छटाओंमें बदल जाती है, प्रत्येक स्तरका एक अपना स्पष्ट रंग होता है, क्योंकि वे एक-दूसरेसे पृथक् होते हैं; उस समय कह सकते हैं कि माध्यमने शुभ्र ज्योतिको विकृत कर दिया है तथा भांति-भांतिके असंख्य रंगोंमें दिखा दिया है — जैसे, लाल, हरा, पीला, नीला इत्यादि। ये रंग कहीं-कहीं तो अत्यन्त असामंजस्यपूर्ण हैं और मन

उस शुभ्र-मण्डलकी श्वेत-ज्योतिका कोई क्षुद्र टुकड़ातक नहीं पकड़ पाता, बल्कि पकड़ पाता है, अधिक या कम संख्यामें, विभिन्न रंगोंवाली छोटी-छोटी ज्योतियोंको जिनसे वह श्वेत-ज्योतिका पुनर्गठन भी नहीं कर पाता। फलस्वरूप वह 'सत्य'तक पहुंचनेमें अक्षम रह जाता है। उसके अधिकारमें सत्यके कुछ खण्ड नहीं होते, अपितु एक विघटित सत्य होता है। यही है विघटनकी एक अवस्था।

'सत्य' एक पूर्णांग वस्तु है तथा उसका सब कुछ आवश्यक है। जिस विकृत माध्यममें (मानसिक वातावरणमें) तुम उसे देखते हो वह उसके सभी तत्त्वोंको अभिव्यक्त करने, प्रकट करने अथवा यहांतक कि देख सकने-तकमें असमर्थ होता है — और हम कह सकते हैं कि जो कुछ सर्वोत्कृष्ट है वही उसकी पकड़से छूट जाता है। अतएव, हम उस वस्तुको 'सत्य'की संज्ञा नहीं दे सकते, बल्कि किसी ऐसी वस्तुकी संज्ञा दे सकते हैं जो सारतः सत्य तो है किन्तु वहां, उस मानसिक वातावरणमें, अज्ञानके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती।

अतः, संक्षेपमें, मैं कहूंगी कि जिस 'ज्ञान'को मानव मन पकड़ सकता है, वह निश्चित रूपसे अज्ञानमें स्थित है; उसे प्रायः अज्ञानमय ज्ञान कहा जा सकता है।

'प्रज्ञा' है 'सत्य'की दृष्टि — अपने सारतत्त्वमें तथा अपनी अभिव्यक्ति क्रियात्मक रूपमें भी 'सत्य'की दृष्टि।

१२-९-५८

२ — अन्तःप्रेरणा बृहत् तथा शाश्वत ज्ञानसे उछलती हुई चमचमाती ज्योतिकी एक अत्यंत पतली धारा है। बुद्धि जितनी पूर्णताके साथ इंद्रियोंके ज्ञानको पार कर जाती है उससे भी कहीं अधिक पूर्णताके साथ यह बुद्धिको पार कर जाती है।

ऐसे अनेक प्रश्न पूछे गये हैं, जैसे, "श्रीअरविन्दने भला ऐसा क्यों कहा है?" . . . फिर यह बात या वह बात।

उत्तरमें मैं कह सकती हूं: "उन्होंने ऐसा इसलिये कहा है कि उन्होंने वैसा ही देखा है।" परन्तु आरंभमें हमें एक बात जान लेनी चाहिये; श्रीअरविन्दने ये परिभाषाएं दी हैं — ये परिभाषाएं एक विरोधाभासात्मक रूपमें दी हैं ताकि हम विचार करनेके लिये बाध्य हों।

कोषोंमें दी गयी परिभाषाएं इन शब्दोंकी सामान्य व्याख्याएं हैं, साधारण

अर्थ हैं जो तुम्हें विचार करनेके लिये बाध्य नहीं करते। परन्तु श्रीअरविन्द जो कुछ कहते हैं वह रूढ़िगत धारणाको तोड़नेके उद्देश्यसे कहते हैं ताकि तुम एक गंभीरतर सत्यका स्पर्श पा सको। इस तरह बहुत-से प्रश्न यों ही छंट जाते हैं।

हमारी कोशिश होनी चाहिये उस गंभीरतर ज्ञानको, उस गंभीरतर सत्यको खोज निकालनेकी जिसे श्रीअरविन्द ऐसे ढंगसे व्यक्त करते हैं जो शब्दोंकी परिभाषा देनेकी प्रचलित रीति नहीं है।

अब मैं कुछ प्रश्नोंका उत्तर दूंगी। उनमेंसे एक, सबसे पहला, मुझे अच्छा लगा क्योंकि वह एक विचारशील मनके द्वारा पूछा गया है। वह प्रश्न "ज्ञान" शब्दके बारेमें पूछा गया है और श्रीअरविन्दने जिस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग इस सूत्रमें किया है तथा पिछले सप्ताह पढ़े गये सूत्रमें जिस अर्थमें किया है, उन दोनोंमें तुलना की गयी है।

पिछले सप्ताह पढ़े गये सूत्रमें जब श्रीअरविन्द, यदि ऐसा कहा जा सके, ज्ञान तथा 'प्रज्ञा'में विरोध दिखाते हैं तब वह उस ज्ञानकी बात कहते हैं जिसे सामान्य मानवचेतना काममें लाती है, जो ज्ञान प्रयत्न तथा मानसिक विकासके द्वारा प्राप्त किया जाता है; जब कि यहां, उसके विपरीत, जिस ज्ञानका वह जिक्र करते हैं वह है यथार्थ 'ज्ञान', अतिमानसिक भागवत 'ज्ञान', तादात्म्यजनित 'ज्ञान'। और, साथ ही, इसी कारण यहां वह उसे "बृहत् तथा शाश्वत" बतलाते हैं, जो स्पष्ट रूपमें यह निर्देश करता है कि यह ठीक वैसा ही मानव ज्ञान नहीं है जैसा कि हम उसे समझनेके आदी हैं।

बहुत-से लोगोंने पूछा है कि श्रीअरविन्दने यह क्यों कहा है कि धारा "अत्यन्त पतली" है। एक स्पष्ट रूपका निर्माण करनेके लिये, दिव्य, अतिमानसिक 'ज्ञान'की इस विशालता, इस अन्तःप्रेरणाके अनन्त मूलस्रोत तथा उसका जो कुछ अंश मानव मन हृदयंगम और ग्रहण कर सकता है उन दोनोंके बीच एक सुस्पष्ट विरोध दिखलानेके लिये यह एक बहुत सार्थक बिम्ब है। जब कोई उन लोकोंके सम्पर्कमें रहता है तब भी उसे उनका जितना बोध प्राप्त होता है वह बहुत थोड़ा, पतला होता है; वह एक अत्यन्त क्षुद्र सोतेके समान अथवा कुछ टपकती हुई बूंदों-सा होता है, और ये बूंदे अपने-आपमें इतनी पवित्र, इतनी चमकीली, इतनी पूर्ण होती हैं कि वे तुम्हें एक अद्भुत अन्तःप्रेरणाका बोध देती हैं, ऐसी धारणा करा देती हैं कि तुमने असीम-अनन्त क्षेत्रोंको छू लिया है, तथा तुम सामान्य मानवीय अवस्थासे ऊपर बहुत ऊंचे उठ आये हो — और फिर भी जो कुछ देखना बाकी है उसकी तुलनामें यह कुछ भी नहीं है।

किसीने यह भी पूछा है कि क्या चैत्य पुरुष अथवा चैत्य चेतना ही वह माध्यम है जिसके द्वारा अन्तःप्रेरणा आती है।

साधारणतः, हां। उच्चतर लोकोंके साथ जो हमारा पहला संपर्क होता है वह चैत्य संपर्क होता है। अवश्य ही, आंतरिक चैत्य उद्‌घाटन होनेसे पहले अन्तःप्रेरणा पाना दुष्कर है। किसी विशेष प्रकारसे तथा किसी विशेष अवस्थामें, भागवत कृपाके रूपमें अन्तःप्रेरणा आ सकती है, पर सच्चा संपर्क तो चैत्य पुरुषके द्वारा ही प्राप्त होता है, क्योंकि चैत्य चेतना वह माध्यम है जो भागवत 'सत्य'के साथ सबसे अधिक संबद्ध है।

बादमें, जब कोई मानसिक चेतनासे निकलकर मनसे भी परे, उच्चतर मनसे भी परे, किसी उच्चतर चेतनामें प्रवेश कर जाता है और 'अधिमानस'के क्षेत्रों एवं 'अधिमानस'के भीतरसे होकर 'अतिमानस'के क्षेत्रोंकी ओर खुल जाता है तब वह सीधी अंतःप्रेरणाएं ग्रहण कर सकता है; और स्वभावतः, उस समय, वे शीघ्रतासे बार-बार आती हैं, यदि हम ऐसा कह सकें तो, वे अधिक सघन, अधिक पूर्ण होती हैं। फिर आता है एक ऐसा समय जब हम अपनी इच्छाके अनुसार अन्तःप्रेरणा पा सकते हैं, पर यह तो स्पष्ट है कि यह अवस्था एक अत्यधिक आन्तरिक विकासकी अपेक्षा रखती है।

मनसे बहुत ऊपरके क्षेत्रोंसे आनेवाली अन्तःप्रेरणा, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, मूल्य और गुणमें उस सर्वोत्तम चीजको भी अतिक्रम कर जाती है जिसे मन और अधिक ऊंचाईसे उत्पन्न कर सकता है, जैसे कि बुद्धि। निस्संदेह, तर्क-बुद्धि मनुष्यकी मानसिक क्रियाके शिखरपर है; वह इन्द्रियोंकी सहायतासे प्राप्त ज्ञानकी आलोचना कर सकती है, उसे संयत कर सकती है। बहुधा ऐसा कहा गया है कि इन्द्रियां ज्ञान-प्राप्तिके नितान्त दोषपूर्ण माध्यम हैं, वे वस्तुओंको ठीक वैसा ही नहीं देख सकतीं जैसी कि वे हैं और वे जो सूचनाएं देती हैं वे बाहरी तथा बहुधा भ्रान्तिमूलक होती हैं। मनुष्यकी तर्क-बुद्धि जब पूर्णतः विकसित हो जाती है तब वह इस बातको जान जाती है और इन्द्रियोंके ज्ञानपर आस्था नहीं रखती। जब मनुष्य तर्क-बुद्धिसे नीचेके स्तरमें होता है, यदि ऐसा कहा जा सके तो, केवल तभी वह विश्वास करता है कि जो कुछ वह देखता है, जो कुछ वह सुनता है, जो कुछ वह छूता है, वह सब बिलकुल सत्य है। ज्यों ही वह उच्चतर तर्क-बुद्धिके क्षेत्रमें उन्नीत हो जाता है त्यों ही वह समझ जाता है कि ये सभी धारणाएं प्रायः सारतः मिथ्या हैं और वह किसी भी प्रकार उन्हें अपना आधार नहीं बना सकता। परन्तु जो ज्ञान

मनुष्यको उस अतिमानसिक या भागवत स्तरसे प्राप्त होता है वह बुद्धि जो कुछ धारणा बना सकती है या जो कुछ समझ सकती है उस सबको अतिक्रम कर जाता है, कम-से कम उसी मात्रामें जिस मात्रामें तर्क-बुद्धि इन्द्रियोंके ज्ञानको अतिक्रम कर जाती है।

कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो एक व्यावहारिक विषयसे संबंधित हैं: "अन्तः-प्रेरणा प्राप्त करनेकी शक्तिको किस प्रकार विकसित किया जाये? अन्तः-प्रेरणा प्राप्त करनेकी शर्तें क्या हैं? क्या उसे निरन्तर प्राप्त करते रहना संभव है?"

मैं इन प्रश्नोंका उत्तर पहले ही दे चुकी हूं। जब मनुष्य अतिमानसिक क्षेत्रोंकी ओर अपने-आपको खोलता है तब वह उन अवस्थाओंमें पहुंच जाता है जहां वह निरन्तर अन्तःप्रेरणा प्राप्त कर सकता है। तब-तक, सर्वोत्तम उपाय है यथासंभव अपने मनको निश्चल-नीरव बनाना, उसे ऊपरकी ओर मोड़ना तथा एक निश्चल-नीरव और सजग ग्रहण-शीलताकी स्थितिमें बने रहना। मनुष्य अपने मनमें जितनी निश्चल-नीरव और पूर्ण शांति स्थापित कर सकेगा उतनी ही अधिक अंतःप्रेरणाएं प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेगा।

किसीने यह भी पूछा है कि क्या अंतःप्रेरणाएं कई प्रकारकी होती हैं।

अपने मूलमें, नहीं। वे सर्वदा ऐसी चीजें होती हैं जो विशुद्ध 'ज्ञान'के क्षेत्रसे उतरती हैं और मनुष्यके सबसे अधिक ग्रहणशील, उन्हें प्राप्त करनेके लिये सबसे उपयुक्त भागमें प्रवेश करती हैं; परंतु ये प्रेरणाएं कर्मके विभिन्न क्षेत्रोंमें क्रियाशील हो सकती हैं : ये विशुद्ध ज्ञानकी अंतः-प्रेरणाएं हो सकती हैं, ये प्रगतिके प्रयासमें सहायता देनेवाली अंतःप्रेरणाएं भी हो सकती हैं, और ये किन्हीं कार्योंकी परिपूर्तिके लिये आनेवाली, किसी व्यवाहारिक और बाह्य सिद्धिमें सहायक होनेवाली अंतःप्रेरणाएं भी हो सकती हैं। परंतु यहां अंतःप्रेरणाके प्रकार-भेदका प्रश्न उतना नहीं है जितना इस बातका कि लोग उसका प्रयोग किस प्रकार करते हैं— अंतःप्रेरणा सर्वदा ज्योति और सत्यकी एक बूंदकी तरह होती है जो मानव-चेतनाके अंदर प्रविष्ट होनेमें सफल होती है।

मानव चेतना इस बूंदका क्या उपयोग करेगी — यह निर्भर करता है मनोभाव, आवश्यकता, अवसर तथा परिस्थितिके ऊपर; इनसे अंतःप्रेरणा-के मूल स्वभावमें कोई अंतर नहीं पड़ता, पर व्यावहारिक उपयोगमें, मनुष्य किस काममें उसे प्रयुक्त करता है, इसमें अंतर आ जाता है।

कुछ प्रश्न अंतःप्रेरणा तथा संबोधिके बीचके विभेदसे संबंधित हैं।

ये दोनों एक ही चीज नहीं हैं। परंतु मेरा ख्याल है कि अपने पाठ-क्रमके बीच, आगे चलकर इस विषयपर फिर आनेका मौका मिलेगा। जब श्रीअरविंद हमें यह बतायेंगे कि वह किस चीजको संबोधि मानते हैं तब हम इस विषयपर विचार करेंगे।

साधारण और लगभग पूर्ण रूपसे, यदि कोई इस पाठसे सचमुच लाभ उठाना चाहे, जैसे कि श्रीअरविंदकी सब रचनाओंसे हम लाभ उठाना चाहते हैं, तो उसका सबसे उत्तम तरीका यह है: अपनी चेतना-को एकत्रित करके अपने ध्यानको पाठ्य-विषयपर जमा दो और थोड़ी-सी मानसिक समता स्थापित करो — यदि कोई पूर्ण निश्चल-नीरवता स्थापित कर सके तो वह सबसे बढ़िया बात है — और मनकी स्थिरता, मस्तिष्ककी स्थिरताकी एक ऐसी स्थितिमें पहुंच जाय कि उसका ध्यान दर्पणकी तरह शांत और स्थिर, पूर्णतः शांत जलकी सतहके जैसा बन जाय। उस स्थितिमें पढ़ी हुई चीज उस सतहको पार कर सत्ताकी गहराईमें पैठ जाती है जहां वह कम-से-कम विकृतिके साथ गृहीत होती है; और उसके बाद, कभी-कभी दीर्घकालके बाद, वह उन गहराइयोंसे ऊपर फूट निकलती है तथा मस्तिष्कमें अपनी पूरी बोध-शक्तिके साथ प्रकट होती है — बाहरसे प्राप्त किसी ज्ञानकी तरह नहीं, वरन् एक ज्योतिकी तरह जिसे मनुष्य अपने अंदर वहन करता है।

इस प्रकार समझनेकी शक्ति अपनी अधिकतम मात्राको पहुंच जाती है। परंतु पढ़नेके समय यदि तुम्हारा मन चंचल रहता है तथा जो कुछ पढ़ा जाता है उसके विषयमें तर्क करने तथा उसे तुरत समझ लेनेकी चेष्टा करता है तो तुम उन शब्दोंमें निहित शक्ति, ज्ञान तथा सत्यका तीन-चौथाईसे भी अधिक भाग खो देते हो। और आत्मसात् करने तथा अंतरमें जाग्रत् होनेकी यह प्रक्रिया पूरी हो जानेके बाद ही यदि तुम प्रश्न करना आरंभ करो तो तुम देखोगे कि पूछने योग्य बहुत ही कम बातें हैं, क्योंकि पढ़ी हुई चीजको तुम बहुत अच्छी तरह समझ चुके हो।

१९-९-५८

३ — जब मैं बोलता हूं तो तर्क-बुद्धि कहती है : "बस, यही मैं कहूंगी", पर भगवान् मेरे मुंहसे वह शब्द छीन लेते हैं और होंठ कुछ और ही बोल उठते हैं जिसके आगे बुद्धि कांप-कांप उठती है।

जब श्रीअरविंद "मैं" कह रहे हैं तब वह स्वयं अपने विषयमें तथा अपनी अनुभूतिके विषयमें ही बोल रहे हैं। हमें बड़ा हर्ष होता यदि हम यह कह सकते कि यह कथन प्रतीकात्मक है और यह बहुत-से लोगों-पर लागू हो सकता है, पर दुःखकी बात है कि बात ऐसी बिलकुल नहीं है।

जब हम कुछ बोलते हैं तब हमें बहुत बार यह अनुभव होता है कि हम जो कुछ कहना चाहते थे उसे न कहकर दूसरी ही चीज कह बैठे हैं, पर यह उपर्युक्त अनुभवका उल्टा है; कहनेका तात्पर्य, जब मनुष्य शांति-पूर्वक अपने-आपमें स्थित होता है और उसे अधिक-से-अधिक बुद्धि प्राप्त होती है तब वह यह निश्चय करता है कि यह कहूंगा, यह या वह कहूंगा, यही बात युक्तिसंगत है, पर बहुत बार, जब वह बोलने लगता है तब भिन्न आवेग, युक्तिहीन भावनाएं तथा प्राणिक क्रियाएं उसकी जिह्वा पकड़ लेती हैं और उससे ऐसी बातें कहला देती हैं जो उसे नहीं कहनी चाहिये थीं।

यहां भी, बात बस यही है, पर, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, है इसके विपरीत। वहां अ-युक्तिसंगत आवेग ही तुम्हें आवेश और उत्तेजनाके वशमें होकर बोलनेके लिये बाध्य करता है, परंतु यहां, इसके विपरीत, उस आवेगके स्थानमें होती है ऊपरसे आनेवाली एक अंतःप्रेरणा, तर्क-बुद्धिके प्रकाश और ज्ञानसे कहीं महत्तर एक प्रकाश तथा एक ज्ञान, जो वाणीको अधिकृत कर लेते हैं और तुमसे ऐसी बातें कहला देते हैं जिन्हें कोई अत्यंत प्रदीप्त तर्क-बुद्धिकी सहायतासे भी कहनेमें समर्थ न हुआ होता।

श्रीअरविंद हमसे कहते हैं कि "बुद्धि कांप-कांप उठती है", क्योंकि ये उच्चतर सत्य सर्वदा मानवीय क्षेत्रमें विरोधाभासके रूपमें, तर्क-बुद्धि-विरोधी अंतर्दर्शनके रूपमें प्रकट होते हैं; पर इसका कारण यह नहीं है कि उच्चतर लोकोंसे आनेवाली चीजोंको समझनेमें तर्क-बुद्धि असमर्थ होती है, बल्कि यह है कि ये अंतर्दर्शन सदा बुद्धिकी समझी हुई और स्वीकार की हुई चीजोंसे आगे, बहुत आगे, होते हैं। जिसे आजकी मानव तर्क-बुद्धि युक्तिसंगत समझती है वही भूतकालमें विरोधाभासपूर्ण तथा मूर्खता-पूर्ण रहा है; और संभवतः, बल्कि हम कह सकते हैं कि निश्चय ही, जो अप्रत्याशित, विरोधाभासपूर्ण और क्रांतिकारी अंतर्दर्शन अभी प्रकट हो रहे हैं तथा तर्क-बुद्धिको कंपा रहे हैं, वे ही भविष्यमें बहुत युक्तिसंगत ज्ञान बन जायेंगे और स्वयं नवीन अंतर्दर्शनोंके सामने कांप उठेंगे!

इन छोटे-छोटे वाक्योंके द्वारा, जो हमारे वस्तुविषयक ज्ञानको कुछ

क्षणोंके लिये विचलित कर देते हैं, श्रीअरविंद किसी सतत गतिशील, निरंतर प्रगति करनेवाली तथा सर्वदा रूपांतरित होनेवाली चीजका यह अनुभव ही हमें प्रदान करनेकी चेष्टा कर रहे हैं; वह चाहते हैं कि वह हमें तेजीसे आगे बढ़ा ले चलें, इस जगत्‌में व्यक्त होनेवाली सभी चीजोंकी पूर्ण सापेक्षताका बोध हमें प्रदान करें तथा हमें यह अनुभव दे सकें कि यह विश्व एक उच्चतर और महत्तर 'सत्य' की ओर आगे बढ़ रहा है, सर्वदा आगे बढ़ रहा है।

हमारे लिये, इस समय, उच्चतम 'सत्य' की अभिव्यक्ति है अतिमानसिक रूपांतर; यही 'क्रांति' हमें पृथ्वीपर संसिद्ध करनी है; और निस्संदेह अधिकतर मनुष्योंके लिये यह आवश्यक है कि वे इस 'क्रांति' का निरपेक्ष अनुभव करें, अन्यथा वे इसे साधित नहीं कर सकेंगे। परंतु श्रीअरविन्द इस बातपर जोर देते हैं ताकि हम इसे भूल न जायं कि यह निरपेक्ष वस्तु भी सापेक्ष ही है तथा यह अभिव्यक्ति सर्वदा उस 'निरपेक्ष' के सामने सापेक्ष ही बनी रहेगी जो इससे कहीं अधिक निरपेक्ष है एवं 'अव्यक्त' है जो आगे चलकर अभिव्यक्त होगा।

२६-९-५८

४ — मैं ज्ञानी नहीं हूं, क्योंकि मुझे कोई ज्ञान प्राप्त नहीं है, सिवा उस ज्ञानके जो भगवान् मुझे अपने कार्यके लिये देते हैं। मैं कैसे समझ सकता हूं कि जो कुछ मैं देखता हूं वह विवेक है या बुद्धिहीनता? नहीं, वह इन दोनोंमेंसे कोई नहीं है, क्योंकि देखी हुई वस्तु केवल सत्य होती है — न बुद्धिहीनता, न विवेक।

मैं ज्ञानी नहीं हूं . . . ज्ञानी तो वह होता है जो 'ज्ञान' के मार्गका अनुसरण करता है, वह होता है जो केवल 'ज्ञान' के द्वारा 'योग' की प्राप्ति करना चाहता है और जो एक विशुद्ध बौद्धिक पथसे आरंभ कर उससे परे पहुंच जाना तथा वह 'ज्ञान' प्राप्त करना चाहता है जो अब बौद्धिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक है। और श्रीअरविन्द कहते हैं : "मैं 'ज्ञानी' नहीं हूं . . . मैं 'ज्ञान' की खोज नहीं करता, मैंने अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें सौंप दिया है ताकि मेरे द्वारा उनका कार्य पूरा हो और भगवान्‌की कृपासे प्रति क्षण, उस कामको पूरा करनेके लिये मुझे जो कुछ जानना चाहिये, उसे मैं जान जाता हूं।"

यह एक प्रशंसनीय स्थिति है, यह आत्माकी पूर्ण शांतिकी अवस्था है।

अब उपार्जित ज्ञानों, पढ़ी हुई चीजों तथा याद रखने योग्य विषयोंको संचित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, हजारों चीजोंसे मस्तिष्कको लाद देनेकी कोई आवश्यकता नहीं ताकि जब चाहें तब, किसी कार्यको पूरा करनेके लिये, कोई शिक्षा देनेके लिये या कोई समस्या सुलझानेके लिये आवश्यक ज्ञान हमारे पास मौजूद रहे। अब तो मस्तक शांत है, मस्तिष्क स्थिर है, सब कुछ शून्य, स्थिर, शांत है, और जिस क्षण आवश्यकता होती है उसी क्षण, भगवान्‌की 'कृपा'से प्रकाशकी एक बूंद चेतनाके अंदर टपक पड़ती है और जो कुछ जानना जरूरी होता है उसे मनुष्य जान जाता है। अब भला याद रखनेकी क्या चिंता? अब भला इस ज्ञानको बनाये रखनेकी चिंता कोई क्यों करे? उस दिन या उस क्षण जब कि इसे पानेकी जरूरत होगी यह हमें फिरसे प्राप्त हो जायेगा। प्रत्येक मुहूर्त्त ही हम एक कोरे पृष्ठकी तरह होते हैं जिसपर जानने योग्य बातें लिख दी जाती हैं — पूर्ण ग्रहणशीलताकी शांति, विश्रांति तथा निश्चल-नीरवतामें।

उस समय जानने लायक चीज जानी जाती है, देखने लायक चीज दिखायी देती है, और चूंकि जानने लायक और देखने लायक विषय सीधे परात्पर भगवान्‌से आते हैं, इसलिये वे साक्षात् सत्य ही होते हैं, और वे विवेक या बुद्धिहीनता दोनोंकी धारणाओंसे सर्वथा परे होते हैं। जो चीज सत्य है वह बस सत्य है — बस यही। यदि तुम यह प्रश्न करो कि वह वस्तु मूर्खतापूर्ण है या विवेकपूर्ण तो तुम्हें काफी नीचे उतर आना पड़ेगा।

बस, आवश्यक है निश्चल-नीरवता और विनम्र, विनीत, सतर्क ग्रहणशीलता। न तो अपनेको दिखानेकी कोई चिंता होनी चाहिये और न होनेकी ही — बस, एकदम विनम्र, एकदम विनीत, एकदम सरल-भावसे यंत्र बन जाना चाहिये जो स्वयं कुछ नहीं है और न कुछ जानता है, पर जो सब कुछ ग्रहण करने तथा सब कुछ प्रसारित करनेके लिये तैयार है।

पहली शर्त है आत्मविस्मृति, पूर्ण आत्म-समर्पण, अहंका अभाव।

और शरीर परम प्रभुसे कहता है: "तू जो कुछ चाहता है कि मैं बनूं, वही बनूंगा, तू जो कुछ चाहता है कि मैं जानूं, वही जानूंगा, तू जो कुछ चाहता है कि मैं करूं, वही करूंगा।"

३-१०-५८

५ — यदि मनुष्य इस बातकी केवल एक झलक पा जायं कि कितने अनंत भोग, कितनी पूर्ण शक्तियां, सहज-स्वाभाविक ज्ञानके कितने ज्योतिपूर्ण क्षितिज, हमारी सत्ताके कितने विस्तृत

शांतिपूर्ण क्षेत्र उन प्रांतोंमें हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं जिन्हें अभीतक हमारे जैव क्रम-विकासने जीता नहीं है, तो वे सब कुछ छोड़ देंगे और तबतक कभी चैनसे नहीं बैठेंगे जबतक इन संपदाओंको आयत्त नहीं कर लेते। परंतु पथ संकीर्ण है, द्वार दुर्भेद्य हैं और प्रकृतिके पहरेदार भय, अविश्वास और संशय मौजूद हैं ताकि हमें कम सामान्य चरागाहोंकी ओरसे पैर मोड़नेसे मना करें।

श्रीअरविन्दने जो लिखा है, "झलक पा जायं", तो उसका अर्थ है "संपूर्ण रूपसे देख लें, पर थोड़े-से क्षणोंके लिये"। यह स्पष्ट ही है कि यदि इन सुन्दर वस्तुओंका निरंतर दर्शन प्राप्त हो तो वह स्वभावतः तुम्हें पथ ग्रहण करनेके लिये बाध्य करेगा। फिर यह भी निश्चित है कि एक छोटी-सी खंड-झांकी पर्याप्त नहीं होती; उसमें इतनी प्रबल शक्ति नहीं होती कि वह तुम्हें पथ ग्रहण करनेके लिये बाध्य करे।

परंतु तुम्हें यदि पूर्ण दर्शन प्राप्त हो जाय, भले ही वह थोड़े समयके लिये ही क्यों न हो, तो तुम उसकी उपलब्धिके लिये आवश्यक प्रयास करनेके लोभको संवरण नहीं कर सकते; परंतु वास्तवमें, पूर्ण दर्शन दुर्लभ होता है। इसी कारण श्रीअरविन्द हमसे कहते हैं: "यदि मनुष्य केवल.....।"

सच पूछा जाय तो जो लोग तैयार हैं, जो लोग इस उपलब्धिके लिये असंदिग्ध रूपसे दैव-निर्दिष्ट हैं, उनके विषयमें ऐसा कम ही देखा जाता है कि वे अपने जीवनके किसी विशेष मुहूर्त्तमें, भले ही वह कुछ सेकंडके लिये ही क्यों न हो, यह न अनुभव करते हों कि यह उपलब्धि क्या है।

परंतु उन लोगोंको भी, जिन लोगोंका भाग्य सुनिश्चित है उन लोगोंको भी, "उस चीज" के विरुद्ध हठपूर्वक, घोर संघर्ष करना पड़ता है जिसे हम अपनी सांसकी हवाके साथ ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं: "वह चीज" है यह आशंका, यह भय कि न मालूम क्या हो जाय। यह कितनी मूर्खतापूर्ण बात है, क्योंकि अंतिम विश्लेषण करनेपर प्रत्येक व्यक्तिका भाग्य एक ही है: जन्म लेना, जीना —अधिक या कम अच्छे रूपमें —और मर जाना; और फिर अधिक या कम समयतक प्रतीक्षा करना, फिर दुबारा जन्म लेना, जीना —कम या अधिक उत्तम रूपमें —और फिर मर जाना और इसी तरह अनिश्चित कालतक दुहराते रहना जबतक कि मनुष्य इससे ऊब जानेके लिये तैयार न हो जाय।

भला भय किस बातका? पुरानी लीकसे बाहर निकल आनेका भय? मुक्त होनेका भय? भविष्यमें कैदी न बने रहनेका भय?

और फिर, जब तुममें उसे अतिक्रम कर जानेके लिये पर्याप्त साहस हो तो तुम अपने-आपसे कहते हो: "कुछ भी क्यों न हो! आखिर हम कोई बड़ी चीज दावपर नहीं लगा रहे, है न?" परंतु तुम अपने ऊपर अविश्वास करते हो, तुम मन-ही-मन प्रश्न उठाते हो कि क्या यह युक्तिसंगत है, क्या यह सत्य है, क्या यह सब विशुद्ध भ्रम नहीं है, क्या हमारा मस्तिष्क चकरा गया है, क्या वास्तवमें ऐसी कोई चीज है ...। ध्यान रखो, यद्यपि यह अविश्वास मूर्खतापूर्ण प्रतीत होता है फिर भी यह अत्यंत बुद्धिमान् लोगोंमें भी पाया जाता है, यहांतक कि उन लोगोंमें भी पाया जाता है जिन्हें बार-बार और विश्वासोत्पादक अनुभव प्राप्त हो चुके हैं। मैं कहती हूं कि यह एक ऐसी चीज है जिसे हम अपने भोजनके साथ आत्मसात् करते हैं, अपनी सांसमें आनेवाली हवाके साथ, दूसरोंके संपर्कके साथ ग्रहण करते हैं, और यही कारण है कि हम उसे "प्रकृतिका पहरेदार" कह सकते हैं, जो सर्वत्र और सब वस्तुओंमें एक अष्टबाहु राक्षस मछलीकी भांति फिसलकर आ घुसता है और तुम्हें पकड़कर अंतमें बांध लेता है।

और जब हम इन दो बाधाओंको पार कर जाते हैं, जब हमारे अनुभव इतने प्रबल होते हैं कि कोई संदेह नहीं बना रह सकता, उनपर संदेह करना अभसंव हो जाता है — उनपर संदेह करना मानों अपने जीवनपर ही संदेह करना हो जाता है — उस समय भी वह भयंकर, गंदी, सूखी और खट्टी चीज, अर्थात्, अविश्वासकी प्रवृत्ति बनी रह जाती है। वह मानवीय गर्वपर आधारित होती है और इसी कारण बहुत दिनोंतक बनी रहती है। उस समय हम अपनेको इन सभी चीजोंसे बहुत ऊपर समझते हैं और कहते हैं: "ओह, मैं! मैं इन सब फंदोंमें नहीं पड़ता! मैं तो एक बुद्धिमान् आदमी हूं, मैं वस्तुओंको व्यावहारिक दृष्टिसे देखता हूं, मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता।" यह बात घृणित है! .....नीच है। पर यह खतरनाक है।

महान् उत्साहकी घड़ीमें भी, जब हम किसी असाधारण, अद्‌भुत अनुभूतिसे भरपूर होते हैं, उस क्षण भी, वह चीज एकदम नीचेसे ऊपर उठ आती है, वह कदर्य, लसीली और घृणास्पद होती है। फिर भी वह ऊपर चढ़ आती है और सब कुछ चौपट कर देती है।

उसपर विजय प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको उद्‌भट योद्धा बनना होगा। उसे प्रकृतिके सब प्रकारके अंधकारोंके साथ, उसकी समस्त कुटिलताओं और प्रलोभनोंके साथ युद्ध करना होगा।

वह यह सब क्यों करती है? ऐसा लगता है मानों वह स्वयं अपने लक्ष्यके विपरीत जा रही हो। परंतु मैं इस बातकी व्याख्या तुम्हारे सामने

अनेक बार कर चुकी हूं : प्रकृति यह अच्छी तरह जानती है कि वह किस ओर जा रही है, लक्ष्य क्या है, वह उसे चाहती है, पर... अपने निजी तरीकेसे।

उसे नहीं लगता कि वह समय खो रही है। उसके सामने तो अनंत काल पड़ा है। वह अपनी इच्छाके अनुसार अपने पथका अनुसरण करना चाहती है, अपनी पसंदके अनुसार चक्कर काटती हुई, पीछे लौटती हुई, सीधे पथसे अलग भटकती हुई चलना चाहती है और एक ही चीजको बार-बार यह देखनेके लिये आरंभ करती है कि देखें, क्या होता है। और तब, वे प्रबुद्ध चंचलमति लोग, जो तुरत, यथासंभव शीघ्रताके साथ, लक्ष्यपर पहुंच जाना चाहते हैं, जो सत्य, ज्योति, सौंदर्य और संतुलनके प्यासे होते हैं... ऐसे लोग उसे तंग करते हैं, उसपर दबाव डालते हैं, वे उससे कहते हैं कि तू अपना समय नष्ट कर रही है। अपना समय! और वह हमेशा उत्तर देती है : "परंतु मेरे सामने शाश्वत काल पड़ा है, क्या मुझे कोई जल्दी है? तुम लोग इतनी जल्दीमें क्यों हो?" और फिर, मुस्कराती हुई वह उनसे कहती है : "तुम जितने अंशमें मनुष्य हो उतने ही अंशमें जल्दबाजी करते हो; अपनेको विस्तारित करो, अनंत बन जाओ, शाश्वत बन जाओ, तब तुम फिर कभी जल्दबाजी न करोगे।"

रास्तेमें उसके लिये मनबहलावका ऐसा साधन मौजूद है, पर उससे प्रत्येक व्यक्तिका मन नहीं बहलता।

उस समय यही होता है जब कोई वस्तुओंको एक महान् ऊंचाईपरसे, बहुत दूरसे देखता है, जब कोई उन चीजोंको देखता है जो विशाल हैं, लगभग अनंत हैं ; जो चीजें मनुष्यको परेशान करती हैं, सताती हैं वे विलीन हो जाती हैं। और तब, जो लोग बड़े ज्ञानी होते हैं और एक बड़े ऊंचे ज्ञानके लिये जीवनका त्याग कर चुकते हैं, वे एक मुस्कानके साथ तुमसे कहते हैं : "तुम दुःख क्यों भोग रहे हो? उससे बाहर निकल आओ, फिर कोई कष्ट नहीं होगा!" व्यक्तिगत रूपसे यह बहुत ठीक है, पर आखिरकार जब कोई दूसरोंकी बात सोचता है तब उसकी यह इच्छा हो सकती है कि यह सुखांत नाटक, जो जरा दुःखदायी है, शीघ्र समाप्त हो जाय। और यदि कोई चरागाहमें रहनेवाले पशुकी तरह जीवनसे थका हुआ, घासके एक तिनकेसे दूसरे तिनकेतक घूमनेसे, खायी हुई चीजको एक कोनेमें बैठकर चबाने, अर्थात्, जुगाली करनेसे, अत्यंत सीमित क्षितिजोंतक दृष्टि प्रसारित करने तथा जीवनकी समस्त चमक-दमक खो देनेसे थका हुआ अनुभव करे, तो यह बिलकुल न्यायसंगत है।

संभवतः प्रकृतिको इसमें मजा आता है कि हम इस तरहके हैं, पर,

हमारा जहांतक प्रश्न है, हम इससे ऊब गये हैं; हम कुछ और हो जाना चाहते हैं।

बस, ऐसे ही समय जब कि हम ऐसी चीजोंसे ऊब चुके होते हैं, जब हम और कुछ होना चाहते हैं तभी हमारे अंदर साहस आता है, शक्ति आती है और इन तीनों महान् शत्रुओंको — भय, संदेह और अविश्वासको — जीतनेकी संभावना उत्पन्न हो जाती है। परंतु मैं फिर कहती हूं कि यही पर्याप्त नहीं है कि एक शुभ दिन देखकर कोई बैठ जाय, अपनेको देखे कि वह कैसा है और बस एक बार ही, सदाके लिये उससे युद्ध कर ले। यदि कोई निश्चित होना चाहे कि वह उस चीजसे मुक्त हो चुका है तो उसे ऐसा ही करना होगा, इसे बार-बार करना होगा और लगभग अनंत रूपसे करते रहना होगा। सच पूछा जाय, तो मनुष्य शायद यथार्थमें कभी मुक्त नहीं होता, परंतु एक समय आता है जब वह अपने अंदर इतना बदल जाता है कि वे चीजें उसे स्पर्श नहीं कर सकतीं। मनुष्य उन्हें देख तो सकता है पर वह एक मुस्कानके साथ देखता है। और एक मामूली हरकत ही उन्हें दूर हटा देती है, वे वहीं लौट जाती हैं जहांसे आयी थीं, शायद थोड़ी-सी परिवर्तित होकर, शायद कम शक्तिशाली, कम हठी, कम आक्रामक बनकर लौट जाती हैं और यह क्रम तबतक चलता रहता है जबतक कि 'ज्योति' इतनी पर्याप्त मात्रामें सबल नहीं हो उठती कि समस्त अंधकार विलीन हो जाय।

जहांतक उन अद्‌भुत वस्तुओंका प्रश्न है, जिनकी चर्चा श्रीअरविन्द करते हैं, उनका वर्णन न करना ही अधिक अच्छा है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी ढंगसे महसूस करता, स्वीकार करता और अनुभव करता है — और प्रत्येक व्यक्तिके लिये वही सबसे उत्तम है। तुम्हें दूसरोंका तरीका नहीं पकड़ना चाहिये, तुम्हें बस अपना ही रास्ता अपनाना चाहिये, तभी अनुभव अपना पूरा मूल्य, अपना कल्पनातीत मूल्य प्राप्त करता है।

अन्तमें, मैं चाहती हूं कि तुम सब लोग इन अनुभवोंको प्राप्त करो। उसके लिये तुम्हारे अन्दर श्रद्धा, विश्वास, बहुत नम्रता तथा बहुत अधिक सदिच्छा होनी चाहिये।

अपने-आपको खोलो, अभीप्सा करो और... प्रतीक्षा करो। अनुभव निश्चित रूपसे आयेगा। भगवत्कृपा विद्यमान है; वह बस यही चाहती है कि वह सबके लिये कार्य कर सके।

१०-१०-५८

६ — बहुत पीछे मैंने सीखा कि जब तर्क-बुद्धि मर गयी तब

'प्रज्ञा' उत्पन्न हुई; इस मुक्तिसे पहले मुझे केवल ज्ञान ही प्राप्त था।

मैं फिर एक बार तुम्हारे सामने यह बात दुहरा देना आवश्यक समझती हूं कि इन सूत्रोंका रूप जान-बूझकर विरोधाभासात्मक रखा गया है ताकि मनको थोड़ा-सा धक्का दिया जाय और उसे इतना अधिक जगा दिया जाय कि वह समझनेकी कोशिश करे। तुम्हें इन्हें शब्दशः नहीं लेना चाहिये। कुछ लोग इस भावनाका पोषण करते हुए प्रतीत होते हैं कि ज्ञानी होनेके लिये यह आवश्यक है कि तर्क-बुद्धि विलुप्त हो जाय, पर बात ऐसी नहीं है, बात बिलकुल ही ऐसी नहीं है।

बस तर्क-बुद्धिको कभी सर्वोच्च शिखर और सर्वेसर्वा नहीं होना चाहिये।

जीवनमें बहुत दीर्घ कालतक, सच्चे ज्ञान जैसी कोई चीज प्राप्त करनेसे पहले, यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि तर्क-बुद्धि ही सर्वेसर्वा हो, अन्यथा तुम अपने आवेगों, सनकों और भावुक कल्पनाओंके हाथोंका — जो थोड़े-बहुत उच्छृंखल होते हैं — खिलौना रह जाते हो तथा केवल प्रज्ञासे ही नहीं वरन् अच्छे चाल-चलनके लिये आवश्यक ज्ञानसे भी बहुत दूर चले जानेका खतरा उठाते हो। परंतु जब तुम साधारण मानव-चेतनाके सर्वोच्च शिखर-रूप तर्क-बुद्धिकी सहायतासे अपनी सत्ताके निम्न अंगोंपर अधिकार जमानेमें सफलता प्राप्त कर लेते हो और फिर यदि उस बिन्दुसे परे जाना चाहते हो, यदि तुम साधारण जीवन, साधारण विचार, वस्तु-विषयक साधारण दृष्टिसे मुक्त होना चाहते हो तो तुम्हें, यदि मैं ऐसा कह सकूं तो, तर्क-बुद्धिके मस्तकसे ऊपर चढ़ जाना होगा — घृणाके साथ उसे अपने पैरों तले कुचलना नहीं, बल्कि और ऊपर चढ़नेके लिये, उसके परे चले जानेके लिये पादपीठके रूपमें उसका व्यवहार करना होगा, तथा किसी ऐसी चीजको प्राप्त करना होगा जो उसके निर्णयोंकी तनिक भी परवा नहीं करती एवं अयुक्तिसंगत होनेकी क्षमता रखती है, क्योंकि वह अयुक्तिसंगतता एक उच्चतर वस्तु होती है, जिसके साथ एक उच्चतर ज्योति होती है, वह एक ऐसी चीज होती है जो सामान्य ज्ञानसे परे रहती है तथा ऊपरसे, बहुत ऊपरसे, भागवत प्रज्ञासे अन्तःप्रेरणाएं प्राप्त करती है।

बस यही है इसका अर्थ।

यहांपर श्रीअरविन्द जिस ज्ञानकी बात कहते हैं वह साधारण ज्ञान है, वह तादात्म्यद्वारा प्राप्त ज्ञान नहीं है; यह वह चीज है जिसे मनुष्य बुद्धिके द्वारा, चिन्तनके द्वारा, सामान्य पद्धतिके द्वारा प्राप्त करता है।

परन्तु फिर एक बार कह दूं — इसके अलावा बादके सूत्रोंमें हम इस विषयपर फिर वापस आनेका अवसर प्राप्त करेंगे — जल्दबाजीमें यह मान-कर कि तुम तुरत प्रज्ञाके अन्दर प्रविष्ट हो जाओगे, तर्क-बुद्धिको त्याग न दो; क्योंकि, प्रज्ञामें प्रवेश करनेसे पहले तुम्हें तैयारी करनी होगी, नहीं तो, तर्क-बुद्धिको त्यागकर तुम अ-बौद्धिक होनेका महान् संकट उठाओगे जो काफी खतरनाक है।

प्रायः ही अपने लेखोंमें, विशेषकर 'योग-समन्वय'में श्रीअरविन्द कुछ लोगों-की धारणाके विरुद्ध हमें सावधान करते हैं। ये लोग विश्वास करते हैं कि वे अपने ऊपर कोई यथार्थ संयम रखे बिना भी योग-साधना कर सकते हैं। ये सभी प्रकारकी अन्तःप्रेरणाओंको ग्रहण करते हैं और फलतः एक खतरनाक असंतुलनकी स्थितिमें जा पहुंचते हैं जिसमें उनकी सभी दबी, ढकी और गुप्त कामनाओंको इस बहाने खुलकर क्रीड़ा करने दिया जाता है कि वे सामान्य परंपराओं तथा सामान्य तर्क-बुद्धिसे मुक्त हो चुके हैं। मनुष्य केवल ऊंचाइयोंतक ऊपर उठकर ही, मानवीय आवेगोंसे बहुत ऊपर जाकर ही मुक्त हो सकता है। तुम्हें मुक्त होनेका अधिकार केवल तभी प्राप्त होता है जब तुम एक उच्चतर अहंकारशून्य स्वतंत्रताको अधि-कृत कर लेते हो तथा सभी कामनाओं और प्रवेगोंसे छुट्टी पा चुकते हो। लेकिन, जो लोग बहुत बुद्धिवादी हैं और सामान्य सामाजिक नियमोंके अनुसार बहुत नैतिक हैं उन्हें यह कभी विश्वास नहीं करना चाहिये कि वे ज्ञानी हैं, क्योंकि उनका ज्ञान एक भ्रम ही होता है और उसमें कोई गभीर सत्य नहीं होता।

विधि-विधानोंको तोड़नेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये तुम्हें उनसे ऊपर उठ जाना चाहिये, रूढ़ियोंकी उपेक्षा करनेके योग्य बननेके लिये तुम्हें उनसे ऊपर जाना चाहिये, सभी कायदे-कानूनोंकी अवज्ञा करनेकी क्षमता पानेके लिये तुम्हें उनसे ऊपर जाना चाहिये। और इस स्वतंत्रताका उद्देश्य कभी कोई स्वार्थपूर्ण, व्यक्तिगत वस्तु, किसी महत्वाकांक्षाकी तृप्ति या बड़प्पनकी भावना रखकर, अपने दलसे ऊपर उठ जानेके लिये और अनु-ग्रहपूर्वक उसकी ओर दृष्टिनिक्षेप करनेके लिये दूसरोंके प्रति, घृणाभावका पोषण कर, अपने व्यक्तित्वको महत् बनाना नहीं होना चाहिये। जब कभी तुम अपने अन्दर बड़प्पनकी इस भावनाको अनुभव करो और दूसरों-की ओर विद्रूपकी दृष्टिसे, तुच्छ भावके साथ ताको और मनमें यह कहो: "मैं अब उस जातिका नहीं हूं", तब अपने ऊपर विश्वास मत करो; क्योंकि उसी क्षण तुम पथ-भ्रष्ट हो जाते हो और खड्डमें लुढ़क पड़नेका खतरा उठाते हो।

जब तुम वास्तवमें प्रज्ञामें, सच्ची प्रज्ञामें, जिसकी श्रीअरविन्द यहां चर्चा करते हैं, प्रवेश पा जाते हो तब फिर वहां कोई ऊंची या नीची चीज नहीं रह जाती, वहां बस शक्तियोंकी एक क्रीड़ा रह जाती है जिसमें प्रत्येक चीजका अपना स्थान और महत्त्व होता है, और यदि वहां कोई पद-परंपरा होती भी है तो वह परात्पर प्रभुके प्रति आत्म-समर्पणकी ही पद-परंपरा होती है, वह नीचेकी वस्तुके मुकाबले बड़प्पनकी पद-परंपरा नहीं होती।

मनुष्योचित समझ-शक्ति, मानवीय तर्क-बुद्धि, मानुषी ज्ञानके द्वारा तुम इस पद-परंपराको नहीं समझ सकते; एकमात्र जाग्रत् आत्मा ही दूसरी जाग्रत् आत्माको पहचान सकती है, तब बड़प्पनकी भावना पूर्ण रूपसे विलीन हो जाती है।

सच्ची प्रज्ञा तभी प्राप्त होती है जब अहंभाव विलीन हो जाता है और अहंभाव केवल तभी विलीन होता है जब तुम कोई व्यक्तिगत उद्देश्य रखे बिना, किसी लाभकी आशा बिना, परात्पर प्रभुके चरणोंमें अपने-आपको संपूर्णतः समर्पित करनेके लिये तैयार हो जाते हो, जब तुम ऐसा इसलिये करते हो कि तुम अन्यथा कर ही नहीं सकते।

१७-१०-५८

७ — जिसे मनुष्य ज्ञान कहते हैं वह मिथ्या बाह्य रूपोंको युक्तिद्वारा स्वीकार करना है। 'प्रज्ञा' पर्देके पीछेतक दृष्टि दौड़ाती और देखती है। तर्क-बुद्धि ब्योरोंको निश्चित करती और उनका अंतर बतलाती है। तर्क-बुद्धि विभक्त करती है और 'प्रज्ञा' विभेदोंको एक अखंड सामंजस्यके अंदर पिरो देती है।

श्रीअरविन्दने जो चीजें ज्ञान, तर्क-बुद्धि और प्रज्ञाके विषयमें लिखी हैं उनका उद्देश्य है सामान्य चिन्तन-पद्धतिकी लीकसे हमें बाहर निकाल लाना तथा, यदि संभव हो तो, हमें बाह्य रूपोंके पीछे विद्यमान सद्वस्तु-की एक झांकी देना।

साधारणतया, बहुत थोड़े-से विरल अपवादोंको छोड़कर, अधिकतर मनुष्य अपने चारों ओर तथा कभी-कभी अपने अंदर होनेवाली चीजोंको कम या अधिक यथार्थ रूपमें देखकर ही संतुष्ट हो जाते हैं और अपने अवलोकनोंको छिछले न्यायकी किसी-न-किसी पद्धतिके द्वारा श्रेणी-बद्ध कर लेते हैं, और इन्हीं पद्धतियोंको, इसी व्यवस्थापनाको "ज्ञान"के

नामसे पुकारते हैं। उन्हें इस बातका जरा भी ख्याल नहीं होता, उनमें इस बोधका आरंभतक नहीं होता कि जिन चीजोंको वे देखते, वे छूते, वे अनुभव करते और वे स्वीकार करते हैं, वे मिथ्या बाह्य-रूप हैं, स्वयं सद्वस्तु नहीं।

यह एक सामान्य और अटल तर्क है: "परन्तु मैं इसे देखता हूं, मैं इसे छूता हूं, मैं इसे अनुभव करता हूं, इसलिये यह सत्य है।"

परन्तु, इसके विरुद्ध, कहना यह चाहिये: "मैं इसे देखता हूं, मैं इसे छूता हूं, मैं इसे अनुभव करता हूं, इसलिये यह अवश्य ही मिथ्या होगा।" हम दो विपरीत छोरोंपर हैं और हमारे लिये समझनेका कोई उपाय नहीं।

श्रीअरविन्दके लिये सच्चा ज्ञान है ठीक तादात्म्यद्वारा प्राप्त ज्ञान और प्रज्ञा है वह स्थिति जो सच्चा ज्ञान होनेपर प्राप्त होती है। वह यहां कहते हैं: 'प्रज्ञा' मिथ्या बाह्य-रूपोंके पर्देके पीछे देखती है, वह पीछे विद्यमान सद्वस्तुको देखती है। फिर श्रीअरविंद इस बातपर जोर देते हैं कि जब तुम छिछले, बाह्य ज्ञानके द्वारा किसी वस्तुका वर्णन करते हो तो तुम हमेशा उसके विरोधमें किसी दूसरी वस्तुको रखते हो; तुम जो देखते, छूते और अनुभव करते हो उनकी विसमता दिखाकर ही सर्वदा उनकी व्याख्या करते हो — और तब तुम उन्हें बिलकुल नहीं समझते।

बुद्धि सदा वस्तुओंको एक-दूसरीके विपरीत रखती है और तुम्हें चुनाव करनेके लिये बाध्य करती है। जिनके विचार और तर्क सुस्पष्ट होते हैं वे लोग वस्तुओंके बीच विद्यमान समस्त भेदोंको देखते हैं। यह बात विशेष रूपसे देखने लायक है कि तर्क-बुद्धि विभिन्नताके द्वारा ही कार्य करती है। चूंकि तुम इस वस्तु और उस वस्तुमें, इस कार्य और उस कार्यमें, इस विषय और उस विषयमें अंतर देखते हो, इसीलिये निर्णय करते हो और तर्क-बुद्धि अपना कार्य करती है।

ठीक इसी तरह, सच्चा ज्ञान, तादात्म्यद्वारा प्राप्त ज्ञान तथा उसके फल-रूप प्रज्ञा बराबर ही उस बिंदुको देखती है जहां विरोधी प्रतीत होनेवाली सभी वस्तुएं सुसमन्वित, परिपूर्ण बन जाती हैं, और पूर्णतः सुसंहत और सुव्यवस्थित पूर्णांग वस्तुका निर्माण करती हैं। और स्वभावतः, यह बात हमारे दृष्टिकोण, बोध और कर्ममें होनेवाले परिणामोंको संपूर्ण रूपसे बदल देती है।

अत्यंत अनिवार्य और प्रथम पग यह है कि जो कुछ हमसे कहा गया है उसे कम या अधिक यांत्रिक रूपमें, अच्छी तरह समझे बिना न दुहराएं, जैसे, हम कहते हैं कि "बाह्य रूप मिथ्या है", हम ऐसा कहते हैं क्योंकि

श्रीअरविंदने ऐसा कहा है, पर हम इसे समझते नहीं, और इस सबके बावजूद जब कुछ जानना चाहते हैं तो उस चीजकी ओर ताकना, उसका निरीक्षण करना, उसे छूना, चखना और सूंघना आरंभ कर देते हैं, क्योंकि हमें विश्वास नहीं है कि हमें देखने-समझनेका और भी कोई दूसरा साधन प्राप्त है। जब हमें "चेतनाके पलटने" का अनुभव प्राप्त होता है, जब हम इन चीजोंके पीछे चले जाते हैं और इन बाह्य रूपोंकी भ्रांतिको पूर्णतः वास्तविक रूपमें अनुभव करते हैं और जानते हैं, केवल तभी समझना आरंभ करते हैं। परंतु तुम्हें जबतक यह अनुभव नहीं प्राप्त हो जाता तबतक तुम समस्त सूत्रावलीको पढ़ सकते हो, उसे बार-बार दुहरा सकते और कंठस्थ कर सकते हो, और विश्वास करो, फिर भी तुम्हें यथार्थ बोध नहीं प्राप्त होगा, तुम्हारे लिये यह सब सत्य नहीं होगा, और ये सब बाह्य रूप ही तुम्हारे लिये एकमात्र साधन बने रहेंगे जिनकी सहायतासे तुम बाहरी जगत्के साथ अपना संपर्क स्थापित करोगे और यह जान सकोगे कि वह क्या है। और कभी-कभी तो तुम्हारा सारा जीवन ही यह सीखनेमें बीत जाता है कि वस्तुएं अपने बाह्य रूपमें कैसी हैं और यदि तुम उन सब चीजोंको खूब बारीकीसे, पूरे ब्योरेके साथ देखते हो तथा जो कुछ तुम देखते हो या सीखते हो उसे याद रखते हो तो तुम एक बहुत सुशिक्षित, बुद्धिमान् व्यक्ति, ज्ञान-वारिधि समझे जाते हो . . . ।

यदि कोई बहुत अधिक परिश्रम करे तो इन बाह्य रूपोंपर थोड़ी-सी क्रिया कर सकता है, अधिक-से-अधिक, उनमें जरा-सा परिवर्तन ला सकता है — बस, इसी तरह विज्ञान तुम्हें जड़तत्त्वका व्यवहार करना सिखाता है —, पर यह कोई सच्चा परिवर्तन नहीं है और यह कोई सच्ची शक्ति भी नहीं है। और, जब तुम उस स्थितिमें हो, तुम यह पूरा-पूरा विश्वास करते हो कि तुम कुछ नहीं कर सकते, अपना स्वभाव बदलनेके लिये भी कुछ नहीं कर सकते; तुम अनुभव करते हो कि तुम एक प्रकारकी नियतिसे आक्रांत हो जो तुम्हारे लिये बहुत भारी है, तुम यह नहीं जानते कि यह नियति कहांसे या कैसे आयी है: तुम समझते हो कि तुम वैसे ही पैदा हुए हो, उस स्थानमें या उस परिवेशमें, उस स्वभावके साथ पैदा हुए हो, तुम्हें जीवनमें यथाशक्ति अच्छे-से-अच्छे रूपमें चलते जाना होगा, जिन सब चीजोंपर अपना विशेष प्रभाव नहीं उनके साथ समझौता करते हुए तथा अपने स्वभावको बदलनेकी शक्तिके अभावमें स्वभावकी कठिनाइयोंको क्षीण करते हुए आगे बढ़ना होगा। तुम अनुभव करते हो मानों तुम एक जालमें आबद्ध हो गये हो, तुम एक ऐसी चीजके गुलाम

हो गये हो जिसकी तुम अवहेलना करते हो, तुम किन्हीं अज्ञात परिस्थितियों और शक्तिके हाथका खिलौना बन गये हो, एक ऐसी संकल्प-शक्तिके हाथों नाचते हो जिसकी वश्यता तो तुम नहीं स्वीकार करते पर जो तुम्हें बाध्य करती है। अत्यन्त विद्रोही लोग भी गुलाम ही होते हैं, क्योंकि मुक्त होनेका एकमात्र पथ है बस पर्देके पीछे चले जाना और यह देखना कि उसके परे क्या है। जब तुम देख लेते हो तब तुम उसके साथ एक हो सकते हो और जब तुम तादात्म्य स्थापित कर लेते हो तब तुम्हें सच्चे रूपान्तरकी चाभी मिल जाती है।

हम पढ़ते हैं, हम समझनेकी चेष्टा करते हैं, हम व्याख्या करते हैं, हम जाननेकी कोशिश करते हैं, पर सच्चे अनुभवका एक ही क्षण हमें हजारों शब्दों और सैकड़ों व्याख्याओंसे कहीं अधिक सिखा देता है।

अतएव पहला प्रश्न है: "किस तरह अनुभव प्राप्त किया जाय?"

अपने भीतर पैठ जाओ, बस यही है पहला पग।

और एक बार जब तुम इतनी पर्याप्त गहराईमें प्रवेश करनेमें सफल हो चुको कि जो कुछ अंदर विद्यमान है उसके सत्यको अनुभव कर सको तब अपने-आपको फैलाओ, धीरे-धीरे और सुव्यवस्थित रूपमें अपनेको विस्तारित करो और विश्वके समान विशाल बनकर सीमाकी भावनाको खो दो।

तैयारी करनेके लिये ये दो क्रियाएं सबसे पहले आवश्यक हैं।

और इन दोनों कार्योंको यथासंभव अधिक-से-अधिक पूर्ण स्थिरता, शान्ति और निश्चलतामें करना होगा। यह शान्ति, यह निश्चलता मनमें निश्चल-नीरवता उत्पन्न करती है और प्राणके अन्दर अचलता ले आती है।

इस प्रयासको, इस चेष्टाको तुम्हें बहुत नियमित रूपसे और अध्यवसाय-के साथ दुहराते रहना होगा, और कुछ दिनोंके बाद, कम या अधिक दीर्घ-कालके बाद, तुम एक ऐसे सत्यको देखना आरंभ कर दोगे जो तुम्हारी सामान्य बाह्य चेतनामें दिखायी देनेवाले सत्यसे भिन्न होगा।

स्वभावतः, भागवत कृपाके प्रभावके कारण, अकस्मात्, एक आन्तरिक पर्दा फट सकता है और तुम यथार्थ सत्यके अन्दर तुरत प्रवेश कर सकते हो; परन्तु ऐसा जब होता है तब भी, यदि तुम उसका पूरा-पूरा मूल्य-महत्त्व और उसका पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहो तो तुम्हें अपने-आपको भीतरी ग्रहणशीलताकी स्थितिमें बनाये रखना होगा और उसके लिये दिन-प्रति-दिन अन्तरमें पैठना अनिवार्य है।

२४-१०-१९५८

८ -- या तो केवल अपने विश्वासोंको ही ज्ञान नाम मत दो और दूसरोंके विश्वासोंको भूल-भ्रांति, अज्ञान या मिथ्याचार मत कहो या संप्रदायोंके मत-मतांतरों और उनकी असहिष्णुताकी निन्दा मत करो।

संप्रदायोंके कट्टर मत और धर्मोंकी असहिष्णुता उत्पन्न होनेके कारण यह हैं कि संप्रदाय और धर्म केवल अपने ही विश्वासोंको ज्ञान मानते हैं और दूसरोंके विश्वासोंको भूल-भ्रान्ति और अज्ञान अथवा मिथ्याचार समझते हैं।

बस, इसी सामान्य प्रवृत्तिके कारण वे जिसे सत्य समझते हैं उसे एक अटल सिद्धान्तका रूप दे देते हैं और दूसरे लोग जिसे सत्य समझते हैं उसकी भयंकर रूपसे निन्दा करते हैं। यह समझना कि हमारा ही ज्ञान एकमात्र सच्चा ज्ञान है, हमारा ही विश्वास एकमात्र सच्चा विश्वास है और दूसरोंका विश्वास सच्चा, अर्थात्, सत्य नहीं है, ठीक यही कार्य है जिसे सभी संप्रदाय और सभी धर्म करते हैं।

अतएव; तुम यदि ठीक वही करते हो जो सभी संप्रदाय और धर्म करते हैं तो तुम्हें उनकी खिल्ली उड़ानेका कोई अधिकार नहीं है। तुम भी अनजाने वही कार्य कर रहे हो, क्योंकि तुम्हें वही एकदम स्वाभाविक प्रतीत होता है। श्रीअरविन्द ठीक यही बात तुम्हें समझाना चाहते हैं कि जब तुम यह कहते हो: "हमारे पास सत्य है और जो कुछ वह नहीं है वह एक भ्रान्ति है" (चाहे तुम इस बातको उतने भद्दे रूपमें कहनेका साहस न भी करो), तुम एकदम वही चीज करते हो जो सभी धर्म और सभी संप्रदाय करते हैं।

यदि तुम जरा बाह्य वस्तुके रूपमें अपनी ओर ताको तो तुम देखोगे कि जो कुछ तुमने सीखा-पढ़ा या सोचा है, जो कुछ तुमको विशेष रूपसे सत्य और अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत हुआ है उस सबको तुमने सहज-स्वाभाविक ढंगसे, उधर कोई ध्यान दिये बिना ही, ज्ञानका रूप दे दिया है और जब दूसरे लोग कहते हैं: "ना, ना, यह तो ऐसा है, यह वैसा नहीं है", तो तुम उनकी भिन्न धारणाका प्रतिवाद करनेके लिये बिलकुल तैयार रहते हो।

यदि तुम अपनी ओर ध्यानपूर्वक देखो तो तुम इस असहिष्णुताकी बनावटको समझ जाओगे और तुम तुरंत समस्त निरर्थक तर्क-वितर्कको बन्द कर सकते हो। तो, हम फिर उस बातपर वापस आ गये जिसे मैं एक बार पहले कह चुकी हूं: हो सकता है कि वस्तुओंके सत्यके साथ तुम्हें

जो संपर्क प्राप्त हुआ हो, जो तुम्हारा व्यक्तिगत संपर्क हो — कम या अधिक स्पष्ट, कम या अधिक गंभीर, कम या अधिक विशाल और कम या अधिक विशुद्ध संपर्क हो — उसने तुम्हें, विशेष रूपसे तुम्हें, एक रोचक और कभी-कभी एक सुनिश्चित अनुभव प्रदान किया हो, पर इस संपर्कने चूंकि तुम्हें एक महत्त्वपूर्ण, सुनिश्चित अनुभव प्रदान किया है इसी कारण तुम्हें यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि यह कोई विश्वजनीन अनुभव है और वही संपर्क दूसरेको भी वही अनुभव प्रदान करेगा। यदि तुम यह बात समझ जाओ कि यह विशुद्ध रूपमें एक व्यक्तिगत, निजस्व, आत्मनिष्ठ विषय है और यह कोई निरपेक्ष और सर्वमान्य नियम नहीं है, तो फिर तुम दूसरोंके ज्ञानकी उपेक्षा नहीं कर सकोगे, न ही अपने दृष्टिकोण और अपने अनुभवको उनके ऊपर लादनेकी इच्छा करोगे। इस तरह तुम समस्त मानसिक झगड़ोंसे बच जाओगे जो सर्वदा एकदम निरुपयोगी होते हैं।

स्पष्ट ही, पहले वाक्यको एक परामर्शके रूपमें लिया जा सकता है, परन्तु श्रीअरविन्दने इसे उस अर्थमें नहीं लिखा था; यह तो इसलिये लिखा गया था कि तुम्हें इस भूलके विषयमें सचेत कर दिया जाय जिसे तुम स्वयं करते हो और दूसरोंमें उसे देखकर उसकी खिल्ली उड़ाते हो। केवल इसी विशेष विषयमें नहीं, बल्कि सभी विषयोंमें यह लोगोंकी एक आदत है। और यह विशेष रूपसे देखने लायक बात है कि जब तुममें कोई दुर्बलता, उदाहरणार्थ, जब कम या अधिक स्वाभाविक रूपसे तुममें कोई हास्यास्पद चीज, कोई दोष या अपूर्णता होती है, तो तुम उसे बिलकुल स्वाभाविक समझते हो, वह तुम्हें नहीं खटकती, पर ज्यों ही तुम उसी दुर्बलता, उसी अपूर्णता, उसी हास्यजनक चीजको दूसरे व्यक्तिके अन्दर पाते हो तो वह तुम्हें एकदम खटकती है और तुम कहते हो: "यह कैसी बात है! वह इस तरहका है!" परन्तु तुम यह नहीं देखते कि तुम भी "उसी तरहके" हो। और तब, तुम उस दुर्बलता और अपूर्णताके साथ, उसे न देखने-की हास्यास्पद बातको भी जोड़ देते हो।

इससे एक शिक्षा ली जा सकती है: जब कोई बात दूसरे व्यक्तिके अन्दर तुम्हें एकदम अवांछनीय या हास्यास्पद प्रतीत हो — जब तुम सोचो: "यह कैसी बात है! वह तो वैसा है, वह उस तरहका आचरण करता है, वह ऐसी बातें कहता है, वह ऐसा करता है" —, तब तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये: "हां, हां, परन्तु मैं भी शायद बिना जाने वही चीज करता हूं। अच्छा हो कि मैं दूसरे व्यक्तिकी आलोचना करने-से पहले सर्वप्रथम स्वयं अपने अन्दर दृष्टि डालूं ताकि मैं निःसंदिग्ध हो

सकूं कि मैं ठीक वही चीज, महज थोड़े-से अन्तरके साथ, वही चीज नहीं करता।" और, जब-जब तुम्हें दूसरे व्यक्तिका आचरण बुरा लगे तब-तब यदि तुम इसे सामान्य बुद्धि और समझदारीके साथ कर सको तो तुम देखोगे कि जीवनमें दूसरोंके साथका सम्बन्ध मानों एक आईना है जो हमारे सामने इसलिये रखा गया है कि हम अधिक आसानीसे और अधिक सूक्ष्म दृष्टिसे उस दुर्बलताको देख सकें जिसे हम अपने अन्दर वहन करते हैं।

साधारणतः, प्रायः पूर्ण रूपमें, जो चीज तुम्हें दूसरोंके अन्दर बुरी लगती है वह ठीक वही चीज होती है जिसे तुम अपने अन्दर वहन करते हो, वह कम या अधिक पर्देके पीछे, कम या अधिक छिपी हुई, संभवतः थोड़ा-सा भिन्न आकार लिये रहती है जिससे तुम अपने विषयमें भ्रममें रहते हो। जबतक वह तुम्हारे अन्दर है तबतक तो तुम्हें खटकनेवाली नहीं प्रतीत होती, पर ज्यों ही तुम उसे दूसरोंमें देखते हो त्यों ही वह भयानक बन जाती है।

परीक्षण करो, वह तुम्हें स्वयं अपने-आपको बदलनेमें बहुत, बहुत मदद देगा और साथ-ही-साथ, दूसरोंके साथ तुम्हारे सम्बन्धमें तुम्हें एक हंसती हुई सहिष्णुता प्रदान करेगा, वह सदिच्छा प्रदान करेगा जो समझसे उत्पन्न होती है और वह बहुधा एकदम निरर्थक झगड़ोंका अंत कर देगी।

तुम झगड़ा किये बिना जी सकते हो। ऐसा कहना बड़ा विचित्र-सा लगता है, क्योंकि, वस्तुएं अभी जैसी हैं, उनके कारण, इसके विपरीत, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जीवन संघर्ष करनेके लिये ही बना है, इस अर्थमें कि एक साथ रहनेवाले लोगोंका मुख्य कार्य होता है, खुले तौरपर या गुप्त रूपसे झगड़ा करना। तुम हमेशा शब्दोंतक नहीं आते, न (सौभाग्यवश) प्रहारतक उतरते हो, पर तुम्हारे भीतर निरन्तर उत्तेजनाकी स्थिति बनी रहती है क्योंकि तुम अपने चारों ओर उस पूर्णताको नहीं पाते जिसे तुम स्वयं उपलब्ध करना पसन्द करते हो — किन्तु जिसे उपलब्ध करना कठिन अनुभव करते हो — पर तुम इसे एकदम स्वाभाविक समझते हो कि दूसरोंको उसे उपलब्ध कर लेना चाहिये।

"यह कैसी बात है कि वे लोग ऐसे हैं?" ... लोग उन कठिनाइयोंको भूल जाते हैं जिन्हें वे "वैसा" न बननेमें स्वयं अपने अन्दर अनुभव करते हैं।

बस, चेष्टा करो और तुम देखोगे!

प्रत्येक वस्तुकी ओर सद्भावनाभरी मुस्कानके साथ ताको, जो चीजें तुम्हें उत्तेजित, नाराज करती हैं उन्हें अपने लिये एक प्रकारकी शिक्षाके

रूपमें ग्रहण करो और तब तुम बहुत अधिक शान्तिके साथ और बहुत अधिक प्रभावशाली रूपमें जीवन यापन करोगे, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य जिस पूर्णताको स्वयं उपलब्ध करना चाहता है उसे दूसरों-में न पानेके कारण होनेवाली नाराजगी और उत्तेजनामें अपनी शक्तिका अधिकांश भाग व्यर्थ नष्ट कर देता है।

दूसरोंको जो पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये वहां आकर तुम रुक जाते हो, और तुम बहुधा उस लक्ष्यके विषयमें सचेतन नहीं होते जिसका अनुसरण स्वयं तुम्हें करना चाहिये। अगर तुम उसके विषयमें सचेतन हो तो जो काम तुम्हें दिया गया है उसीसे आरंभ कर दो, अर्थात्, जो कुछ तुम्हें करना है उसे आरंभ कर दो, दूसरे जो कुछ करते हैं उसमें व्यस्त हुए बिना, तुम्हें जो कुछ करना है उसे करो, क्योंकि, आखिरकार, दूसरे जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं। और सच्चा मनोभाव ग्रहण करने-का सबसे उत्तम उपाय है महज अपने-आपसे यह कहना: "मेरे इर्द-गिर्द जो भी हैं, मेरे जीवनकी सारी परिस्थितियां, मेरे समीप जो हैं वे सभी वह आरसी हैं जिसे दिव्य चेतनाने मेरे सम्मुख मुझे यह दिखानेके लिये रखा है कि मुझे कौन-कौन-सी प्रगति करनी चाहिये। जो कुछ मुझे दूसरोंके अन्दर खटकता है वह वही कार्य है जिसे मुझे स्वयं अपने अन्दर करना है।"

और संभवतः कोई व्यक्ति यदि स्वयं अपने अन्दर कोई सच्ची पूर्णता वहन करे तो वह अक्सर उसे दूसरोंमें भी देखेगा।

७-११-५८

९ — अंतरात्मा जो कुछ देखती और अनुभव करती है उसे वह जानती है, बाकी सब कुछ आभास, पूर्वसंस्कार और धारणा हैं।

इसका मतलब है कि जो भी ज्ञान अन्तरात्माकी दृष्टि या अनुभवका परि-णाम नहीं होता उसका कोई यथार्थ मूल्य नहीं होता।

परन्तु तुरत यह प्रश्न उठता है (यह मुझसे पहले भी पूछा गया था): "भला मनुष्य कैसे जान सकता है कि अन्तरात्मा क्या देखती है?"

स्पष्ट ही, इसका केवल एक ही समाधान है, अपनी अन्तरात्माके विषय-में सचेतन होना; और यह बात इस सूत्रको पूरा कर देती है: जबतक तुम अपनी अंतरात्माके विषयमें सचेतन नहीं हो जाते तुम सच्चा ज्ञान

नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव, तुम्हारा पहला प्रयास होना चाहिये अपने अन्दर विद्यमान अपनी अन्तरात्माको ढूंढ़ निकालना, उसके साथ युक्त होना और अपने जीवनको उसीके शासनमें छोड़ देना।

कुछ लोग पूछते हैं: "भला कोई यह कैसे जान सकता है कि यही अन्तरात्मा है?" मैं इस प्रश्नका उत्तर पहले कई बार दे चुकी हूं। जो लोग यह बात पूछते हैं उनका यह प्रश्न ही यह साबित करता है कि वे अपनी अन्तरात्माके विषयमें सचेतन नहीं हैं, क्योंकि जिस क्षण तुम अपनी अन्तरात्माके विषयमें सज्ञान हो जाते हो और उसके साथ एक हो जाते हो, उसी क्षण तुम उसे निश्चित रूपसे जान भी जाते हो और यह नहीं पूछते कि इसे कैसे जाना जाय। और वह अनुभव एक ऐसी चीज नहीं है जिसका अनुकरण किया जा सके या जिसकी कल्पना की जा सके, तुम यह झूठा दिखावा नहीं कर सकते कि तुम अपनी अन्तरात्माके संपर्कमें आ गये हो — यह एक ऐसी चीज है जिसका तुम आविष्कार या अनुकरण नहीं कर सकते। जब अन्तरात्मा जीवनपर शासन करने लगती है तब तुम उसे पूर्ण रूपसे जान जाते हो और उसके विषयमें प्रश्न नहीं करते।

परन्तु जिस सूत्रको हमने पढ़ा है उसकी उपयोगिता यह है कि वह तुम्हें बतलाता है कि जो कुछ तुम विश्वास करते हो कि तुम जानते हो, जो कुछ तुमने सीखा-पढ़ा है या जो कुछ व्यक्तिगत निरीक्षण, व्यक्तिगत अनुमान, तुलना आदिके द्वारा तुम्हारे जीवन-पथमें तुम्हारे सामने उपस्थित हुआ है, वह अत्यन्त आपेक्षिक ज्ञान है जिसे तुम जीवनके स्थायी और यथार्थतः उपयोगी सिद्धान्तका आधार नहीं बना सकते।

क्या हमने कितनी ही बार यह बात नहीं दुहरायी कि जो कुछ मनसे आता है वह बिलकुल आपेक्षिक होता है, मन जितना ही अधिक सुशिक्षित होता है, जितना ही अधिक किसी अनुशासनके अधीन रहता है उतना ही अधिक यह साबित करनेमें समर्थ होता है कि जो कुछ वह प्रस्तुत करता या कहता है वह सत्य है? युक्ति-तर्कके द्वारा हम प्रत्येक वस्तुके सत्यको साबित कर सकते हैं, पर किसी हालतमें इसका मतलब यह नहीं होता कि वह सत्य ही है। वह बराबर ही मत, पूर्वसंस्कार, बाह्य रूपपर आधारित ज्ञान बना रह जाता है जो स्वयं संदिग्धसे भी कुछ बढ़कर होता है।

अतएव, ऐसा लगता है कि निकलनेका बस एक ही रास्ता है: अपनी अन्तरात्माको ढूंढ़ना और उसे प्राप्त करना। वह हमारे अन्दर विद्यमान है, वह जान-बूझकर छिपी हुई नहीं है, वह तुम्हारे साथ इसलिये नहीं खेल रही कि तुम कठिनाइयोंमें जा गिरो। इसके विपरीत, वह बहुत प्रयास करती है ताकि तुम उसे प्राप्त कर लो, उसकी वाणी सुनो; बस,

उसके और तुम्हारी सक्रिय चेतनाके बीच दो व्यक्ति हैं, प्राण और मन, जिनको बहुत अधिक शोरगुल मचानेकी आदत है। और, चूंकि वे बहुत शोर मचाते हैं और अंतरात्मा वैसा नहीं करती या यथासंभव कम शोर मचाती है, इसलिये उनका शोर अन्तरात्माकी वाणी सुननेमें बाधा देता है।

जब तुम यह जानना चाहो कि तुम्हारी अन्तरात्मा क्या जानती है तो तुम एक आन्तरिक प्रयास कर सकते हो; निस्सन्देह, सतर्क होना जरूरी है, और यदि तुम सतर्क होओ तो तुम मन और प्राणके इस नितान्त बाह्य कोलाहलके पीछे विद्यमान किसी अत्यन्त सूक्ष्म, बहुत स्थिर और बहुत शान्तिपूर्ण चीजको पहचान सकते हो जो जानती है और बतलाती है कि वह क्या जानती है। परन्तु दूसरों (अर्थात् मन और प्राण) का आग्रह इतना अधिक प्रबल होता है और वह चीज (अन्तरात्मा) स्वयं इतनी शान्त-स्थिर होती है कि तुम आसानीसे भूल कर बैठते हो; तुम आवाज उसकी सुनते हो जो सबसे अधिक शोर मचाता है और अधिकांश समय तुम यह नहीं देखते कि वास्तवमें उससे भिन्न दूसरी चीज ही सच कह रही थी। वह चीज तुमपर लादती नहीं, सुननेके लिये तुम्हें बाध्य नहीं करती, क्योंकि वह जोर-जबरदस्ती करना जानती ही नहीं।

जब तुम हिचकिचाते हो, जब तुम अपने-आपसे यह प्रश्न करते हो कि अमुक प्रकारकी या उनसे भिन्न परिस्थितियोंमें तुम्हें क्या करना है तब तुम्हारे अंदर एक कामना होती है, तत्काल एक मानसिक और प्राणिक पसंद घुस आती है जो धक्का देती है, डटी रहती है, हठ करती है और अपने-आपको थोपती है, और संसारकी सर्वोत्तम युक्तियोंके साथ तर्क-वितर्क करना आरंभ कर देती है, और यदि तुम खूब सजग न होओ, यदि तुमने प्रबल अनुशासनका अभ्यास न किया हो, यदि तुम्हें अपने ऊपर लगाम लगानेका अभ्यास न हो तो, वह अंतमें तुम्हें यह विश्वास करा देती है कि वह जो कह रही है वही सत्य है, और, जैसा कि मैंने अभी बताया है, वह इतना हो-हल्ला मचाती है कि तुम अपनी अंतरात्माकी शांत, क्षीण आवाजको, नीरव, सूक्ष्म सुझावको सुन भी नहीं पाते जो कहती है: "इसे मत करो।"

"इसे मत करो"—यह वाणी प्रायः ही आती है और तुम उसे एक ओर फेंक देते हो मानों वह कोई निर्बल वस्तु हो और तुम अपने आवेगकी भवितव्यताका अनुसरण करते हो। परंतु, सत्यको प्राप्त करने और उसे जीवनमें उतारनेका तुम्हारा संकल्प यदि, वास्तवमें, सच्चा हो तो तुम्हें अधिक-से-अधिक अच्छी तरह इसे सुनना सीखना होगा, तुम्हें अधिक-से-अधिक अच्छी

तरह विवेक करना सीखना होगा, और यदि इसके लिये तुम्हें कुछ प्रयास भी करना पड़े, यदि इससे तुम्हें कुछ दुःख-कष्ट भी हो, तो भी, तुम्हें इसके अनुसार काम करना सीखना होगा। और यदि तुम केवल एक बार भी उसका कहना मान लो तो वह एक सबल सहायक बन जायगी, तुम अपने पथपर काफी अग्रसर हो जाओगे और समझने लगोगे कि अंतरात्मा क्या चीज है और क्या नहीं है तथा इस विवेक और आवश्यक सच्चाईके सहारे अपने लक्ष्यपर पहुंचना तुम्हारे लिये सुनिश्चित हो जायगा।

परंतु तुम्हें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये, तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिये, तुम्हें बहुत लगनके साथ कार्य करते रहना चाहिये। क्योंकि एक बार ठीक करनेके लिये तुम दस बार भूल करते हो; परंतु तुम जब कोई भूल कर बैठो तो तुम्हें अपना सब कुछ छोड़ नहीं देना चाहिये और निराश नहीं होना चाहिये, तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये कि भगवत्कृपा कभी मेरा साथ नहीं छोड़ती और अगली बार मैं इससे अच्छा करूंगा।

अतएव, अंतमें, हम कहेंगे कि चीजोंको जैसी वे हैं उसी रूपमें जाननेके लिये तुम्हें सर्वप्रथम अपनी अंतरात्माके साथ युक्त होना चाहिये और यह कि अपनी अंतरात्माके साथ युक्त होनेके लिये तुम्हें बार-बार और लगनके साथ उसकी इच्छा करनी चाहिये।

अपने लक्ष्यपर एकाग्र होनेकी तुम्हारी क्षमता जितनी अधिक होगी तुम्हारा रास्ता भी उतना ही कम लंबा होगा।

१४-११-५८

१० — मेरी अंतरात्मा जानती है कि वह अमर है; परंतु तुम एक मृत शरीरके टुकड़े-टुकड़े करते हो और विजयके मदमें चिल्ला उठते हो: "कहां है तुम्हारी अंतरात्मा और कहां है तुम्हारा अमरत्व?"

यह बात बहुत बार दुहरायी जा चुकी है — पर कुछ अपवादोंको छोड़कर बहुत थोड़े-से लोगोंने यह समझा है — कि केवल सजातीय ही सजातीयको जान सकता है। यदि यह बात समझमें आ जाय तो अज्ञानका अधिकांश भाग विलीन हो जायगा।

एकमात्र अंतरात्मा ही अंतरात्माको जान सकती है और सत्ताके प्रत्येक स्तरपर, एकमात्र समतुल्य वस्तु ही समतुल्य वस्तुको पहचान सकती है। एकमात्र भगवान् ही भगवान्को जान सकते हैं और, चूंकि हम अपने अंदर

भगवान्‌को वहन करते हैं, इसीलिये हम उन्हें देखने और पहचाननेमें समर्थ होते हैं। परंतु हम यदि अपनी इंद्रियों और बाह्य प्रक्रियाओंके द्वारा आंतरिक जीवनकी किसी बातको समझनेकी चेष्टा करें तो इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारा प्रयास पूर्ण असफलता और संपूर्ण भूल-भ्रांतिमें समाप्त होगा।

अतएव, यदि तुम यह सोचो कि तुम विशुद्धतः भौतिक चेतनामें रहते हुए प्रकृतिके रहस्योंको जान सकते हो तो तुम एकदम भूल कर रहे हो। और किसी वस्तुके सत्यको स्वीकार करनेसे पहले ठोस और भौतिक प्रमाण मांगनेकी यह आदत अज्ञानके अत्यंत स्पष्ट परिणामोंमेंसे एक है। इस मनोभावके कारण वज्रमूर्ख व्यक्ति भी यह समझता है कि वह उच्चतम वस्तुओंपर भी अपनी राय दे सकता है तथा गंभीरतम अनुभवोंको गलत साबित कर चुका है।

निश्चय ही मरे हुए शरीरके टुकड़े-टुकड़े करके तुम अंतरात्माको नहीं पा सकते क्योंकि अंतरात्मा तो उससे बाहर चली गयी है। यदि अंतरात्मा उसमेंसे बाहर न चली गयी होती तो शरीर मृत न हुआ होता। श्रीअरविन्दने इस दावेकी मूर्खताकी ओर अंगुली-निर्देश करनेके लिये यह सूत्र लिखा था।

यह बात आलोचक मानव मनके सभी निर्णयोंके विषयमें लागू होती है और विज्ञानकी सभी पद्धतियोंपर तब लागू होती है जब वे विशुद्ध भौतिक वस्तुओंसे भिन्न वस्तुओंके विषयमें अपना फतवा देना चाहती हैं।

निष्कर्ष बराबर एक ही निकलता है: एकमात्र सच्चा मनोभाव है विनम्रताका भाव, मनुष्य जो कुछ नहीं जानता उसके सामने नीरव आदरका भाव और अपने अज्ञानसे बाहर निकल आनेके लिये एक आंतरिक अभीप्साका भाव। कई चीजोंमेंसे एक यह भी है जो प्रगति करनेमें मनुष्यजातिकी सबसे अधिक सहायता करती है: जिसे वह नहीं जानती उसका आदर करना, स्वयं अपने-आप यह स्वीकार करना कि वह नहीं जानती और इसलिये वह कोई निर्णय नहीं दे सकती। परंतु सर्वदा इसके विपरीत ही किया जाता है। जिन चीजोंके बारेमें तुम जरा भी नहीं जानते उन्हींके विषयमें तुम अपना निश्चित निर्णय घोषित करते हो, तुम अधिकारके साथ कहते हो: "यह संभव है और यह असंभव है", जब कि तुम यह भी नहीं जानते कि किस विषयकी चर्चा हो रही है। तुम एक बड़प्पनका जामा पहन लेते हो, क्योंकि तुम उन बातोंपर संदेह करते हो जिन्हें तुमने कभी नहीं जाना।

लोगोंका विश्वास है कि संदेह करना श्रेष्ठताका एक चिह्न है, परंतु, वास्तवमें, वह निकृष्टताका एक चिह्न है।

संशयवाद और संदेह प्रगतिकी सबसे बड़ी बाधाओंमेंसे दो हैं। वे अज्ञानके साथ उद्धतताको जोड़ देते हैं।

२१-११-५८

११ — अमरत्वका अर्थ मृत्युके बाद मनोमय व्यक्तित्वका बने रहना नहीं है यद्यपि वह भी सत्य है, बल्कि उसका अर्थ है उस अजन्मी और मृत्युहीन आत्माको ज्ञानपूर्वक प्राप्त करना जिसका शरीर केवल एक यंत्र और एक छाया है।

यहांपर तीन बातें कही गयी हैं जिनके विषयमें प्रश्न पूछे गये हैं। पहला प्रश्न है: "मनोमय व्यक्तित्व क्या चीज है?"

प्रत्येक मनुष्यमें प्राण-सता शरीरको सजीव बनाती है और पूरे या आंशिक रूपसे मनोमय पुरुष उसपर शासन करता है। यह एक साधारण नियम है, परंतु प्रत्येक व्यक्तिमें मनोमय सत्ता गठन और व्यक्ति-भावकी दृष्टिसे अलग-अलग मात्रामें प्राप्त होती है। अधिकतर मनुष्योंमें मन एक प्रकारका तरल पदार्थ होता है और जिसका अपना कोई संगठन नहीं होता, अतः उसका कोई व्यक्तित्व भी नहीं होता। और जबतक मन वैसा, अर्थात् तरल, असंगठित, अपने निजी संहत जीवनसे रहित और व्यक्तित्वहीन होता है, तबतक मृत्युके बाद कोई अस्तित्व नहीं रखता। जब शरीर, शरीरका उपादान विश्वव्यापी भौतिक उपादानमें विलीन हो जाता है तब मन-सत्ताको गठित करनेवाला उपादान भी मनोमय लोकमें जाकर विलीन हो जाता है।

परंतु जब मनोमय सत्ता गठित, सुव्यवस्थित, व्यष्टिभावापन्न हो जाती है और एक व्यक्तित्वका रूप ले लेती है तब वह निर्भर नहीं करती, अपने अस्तित्वके लिये शरीरपर बिलकुल निर्भर नहीं करती और इसलिये शरीरकी मृत्युके बाद भी बनी रहती है। पृथ्वीका मनोमय वातावरण सत्ताओंसे, मनोमय व्यक्तित्वोंसे भरा रहता है जो शरीरके विलीन हो जानेके बाद भी बिलकुल स्वतंत्र रूपसे जीवित रहते हैं और जब अंतरात्मा, अर्थात्, सच्चा 'स्व' पुनः जन्म लेता है तब वे भी नये शरीरमें पुनः जन्म ले सकते हैं; क्योंकि अंतरात्मा अपने विगत जन्मोंकी स्मृति अपने साथ वहन करती है।

परंतु यह वह चीज नहीं है जिसे श्रीअरविन्द 'अमरत्व' कहते हैं। 'अमरत्व' तो वह जीवन है जिसका न तो आदि है और न अंत, जो न तो उत्पन्न होता है, और न मरता है, जो पूर्ण रूपसे शरीरसे स्वतंत्र होता है —

वह सच्चे स्वका जीवन है, प्रत्येक व्यक्तिकी मूल सत्ता है और वह सच्चा स्व विश्वात्मासे पृथक् नहीं है। और इस मूल सत्ताको विश्वात्माके साथ उपलब्ध एकत्वका बोध प्राप्त है; वास्तवमें, वह सत्ता विश्वात्माकी ही एक साकार, व्यष्टिभावापन्न अभिव्यक्ति है और उसका न तो आदि होता है और न अंत, न जीवन है न मृत्यु, वह शाश्वत रूपमें विद्यमान है और वही अमर है। जब हम इस सच्चे 'स्व'के विषयमें पूर्णतः सचेतन हो जाते हैं तब हम उसके शाश्वत जीवनमें हिस्सा बंटाते हैं और इसलिये हम भी अमर हो जाते हैं।

परंतु साधारणतया लोगोंमें इस "अमरत्व" शब्दके विषयमें कुछ भ्रांति है — यह कोई नयी बात नहीं है, ऐसा अक्सर लोग किया करते हैं। जब कोई अमरत्वकी चर्चा करता है तो अधिकतर लोग यह समझते हैं कि यहां शरीरको ही अनंत कालतक बनाये रखनेकी बात कही जा रही है।

परंतु शरीर तबतक अनंत कालतक नहीं बना रह सकता जबतक कि, सबसे पहले, वह इस अमर 'स्व'के विषयमें पूर्ण सचेतन न हो जाय और इसके साथ युक्त न हो जाय, इसके साथ इस हदतक एकाकार न हो जाय कि इसमें भी सतत रूपांतरित होते रहनेकी वही क्षमता, वही शक्ति न आ जाय जिससे उसे विश्वव्यापी गतिका अनुसरण करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो, स्थायित्व प्राप्त करनेकी यह पूर्णतः अनिवार्य शर्त है। चूंकि शरीर स्थिर होता है, चूंकि वह विश्व-गतिका अनुसरण नहीं करता, चूंकि वह विश्वके विकासके साथ सतत एकात्मता प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त तीव्रताके साथ परिवर्तित होनेमें असमर्थ होता है, इसीलिये वह विकार और मृत्युको प्राप्त होता है। उसकी यह स्थिरता, कठोरता, परिवर्तित होनेकी असमर्थता ही उसे विनाशको प्राप्त होनेके लिये बाध्य करती है जिसमें उसका उपादान भौतिक उपादानके सामान्य भांडारमें वापस आ जाय और फिरसे नये रूप बनाये तथा प्रगति करनेमें समर्थ हो। परंतु सामान्यतया, जब लोग अमरत्वकी बात करते हैं तब वे समझते हैं कि इसका अर्थ ही है शरीरका अमरत्व; यह जानी हुई बात है कि ऐसी चीज अभीतक संसिद्ध नहीं हुई है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह संभव है और यह भी कहते हैं कि यह प्राप्त होगा, वह इसके लिये एक शर्त रखते हैं : वह यह है कि शरीरको अतिमानसभावापन्न हो जाना होगा और इसे अतिमानसिक सत्ताके गुणोंमें हिस्सा बंटाना होगा और वे हैं नमनीयता और सतत रूपान्तरित होनेके गुण। और जब श्रीअरविन्द यह लिखते हैं कि शरीर केवल एक "यंत्र और छाया" है तब वह उस शरीरकी बात करते हैं जो हमें अभी प्राप्त है और जो संभवतः बहुत दीर्घकालतक ऐसा ही बना रहेगा। यह सच्चे

स्वका केवल एक यंत्र है, सच्चे स्वकी एक बहुत ही अपूर्ण अभिव्यक्ति और एक छाया है — एक छाया है, अर्थात्, शाश्वत सच्चे 'स्व'की ज्योति और सुस्पष्टताके मुकाबले एक अस्पष्ट और धूमिल पदार्थ है।

हमारे मनमें यह बात जाननेका आग्रह कम नहीं होता कि भला यह छाया, यह यंत्र जीवके विकासमें कैसे सहायता कर सकता है और इस यंत्रको विकसित करनेमें हमें भावी जीवनोंमें कैसे सहायता मिल सकती है।

प्रत्येक बार जब कोई जीव नये शरीरमें आता है तो इस उद्देश्यसे आता है कि एक ऐसा नया अनुभव प्राप्त करे जो उसके विकासमें सहायक हो तथा उसके व्यक्तित्वको अधिक पूर्ण बनाये। इसी तरीकेसे जीवन-पर-जीवन बिताते हुए चैत्य पुरुष अपनेको गढ़ता और एक ऐसा पूर्ण स्वतंत्र और सचेतन व्यक्तित्व बन जाता है जो अपने विकासके शिखरपर पहुंचकर, केवल नये जन्मके समयका ही नहीं, वरन् उसके स्थान, लक्ष्य और करणीय कार्यका भी चुनाव कर सकता है।

भौतिक शरीरमें उसका अवतरित होना निश्चित रूपसे अंधकार, अज्ञान और अचेतनतामें ही अवतरण है, और जिस अनुभवको लेनेके लिये वह आता है उसके लिये शरीरको उपयोगी बनानेसे पहले शरीरके जड़तत्त्वमें महज जरा-सी चेतना ले आनेके लिये उसे अति दीर्घ कालतक कार्य करना पड़ता है। इस तरह, यदि हम युक्तिसंगत और अतींद्रियकी पद्धतिके सहारे शरीरकी साधना करें तो हम उसके साथ-ही-साथ अपनी अन्तरात्माकी वृद्धि, उसकी प्रगति और ज्योति-प्राप्तिमें भी सहायता पहुंचाते हैं।

शारीरिक व्यायाम करनेका अर्थ है शरीरके कोषोंमें चेतना भरना। तुम इसे जानो या न जानो, पर यह एक वास्तविक तथ्य है। जब हम अपनी मांसपेशीको अपनी इच्छाके अनुसार चलानेके लिये एकाग्र होते हैं, जब हम अपने अंगोंको मुलायम बनाने, उनमें स्फूर्ति या शक्ति या प्रतिरोध या नमनीयता, जो कि स्वाभाविक रूपमें उनमें नहीं होती, ले आनेका प्रयास करते हैं, तब हम शरीरके कोषोंमें एक चेतना संचारित कर देते हैं जो वहां पहले नहीं थी और इस तरह शरीरको एक ऐसा यंत्र बना देते हैं जो सर्वत्र एक जैसा और ग्रहणशील होता है, जो अपनी क्रियामें तथा अपनी क्रियाके द्वारा प्रगति करता है। शारीरिक विकासका यही असली महत्त्व है। स्वभावतः एकमात्र यही चीज शरीरमें चेतना नहीं ले आती, परन्तु यह एक ऐसी चीज है जो एकदम व्यापक रूपमें कार्य करती है पर है विरल। मैं पहले कई बार तुमसे कह चुकी हूं कि कलाकार अपने हाथोंमें बहुत बड़ी मात्रामें चेतनाको संचारित करता है, बुद्धि-

प्रधान व्यक्ति अपने मस्तिष्कमें भरता है, पर यह एक ऐसी क्रिया है जिसे हम स्थानीय कह सकते हैं जब कि शारीरिक व्यायामकी क्रिया अधिक व्यापक होती है। और जब तुम इस व्यायामका पूर्णतः अद्भुत परिणाम देखते हो, जब तुम देखते हो कि किस हदतक शरीर पूर्ण बनाया जा सकता है तब तुम समझते हो कि वह किस हदतक जड़तत्त्वमें अवतरित चैत्य पुरुषके कार्यके लिये सहायक हो सकता है। क्योंकि जब चैत्य पुरुषके हाथमें एक ऐसा यंत्र होगा जो सुसंगठित, सुसमंजस और शक्ति, नमनीयता तथा संभावनाओंसे पूर्ण हो तो, स्वभावतः ही उससे उसके कार्यमें यथेष्ट सुविधा होगी।

मैं यह नहीं कहती कि जो लोग शरीर-साधना कर रहे हैं वे इस लक्ष्यको अपने सामने रखते हैं, क्योंकि बहुत कम लोग ही यह जानते हैं कि उसका यह परिणाम होता है, पर चाहे वे इसे जानें या न जानें, परिणाम तो होता ही है। इसके अलावा, यदि तुम थोड़े-से संवेदनशील होओ, जब तुम एक ऐसे आदमीके शरीरकी क्रियाओंको देखो जिसने कोई युक्तिसंगत और विधिबद्ध शारीरिक शिक्षा पायी हो तो तुम उसमें एक ज्योति एक चेतना, एक जीवनी-शक्ति देखोगे जो दूसरोंके अन्दर नहीं होती।

ऐसे बहुत-से लोग हैं जो चीजोंको एकदम बाह्य दृष्टिसे देखते हैं और कहते हैं: "उदाहरणार्थ, जो कुली-मजूर कठिन कार्य करनेके लिये विवश होते हैं, जो आवश्यकतावश और अपनी रोजीके लिये, भारी बोझ ढोना सीखते हैं, वे भी अपनी मांसपेशीको विकसित करते हैं और संभ्रान्त लोगोंकी तरह व्यायाम करनेमें, जिसका कोई उपयोगी बाह्य परिणाम नहीं निकलता, अपना समय नष्ट करनेके बदले कम-से-कम कुछ उत्पादन तो करते हैं" ... यह महज एक अज्ञान है, क्योंकि एक विशेष स्थानिक और सीमित व्यवहारके द्वारा मांसपेशी विकसित करने तथा किसी अंगको बिना कार्य या व्यायामके छोड़े बिना, एक सर्वांगपूर्ण कार्यक्रमद्वारा जान-बूझकर और सुसमंजस रूपमें मांसपेशीको विकसित करनेमें एक तात्विक भेद है।

मजूरों और किसानोंकी तरह जो लोग कोई विशेष कार्य करते हैं और विशेष रूपसे कुछ मांसपेशियोंको विकसित करते हैं, उनमें बराबर ही एक प्रकारकी व्यावसायिक विकृति देखी जाती है और उनका विकास किसी रूपमें उनके चैत्य पुरुषकी प्रगतिमें सहायता नहीं पहुंचाता। क्योंकि जीवन अपने संपूर्ण रूपमें यद्यपि चैत्य प्रगतिमें निश्चित रूपसे सहायता पहुंचाता है तो भी वह इतने अचेतन और इतने धीमे रूपमें पहुंचाता है कि बेचारे चैत्य पुरुषको अपने लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये बार-बार और अनेक बार तथा अनिश्चित कालतक वापस आते रहना पड़ता है। अतएव, मूल

करनेका खतरा बिना उठाये हम कह सकते हैं कि शारीरिक व्यायाम शरीरकी साधना है और सभी साधनाएं निश्चित रूपसे मनुष्यको अपने लक्ष्यतक पहुंचानेमें सहायता करती हैं। मनुष्य उसे जितना अधिक स-चेतन रूपसे करता है उतना ही अधिक शीघ्र और उतना ही अधिक व्यापक परिणाम प्राप्त होता है; पर कोई यदि अपनी अंगुली या पैर या नाकसे अधिक दूरतक देखे बिना भी व्यायाम करे तो भी वह सर्वांगपूर्ण उन्नतिमें सहायक होता है।

अन्तमें, हम कह सकते हैं कि चाहे किसी भी साधनाका अनुसरण नियमित रूपसे, सच्चाईके साथ तथा स्वेच्छासे किया जाय तो वह बहुत अधिक सहायक होती है, क्योंकि वह पार्थिव जीवनको अधिक तेजीसे उसके लक्ष्यतक ले जाती है और उसे नवीन जीवनको ग्रहण करनेके लिये तैयार करती है। अपने-आपको अनुशासनके अधीन रखनेका मतलब है इस नवीन जीवनको शीघ्र आने देना और अतिमानसिक सत्यके साथ शीघ्र संपर्क स्थापित करना।

भौतिक शरीर, अपनी वर्तमान अवस्थामें, सच्चे स्वके शाश्वत जीवनकी एक छाया, एक बहुत विकृत छाया मात्र है; परन्तु यह भौतिक शरीर एक क्रमोन्नत विकासको प्राप्त हो सकता है; प्रत्येक व्यष्टिगत रूपायनके द्वारा भौतिक उपादान प्रगति करता है और एक दिन वह इस योग्य हो जायगा कि अभी हम भौतिक जीवनको जैसा जानते हैं, उसके तथा जो अतिमानसिक जीवन भविष्यमें अभिव्यक्त होगा, उसके बीच एक पुल तैयार कर दे।

२८-११-५८

१२ — उन्होंने अकाट्य तर्कोंके द्वारा मेरे सामने सिद्ध कर दिया कि भगवान्‌का अस्तित्व नहीं है और मैंने उनपर विश्वास भी कर लिया। पीछे मैंने भगवान्‌को देखा, क्योंकि वे आये और उन्होंने मेरा आलिंगन किया।

अब भला मैं किसपर विश्वास करूं, दूसरोंके तर्कोंपर या अपने निजी अनुभवपर?

यह कोई प्रश्न नहीं जिसे श्रीअरविन्दने पूछा है, बल्कि यह तो एक व्यंग्यात्मक प्रहार है। इसका उद्देश्य है मनकी तर्क-शक्तिकी मूर्खताको स्पष्ट रूपमें दिखा देना जो यह समझती है कि वह उन चीजोंके विषयमें

भी बातें कर सकती है जिन्हें वह नहीं जानती। बस, इससे भिन्न और यह कुछ नहीं है।

तुम मनके द्वारा कुछ भी सिद्ध कर सकते हो। यदि तुम्हें यह मालूम हो कि मनका कैसे उपयोग किया जाता है और युक्ति-तर्क करने और अनुमान करनेका ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो तो तुम प्रत्येक चीजको साबित कर सकते हो। इसके अलावा, यह एक अभ्यास है जो उच्चतर विद्यालयोंमें मनको नमनीय बनानेके लिये दिया जाता है: तुम्हारे सामने किसी विषयका पूर्वपक्ष सिद्ध कर दिया जाता है और उसके बाद तुरत उसका उत्तरपक्ष, उतने ही दृढ़ प्रत्ययके साथ, तुम्हें सिद्ध करना पड़ता है और यह सब इस आशाके साथ किया जाता है कि यदि तुम थोड़ा और ऊपर उठो तो तुम दोनोंका समन्वय प्राप्त कर लोगे।

अतएव, जिस क्षण यह स्वीकार कर लिया जाता है कि प्रत्येक चीज साबित की जा सकती है तब इसका मतलब है कि युक्ति-तर्क हमें कहीं नहीं पहुंचाते; क्योंकि तुम यदि एक चीजको सिद्ध करो और उसके बाद तुरत ही उससे विरुद्ध चीजको भी सिद्ध कर सको तो यह इस बातका प्रमाण है कि तुम्हारे प्रमाणोंका कोई मूल्य नहीं।

अनुभव नामकी एक वस्तु भी है। एक सरल हृदयके लिये, एक सच्ची और सीधी प्रकृतिके लिये, एक ऐसी प्रकृतिके लिये जो यह जानती है कि उसका अनुभव सच्चा है, कि वह किसी कामना या मानसिक महत्त्वाकांक्षा-का कोई मिथ्या रूप नहीं है, बल्कि अन्तरात्मासे आनेवाली एक सहज-स्वाभाविक क्रिया है, अनुभव पूर्णतः विश्वासोत्पादक होता है। विश्वास जमानेकी अपनी शक्ति वह उस समय खो बैठता है जब उसके साथ ऐसी चीजें मिल जाती हैं अथवा अनुभव प्राप्त करनेकी इच्छा या अपने-आपको बहुत श्रेष्ठ व्यक्ति समझनेकी महत्त्वाकांक्षा आ जुटती है। यदि तुम्हारे अन्दर वह चीज हो तो सावधान, क्योंकि कामना और महत्त्वाकांक्षा अनुभवको मिथ्या बना देते हैं। मन आकारोंका निर्माता है और यदि तुममें बहुत प्रबल कामना हो कि कोई बहुत महत्त्वपूर्ण या मजेदार चीज तुम्हारे लिये घटे तो तुम उसका होना संभव बना सकते हो, कम-से-कम बाह्य रूपमें उन लोगोंके लिये संभव बना सकते हो जो चीजोंको ऊपर-ही-ऊपर देखते हैं। परन्तु, ऐसी बातोंके अतिरिक्त, जब तुम सीधे-सरल, सच्चे और सहज होओ, और सबसे बड़ी बात यह हो कि अनुभव तुम्हारे पास अपने-आप, उन्हें पानेके लिये तुम्हारी ओरसे कोई प्रयास हुए बिना, तुम्हारी सत्ताकी गहराईसे उठनेवाली अभीप्साकी अभिव्यक्तिके रूपमें, आते हों तो ऐसे अनुभवोंपर पूर्ण प्रामाणिकताकी मुहर-छाप लगी होती है; और

सारा संसार तुमसे कह सकता है कि वे मूर्खतापूर्ण या भ्रमपूर्ण हैं, पर कोई बात तुम्हारे व्यक्तिगत विश्वासमें कोई भी परिवर्तन नहीं लायगी। परन्तु स्वभावतः, इसीलिये, तुम्हें स्वयं अपने-आपको धोखा नहीं देना चाहिये, तुम्हें सच्चा और सीधा-सरल होना चाहिये और अन्तःकरणमें पूर्ण सत्य-निष्ठ बने रहना चाहिये।

किसीने मुझसे पूछा था : "यह कैसे हो सकता है कि भगवान् एक अविश्वासीके सामने भी प्रकट हो जाते हैं?" यह प्रश्न हास्यास्पद है, क्योंकि भगवान् यदि किसी अविश्वासीके सामने प्रकट होना चाहें तो मैं ऐसी कोई चीज नहीं देखती जो उन्हें ऐसा करनेसे रोक सके!

इसके विपरीत, भगवान् मजाक करना जानते हैं (श्रीअरविन्दने कितनी ही बार इस बातको दुहराया है कि परमात्मा हास्यप्रिय हैं और हम ही उन्हें प्रशान्त और सर्वदा गंभीर रहनेवाला बना देना चाहते हैं), और उन्हें यहां आकर किसी अविश्वासीका आलिंगन करनेमें मजा आता होगा। जिस व्यक्तिने शायद पिछले दिन यह कहा था : "भगवान्‌का अस्तित्व नहीं है, मैं उनपर विश्वास नहीं करता, यह तो मूर्खता और अज्ञान है"... उसीको वह अपनी भुजाओंमें ले लेते हैं, उसे अपनी छातीसे चिपका लेते हैं—और एकदम उसके मुंहपर हंसते हैं।

सब कुछ संभव है, यहांतक कि जो चीजें हमारी तुच्छ, सीमित बुद्धिको अयुक्तियुक्त प्रतीत होती हैं, उनका होना भी संभव है।

वास्तवमें, जब हम इन सूत्रोंको अंततक पढ़ चुकेंगे केवल तभी हमें इन्हें समझनेका अवसर प्राप्त होगा, क्योंकि प्रत्येक सूत्रमें श्रीअरविन्द हमें एक ऐसी स्थितिमें ला बैठाते हैं जो उस सत्यसे बिलकुल भिन्न है जिसे हमें खोजना है। पक्ष असंख्य हैं। दृष्टिकोण अगणित हैं। और हम अपनेको झूठा बनाये बिना, अपनी बातका खंडन किये बिना अत्यंत विरोधी बातोंको कह सकते हैं : सब कुछ इस बातपर निर्भर है कि वस्तुओं-को हम किस तरह देखते हैं। और, जब हम सब कुछ देख चुकेंगे, अपने लिये सुलभ सभी दृष्टियोंसे जब हम केन्द्रीय 'सत्य'को चारों ओरसे देख लेंगे, तब भी हमें बस जरा-सी झांकी ही मिलेगी—हो सकता है कि उस समय भी दिव्य सत्य हमारे लिये चारों ओरसे अछूता ही रह जाय। परन्तु ध्यान देनेकी बात यह है कि यदि भगवान्‌के साथ केवल एक ही संपर्कका अनुभव हमें मिल जाय—एक सच्चा, स्वतःस्फूर्त और विशुद्ध अनुभव—तो उस क्षण, उस अनुभवके अन्दर हम सब कुछ, यहांतक कि उससे भी अधिक जान जायेंगे। यही कारण है कि मनुष्य जो कुछ थोड़ा-सा जानता है उसे पूर्ण सच्चाईके साथ जीवनमें

उतारना इतना महत्त्वपूर्ण है ताकि वह अनुभव प्राप्त करनेकी और अनुभवद्वारा जाननेकी योग्यता प्राप्त कर सके, मनके द्वारा जाननेकी योग्यता नहीं बल्कि इसलिये कि वह चीजोंको जीवनमें उतारता है, क्योंकि वे उसकी सत्ता और चेतनाका अंग बन जाती हैं।

मनुष्य जो कुछ थोड़ा-बहुत जानता है, उसे जीवनमें उतारना ही अधिक जाननेका सबसे उत्तम तरीका है, यह पथपर आगे बढ़नेका सबसे अधिक शक्तिशाली उपाय है — बस, थोड़ा-सा जीवनमें लानेका प्रयत्न हो, पर हो बहुत सच्चा। उदाहरणार्थ, जब तुम जानते हो कि अमुक चीज करने लायक नहीं है, बस, उसे नहीं करना चाहिये। जब तुम अपने अंदर एक दुर्बलता, एक अशक्तता देख लेते हो तो फिर उसे दुबारा प्रकट नहीं होने देना चाहिये। जब तुम्हें किसी तीव्र अभीप्साके होनेपर इस बातकी झलक मिल जाती है कि क्या होना चाहिये, भले ही वह एक क्षणके लिये ही मिली हो, तो फिर उसे जीवनमें सिद्ध करना भूलना नहीं चाहिये — कभी भी भूलना नहीं चाहिये।

कुछ ऐसे लोग होते हैं जो सर्वदा अपनी कमजोरियोंके लिये बिलखते रहते हैं। उससे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। यदि तुमने वास्तवमें उन्हें एक बार देख लिया हो और यथार्थमें, सच्चे रूपमें समझ लिया हो, यदि तुमने देख लिया हो कि ऐसा नहीं होना चाहिये, तब बिलखना बन्द कर दो! अब तो बस नित्य प्रयास करना होगा, अब तो अपने अन्दर संकल्प उत्पन्न करना होगा, अब तो प्रत्येक क्षण तुम्हें जाग्रत् रहना होगा — जिस दोषको तुमने एक बार जान लिया है उसे तुम्हें फिर दुबारा कभी नहीं होने देना होगा। अज्ञानवश भूल करना, अचेतनतावश भूल करना अवश्य ही बहुत शोचनीय बात है, पर वह संशोधनीय है। परन्तु यह जान लेनेपर भी कि इसे नहीं करना चाहिये, भूल करते रहना एक प्रकारकी कायरता है और उसे कभी प्रश्रय नहीं देना चाहिये।

यह कहना : "ओह! मानव-स्वभाव ही ऐसा है। ओह! हम लोग निश्चेतनामें हैं। ओह! हम तो अज्ञानमें हैं", यह सब आलस्य और दुर्बलता है। और इस आलस्य और दुर्बलताके पीछे एक बहुत बड़ा अशुभ संकल्प भी विद्यमान है। लो बस!

मैं यह इसलिये कहती हूं कि ऐसे बहुत-से, अनगिनत लोग हैं जिन्होंने मेरे सामने यह मन्तव्य प्रकट किया है। और यह सर्वदा ही अपने लिये बहाना बनानेका एक तरीका होता है। यह कहना : "हम जो कर सकते हैं करते हैं", कोई सत्य कथन नहीं है। क्योंकि, यदि तुम सच्चे हो तो एक बार जो वस्तु तुम देख लेते हो (जबतक तुमने देखा नहीं है तबतक

कुछ कहनेको नहीं है), पर जिस क्षण तुम देख लेते हो, उसी क्षण तुम भागवत कृपा भी पा जाते हो, और जिस क्षण तुम भागवत कृपाको पा लेते हो उस क्षणसे उसे भूलनेका कोई अधिकार तुम्हें नहीं रहता।

५-१२-५८

१३ — उन्होंने मुझसे कहा: "ये चीजें दृष्टिभ्रम हैं।" मैंने पूछा, दृष्टिभ्रमका क्या अर्थ है तो मुझे बताया गया कि यह एक ऐसी वैयक्तिक या आंतरिक अनुभूति है जिसकी कोई प्रत्यक्ष या भौतिक वास्तविकता नहीं होती। और तब मैं बैठकर मानव तर्क-बुद्धिके चमत्कारोंपर आश्चर्य करने लगा।

मधुर मां, "मानव तर्क-बुद्धिके चमत्कारों"से श्रीअरविंदका क्या आशय है?

इस सूत्रमें "उन्होंने"से श्रीअरविन्दका मतलब भौतिकवादियों तथा वैज्ञानिकोंसे है और, साधारणतया, उन लोगोंसे है जो संसारमें एक भौतिक वास्तविकतापर ही विश्वास रखते हैं और वह मानव तर्क-बुद्धिको ही अकेला और अचूक निर्णायक मानते हैं। इसके अतिरिक्त, वे यहां जिन "चीजों"-के विषयमें कह रहे हैं वे सब इस स्थूल जगत्के नहीं वरन् दूसरे जगतोंके अनुभव हैं जो भौतिक आंखोंसे नहीं बल्कि दूसरी आंखोंसे गोचर होते हैं। इनमें सूक्ष्म प्रदेशोंमें प्राप्त होनेवाले प्राणिक जगत्के इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये गये अनुभवोंसे लेकर भागवत उपस्थितिके आनन्दके अनुभवतक आ जाते हैं।

इन्हीं "चीजों" तथा ऐसी ही अन्य चीजोंके बारेमें श्रीअरविंदने "दृष्टि-भ्रम" शब्दका प्रयोग होते सुना था। शब्दकोशमें "दृष्टिभ्रम"का अर्थ यों है: "अस्वस्थ प्रकारका वेदन जिसका आधार कोई वास्तविक पदार्थ न हो अर्थात्, बिना पदार्थका बोध।" श्रीअरविंद इसका ठीक रूप यों रखते हैं: "एक ऐसा आत्मनिष्ठ या चैत्य अनुभव जिसका किसी वस्तुनिष्ठ या भौतिक पदार्थके साथ कोई संबंध न हो।" आंतरिक चेतनाके इन तथ्योंकी इससे अधिक अच्छी परिभाषा और नहीं हो सकती, क्योंकि ये तथ्य मनुष्यके लिये अत्यधिक मूल्यवान् हैं और उसे एक विचारनेवाले पशुसे कुछ अधिक बड़ा बना देते हैं। मानव बुद्धि इतनी सीमित, पार्थिव, दंभपूर्ण रूपमें अज्ञानमय है कि वह निन्दापूर्ण शब्दकी सहायतासे ठीक उन्हीं शक्तियोंको हीन बताना

चाहती है जो मनुष्यके सामने एक उच्चतर और श्रेष्ठतर जीवनके द्वार खोल देती हैं . . . । इस हठीली नासमझीको देखकर ही श्रीअरविंद "मानव तर्क-बुद्धिके चमत्कारों" पर व्यंगपूर्वक आश्चर्य करते हैं। कारण, सत्यको मिथ्यात्वमें इस हदतक बदल देनेकी शक्ति निश्चय ही चमत्कार है।

५-१-१९६०[1]

१४ — जड़ पदार्थमें तल्लीन रहनेके कारण जो सत्य हमारी आंखोंसे ओझल रहते हैं उनकी अनियमित झांकियोंको विज्ञान दृष्टिभ्रम कहता है।
संयोग सर्वोच्च और वैश्व बुद्धिके कार्यमें कलाकारका अद्भुत स्पर्श है। इस 'बुद्धि'ने अपनी चेतन सत्तामें — जैसा कि कलाकार कैनवसपर अपनी कृति उतारता है — संसारकी योजना बनायी और उसकी रचना की है।

यहां कलाकारसे क्या मतलब है?

यहां श्रीअरविंद विश्वके स्रष्टा, सर्वोच्च प्रभुके कार्यकी एक ऐसे कलाकारकी कृतिसे तुलना करते हैं जो अपनी तूलिकाके महान् स्पर्शसे अपनी चेतन सत्तामें, जैसे कि कैनवसपर, संसारका चित्र खींचता है। और जब एक "अद्भुत कला-पद्धति" के तथ्यके कारण वह तूलिकाके दो आघात अध्यारोपित कर देता है तो वह "घटनाओंका संयोग" हो जाता है।

साधारणतया "संयोग" शब्दका अर्थ एक अचेतन और निरर्थक अवसर माना जाता है। पर श्रीअरविंद हमें समझाना चाहते हैं कि संयोग और अचेतनताका इस तथ्यके साथ कोई संबंध नहीं है। इसके विपरीत, यह एक ऐसी चेतना और सुरुचिका परिणाम है जो कलाकारोंके पास होती है और यह एक गहन आशयका दिग्दर्शन भी करा सकता है।

१२-१-६०

---

[1]ये तारीख तबकी हैं जब ये प्रश्न पूछे गये थे। कभी-कभी माताजी बहुत बादमें बिना तारीखके उत्तर देती थीं।

१५ — जिसे लोग दृष्टिभ्रम कहते हैं वह मन और इंद्रियोंमें उस वस्तुकी परछाईं है जो हमारे मानसिक और इंद्रियजनित बोधोंसे परे है। अंधविश्वास मनके इन परछाइयोंको गलत समझनेसे पैदा होता है, दृष्टिभ्रम और कुछ नहीं है।

क्या दृष्टिभ्रमकी अंतर्दर्शनसे तुलना की जा सकती है?

अंतर्दर्शन उन वस्तुओंका सूक्ष्म इन्द्रियोंद्वारा प्राप्त बोध है जो एक ऐसे जगत्‌में सचमुच अपना अस्तित्व रखती हैं जो ज्ञान प्राप्त करनेवाली इन्द्रियके साथ संबंध रखता है।

उदाहरणार्थ, वैयक्तिक प्राणिक जगत्‌के साथ मेल खाता हुआ वैश्व प्राणिक जगत् भी है। जब मनुष्य पर्याप्त रूपमें विकसित हो जाता है, तो उसे एक ऐसी व्यक्तिगत प्राणिक सत्ता प्राप्त हो जाती है जिसके पास देखने, सुनने और सूंघने आदिके लिये इन्द्रियां होती हैं। अतएव, जिसने अपनी प्राणिक सत्ताको भली-भांति विकसित कर लिया है वह चेतन रूपसे और यह याद रखते हुए कि उसने क्या देखा है, अपनी प्राणिक दृष्टिकी सहायतासे प्राणिक जगत्‌में देख सकता है। और साथ ही जो कुछ देखा है उसे याद भी रख सकता है। यही अंतर्दर्शन है।

इसी प्रकार सब सूक्ष्म जगतों, अर्थात् मानसिक, प्राणिक, अधिमानसिक तथा अतिमानसिक जगतों, बल्कि सत्ताके सभी मध्यवर्ती जगतों और स्तरोंके संबंधमें समझना चाहिये। इस प्रकार, तुम प्राणिक, मानसिक, अधिमानसिक, अतिमानसिक आदि सब प्रकारके अंतर्दर्शन प्राप्त कर सकते हो।

इसके अतिरिक्त, श्रीअरविंद कहते हैं कि जिसे दृष्टिभ्रम कहा जाता है वह मन या शारीरिक इन्द्रियोंपर उस वस्तुका प्रतिबिम्ब है जो हमारे मन और सामान्य इन्द्रियोंसे परे है। अतएव यह प्रत्यक्ष अंतर्दर्शन नहीं वरन् एक प्रतिबिम्बित प्रतिमूर्ति है जो साधारणतया न तो समझी जाती है और न जिसकी व्याख्या ही की जा सकती है। अनिश्चितताका यह गुण अवास्तविकताका आभास देता है और सब प्रकारके अंधविश्वासोंका कारण बनता है। इसी कारण "गंभीर" प्रकृतिके लोग या वे जो अपने-आपको गंभीर समझते हैं इन तथ्योंका महत्त्व स्वीकार नहीं करते और इन्हें दृष्टिभ्रम कहते हैं। किंतु जो लोग गुह्य विद्याके तथ्योंमें रुचि रखते हैं उनको अंतर्दृष्टिकी योग्यताके अभिव्यक्त होनेसे पहले इसी प्रकारका बोध अक्सर होता है। तब वह योग्यता केवल निर्मित हो रही होती है। किंतु तुम्हें इसे सच्चे अंतर्दर्शनसे मिला नहीं देना चाहिये। क्योंकि मैं फिर कहती हूं

कि ये तथ्य अधिकतर अज्ञानकी प्रायः पूर्ण अवस्थामें उत्पन्न होते हैं और साथ ही इनके साथ प्रायः बहुत-सी भ्रांतियां जुड़ी रहती हैं और इनकी व्याख्या भी बड़े गलत ढंगसे की जाती है। हम यहां उन लोगोंकी बात नहीं कह रहे जो सच्चाईकी अधिक परवाह नहीं करते। जब ऐसे लोग अपने अनुभवोंकी कहानी सुनाते हैं तो उनके साथ बहुत-सी बारीकियां और यथार्थ संकेत जोड़ देते हैं जो वास्तवमें वहां नहीं होते। उनकी ये बातें स्वभावतया ही उन लोगोंके, जो बुद्धिवादी और विचारशील हैं, अविश्वासको न्यायसंगत ठहराती हैं।

अतएव, हम "अंतर्दर्शन" शब्द केवल उन्हीं अनुभवोंके लिये सुरक्षित रखते हैं जो ज्ञान और सच्चाईकी अवस्थामें प्राप्त होते हैं। फिर भी, हम "दृष्टिभ्रम" और अंतर्दर्शन दोनोंमें जो कुछ देखते हैं उसका संबंध किसी वास्तविक वस्तुसे अवश्य होता है। यद्यपि उसकी प्रतिलिपि कभी-कभी बहुत अधिक विकृत कर दी जाती है।

२०-१-६०

१६ — बहुतेरे आधुनिक वाद-विवाद करनेवालोंकी तरह बहु-शब्द-प्रयोगके नीचे विचारका गला मत घोंट दो। अपनी खोज-को सूत्रों और विशिष्ट कथनोंके मोहक प्रभावसे सुला मत दो। सदा खोज करते रहो। उन वस्तुओंका कारण ढूंढ़ो जो एक उतावली दृष्टिके लिये केवल संयोग या भ्रांति होती हैं।

वस्तुओंका कारण कैसे ढूंढ़ा जाय? यदि यह कार्य मनद्वारा किया जाय तो भी क्या 'सत्य'के सामने भ्रांति ही नहीं रहेगी?

मनके अनेक स्तर और प्रदेश हैं, भौतिक मनके स्तरसे लेकर, जो सामान्य विचारोंका निम्न प्रदेश है, जो भ्रांति, अज्ञान और झूठसे भरा रहता है, उच्चतर मनके स्तरतक जो सहज ज्ञानके रूपमें अति-मानसिक सत्यकी किरणोंको ग्रहण करता है, अनेक प्रदेश हैं। इन दो छोरोंके बीचमें भी अनगिनत मध्यवर्ती स्तर क्रमबद्ध रूपमें आते हैं जो एक-दूसरेके ऊपर होते हैं तथा परस्पर एक-दूसरेको प्रभावित करते हैं। एक निम्न प्रदेशमें व्यावहारिक बुद्धि अर्थात् सामान्य ज्ञान होता है जिसका मनुष्यको बहुत गर्व है और जो सामान्य मनके लिये बुद्धिमत्ता-की अभिव्यक्ति होता है, यद्यपि यह पूर्णतया अज्ञानके क्षेत्रमें कार्य करता

है। व्यावहारिक बुद्धिके इसी प्रदेशमें "बहु-शब्द-प्रयोग" आता है जिसकी श्रीअरविंदने चर्चा की है, इसमें वे सब सूक्तियां और विशिष्ट कथन, वे सब गढ़े-गढ़ाये वाक्य आ जाते हैं जो मानसिक वातावरणमें एक मस्तिष्कसे दूसरे मस्तिष्कतक दौड़ते रहते हैं और जिनका प्रत्येक व्यक्ति उस समय प्रयोग करता है, जब वह उस आदमीकी तरह प्रतीत होना चाहता है जो कुछ जानता है या यह मानता है कि वह बुद्धिमान् है।

इस प्रकारके अतिसाधारण एवं निम्न प्रकारके विचारसे ही हमें श्रीअरविंद सावधान रहनेके लिये कहते हैं, जब हम एक नये और अ-प्रत्याशित तथ्यकी उपस्थितिमें होते हैं और उसकी व्याख्या करनेकी चेष्टा करते हैं। वे बताते हैं कि हमें सदा किसी तथ्यकी खोज, उस सर्वोच्च बुद्धिके प्रयोगद्वारा, करनी चाहिये जो वस्तुओंके सच्चे कारणको जाननेकी तीव्र इच्छा रखती है। सरल और प्रचलित व्याख्याओंसे आसानीसे संतुष्ट न होकर हमें इस खोजको लगातार करते रहना चाहिये, जबतक कि हम अधिक सूक्ष्म और अधिक सच्चे सत्यको प्राप्त न कर लें। तब हमें यह भी पता लग जायगा कि प्रत्येक वस्तुके पीछे, उसके भी पीछे जो संयोग और भ्रांति प्रतीत होती है, एक चेतन इच्छा-शक्ति मौजूद है जो सर्वोच्च अंतर्दर्शनको अभिव्यक्त करती है।

२७-१-६०

१७ — कोई व्यक्ति यह निर्धारित कर रहा था कि भगवान्‌को 'यह' होना चाहिये, या 'वह' होना चाहिये, नहीं तो वह भगवान् नहीं होगा। पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं केवल यही जान सकता हूं कि भगवान् क्या हैं। मेरी समझमें नहीं आता कि मैं भगवान्‌से यह कैसे कहूं कि उन्हें क्या होना चाहिये। कारण, हम किस मापसे उनके विषयमें विचार बना सकते हैं? ये विचार वस्तुतः हमारे अहंभावकी मूर्खताएं होते हैं।

क्या व्यक्तिका भगवान्‌के साथ तादात्म्य स्थापित हो चुकनेके बाद उन्हें भौतिक मनसे भी जानना संभव है?

भगवान्‌के साथ चेतन रूपसे तादात्म्य स्थापित हो जानेके बाद समस्त सत्ता, अपने बाह्य भागोंमें — मानसिक, प्राणिक और शारीरिक भागोंमें भी — इस तादात्म्यके परिणामोंसे गुजरती है और तब उसमें

इस हदतक परिवर्तन हो जाता है कि शारीरिक रूपमें भी परिवर्तन दृष्टि-गोचर होने लगता है। एक ऐसा प्रभाव दिखायी देने लगता है जो विचारों, भावों, वेदनों, यहांतक कि कार्योंपर भी क्रिया करता है। कभी-कभी सब क्रियाओंमें, भागवत उपस्थिति और उसके कार्यका एक मूर्त्त और स्थायी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, यह सब बाह्य साधनके द्वारा होता है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि भौतिक मन भगवान्‌को जानता है, क्योंकि मनका अपना जाननेका ढंग भगवान्‌के लिये पराया है, यह भी कहा जा सकता है कि वह बिलकुल विपरीत है। भौतिक मन स्वयं भागवत प्रभाव ग्रहण कर सकता है और उसके द्वारा रूपांतरित भी हो सकता है, किंतु जबतक वह भौतिक मन रहता है वह न व्याख्या कर सकता है, न ही समझ सकता है, भगवान्‌को जानना तो दूर रहा। कारण, भगवान्‌को जाननेके लिये व्यक्तिको भगवान्‌के साथ एक हो जाना चाहिये और इसके लिये भौतिक मनको जो कुछ वह है वह बने रहना छोड़ देना चाहिये, दूसरे शब्दोंमें, उसे भौतिक मन नहीं रहना चाहिये।

इस निम्न त्रिविध सत्तामें (मन, प्राण और शरीरमें) भगवान्‌को जाननेकी योग्यता केवल अतिमानसिक रूपांतरके द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। और यह उस चरम प्राप्तिसे, जिसका अर्थ दिव्य बनना है, जरा ही पहले आती है।

३-२-६०

१८ —— इस जगत्‌में संयोग जैसी कोई वस्तु नहीं है; भ्रांतिका विचार स्वयं ही भ्रांति है। अभीतक मानव मनमें ऐसी कोई भ्रांति नहीं आयी जो किसी सत्यको छिपाये हुए या विकृत किये हुए न हो।

"भ्रांतिका विचार स्वयं ही भ्रांति है", इसका क्या अर्थ है ?

हम भ्रांतिमें ही निवास करते हैं। इसे कोई भी विचारशील मन अस्वीकार नहीं कर सकता। किंतु कुछ लोगोंके अनुसार, हम जिसे भ्रांति देखते और समझते हैं और जिसमें जीते हैं, उसके पीछे किसी भी चीजका अस्तित्व नहीं है, वहां नास्ति है, खालीपन है। जब कि दूसरे कहते हैं: हम जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, या जिसमें रहते-

सहते हैं वह एक धोखेवाली, भ्रमपूर्ण प्रतीति है और इसके पीछे — इसके परे और इसके अंदर — एक 'वास्तविकता' है, एक सनातन 'सत्य' है जिसे हम अपनी सामान्य अवस्थामें नहीं देख पाते, पर यदि हम कुछ कष्ट उठाकर आवश्यक पद्धतियोंका अनुसरण करें तो उसे अनुभव कर सकते हैं।

इस सूत्रमें, "भ्रांतिके विचार"से श्रीअरविंद इस दार्शनिक सिद्धांतकी ओर निर्देश करते हैं कि इस स्थूल जगत्का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, यह केवल एक बाह्य रूप है जो अहंभाव और इंद्रियोंकी भ्रांतिसे उत्पन्न होता है और जब यह भ्रांति दूर हो जायगी तो यह जगत् भी उसके साथ-साथ लुप्त हो जायगा।

इसके विपरीत, श्रीअरविंद इस बातकी पुष्टि करते हैं कि बाह्य प्रतीतियोंके पीछे, अत्यधिक भ्रांतिपूर्ण प्रतीतियोंके पीछे भी एक सत्य, एक चेतन संकल्प विद्यमान है जो विश्वकी अभिव्यक्तिपर शासन करता है। इस अभिव्यक्तिमें प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना, प्रत्येक परिस्थिति उस वस्तु-का परिणाम है जो उसके पहले आयी और उसका कारण है जो उसके बाद आयेगी। संयोग और असंगति, उस मानव चेतनाकी भ्रमपूर्ण प्रतीतियां हैं जो वस्तुओंके सत्यको देखनेके लिये अत्यधिक आंशिक और सीमित हैं। किंतु यह मूर्त्त और वास्तविक सत्य समस्त बाह्य प्रतीतियों-और उनकी भ्रांतिपूर्ण असंगतिके पीछे विद्यमान है।

और स्वयं श्रीअरविंद कहते हैं: जगत् सत्य है; केवल उसके विषयमें हमारा ज्ञान मिथ्या है।

१०-२-६०

१९ —— जब मेरे अंदर विभाजनकारी बुद्धि थी तो मैं बहुत-सी वस्तुओंसे पीछे हट जाता था। पर जब मैंने इसे आंखोंसे ओझल कर दिया तो मैंने संसारमें कुरूप और अनाकर्षक वस्तुओंकी खोज की पर उन्हें न पा सका।

क्या दुनियामें सचमुच ऐसी कोई चीज नहीं है जो कुरूप और अनाकर्षक ना हो? क्या हमारी तर्क-बुद्धि ही चीजोंको इस ढंगसे देखती है?

श्रीअरविन्द यहां जो कहना चाहते हैं उसे सच्चे रूपमें समझनेके लिये

व्यक्तिको अपने अन्दर तर्क-बुद्धिसे ऊपर उठने और अपनी चेतनाको मानसिक बुद्धिसे अधिक ऊंचे जगत्में स्थापित करनेका अनुभव होना चाहिये। कारण, ऊपरकी चेतनासे तुम यह देख सकते हो कि जो कुछ जगत्में अस्तित्व रखता है सच्चिदानन्द — सत्-चित्-आनन्द — की अभिव्यक्ति है, यह पहली बात है। और इसलिये, यदि तुम बाह्य रूपके पीछे, वह चाहे जो भी हो, काफी गहराईमें जाओ तो सच्चिदानन्दको पा सकते हो, जो सर्वोच्च सौन्दर्यका तत्त्व है। दूसरे, इस अभिव्यक्त जगत्में प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, यहांतक कि कोई भी ऐसा सौन्दर्य नहीं है जो अपनेसे बड़े सौन्दर्यकी तुलनामें कुरूप न लगे, और न ही कोई ऐसी कुरूपता है जो अपने-से बहुत बड़ी कुरूपताकी अपेक्षा सुन्दर न प्रतीत हो।

जब तुम ऐसा देख और अनुभव कर सको तो तुम तत्काल एक पूर्ण दृष्टिकोणसे इन प्रभावोंकी और इनकी अवास्तविकताकी चरम सापेक्षताको जान लेते हो। फिर भी, जबतक हम तर्क-बुद्धिकी चेतनामें निवास करते हैं, तो यह एक प्रकारसे स्वाभाविक ही होता है कि जो कुछ हमारी पूर्णताकी अभीप्साको, हमारे विकासके संकल्पको धक्का पहुंचाता है या जिस चीजसे हम ऊपर उठना या उसे वशमें करना चाहते हैं वह हमें कुरूप और अनाकर्षक प्रतीत होती है, क्योंकि हम एक उच्चतर आदर्शकी खोजमें लगे हैं और अधिक ऊपर चढ़ना चाहते हैं।

पर फिर भी, यह एक अर्ध-ज्ञान ही है जो कि सच्चे ज्ञानसे कोसों दूर है। यह एक ऐसी बुद्धिमत्ता है जो अज्ञान और अचेतनताके बीच बुद्धिमान् प्रतीत होती है।

'सत्य'में सब कुछ इससे भिन्न है और भगवान् ही प्रत्येक वस्तुमें चमकते हैं।

१७-२-६०

२० — भगवान्ने मेरी आंखें खोल दी हैं। कारण, मैंने अ-संस्कृतकी उदात्तता देखी, अनाकर्षकका आकर्षण देखा, अपूर्णकी पूर्णता और कुरूपका सौंदर्य देखा।

यह सूत्र पिछले सूत्रका पूरक और कुछ-कुछ उसीकी व्याख्या है।

वे स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि बाह्य प्रतीतियोंके पीछे एक 'उत्कृष्ट सत्य' है, जो, कहा जा सकता है कि बाह्य विकृतियोंका प्रकाशमान विरोध है। इस प्रकार, जब आन्तरिक आंखें इस दिव्य सत्यके प्रति खुली होती हैं तो

वह इतनी शक्तिशाली रूपमें प्रकट होता है कि उस वस्तुको मिटा देनेमें सफल हो जाता है जो साधारणतया इसे सामान्य दृष्टिसे छुपा देती है।
२४-२-६०

२१ — ईसाई और वैष्णव क्षमाकी प्रशंसा करते हैं, पर मैं अपने लिये यह पूछता हूं: "मैं किसे क्षमा करूं और क्या क्षमा करूं?"

जब भगवान्से क्षमा मांगी जाती है, तो क्या वे सदा हमें क्षमा कर देते हैं?

श्रीअरविन्द स्वयं ही हमें भगवान्का उत्तर देते हैं: "मैं किसको क्षमा करूं और क्या क्षमा करूं?" प्रभु यह जानते हैं कि सब कुछ वे स्वयं ही हैं, अतएव, सब कर्म भी उन्हींके हैं और सब वस्तुएं भी वे स्वयं ही हैं। क्षमा करनेके लिये व्यक्तिको उससे अलग होना चाहिये जिसे वह क्षमा करता है, और जिस वस्तुको क्षमा करना है वह भी उसके अपने द्वारा नहीं बल्कि किसी दूसरेके द्वारा की जानी चाहिये।

सच पूछो तो क्षमा मांगते वक्त व्यक्ति यह आशा करता है कि जो कार्य उसने किया है उसके बुरे परिणाम नष्ट हो जायं। किन्तु यह तभी संभव है जब की हुई भूलके कारण विलीन हो जायं। यदि तुमने अज्ञान-वश कोई अपराध किया है तो अज्ञानका नाश होना चाहिये; यदि तुमने किसी बुरी भावनाके वश कोई दोष किया है तो उस बुरी भावनाका नाश होना चाहिये तथा उसका स्थान सद्भावनाको लेना चाहिये। खाली पश्चात्ताप ही काफी नहीं है, उसके साथ-साथ उन्नति भी होनी चाहिये।

कारण, विश्व सतत रूपमें विकास कर रहा है; कोई भी वस्तु अचल नहीं है, सब कुछ सदा बदलता रहता है, चाहे वह आगे बढ़ रहा हो या पीछे हट रहा हो। जो वस्तुएं या कर्म हमें पीछेकी ओर ले जाते हैं वे हमें बुरे प्रतीत होते हैं तथा अस्तव्यस्तता और अव्यवस्थाके कारण होते हैं। उनका एकमात्र इलाज है आगेकी ओर मौलिक गति, उन्नति। यह नया अनुकूलन ही पीछे हटनेकी क्रियाके परिणामोंको नष्ट कर सकता है।

अतएव व्यक्तिको भगवान्से एक अस्पष्ट प्रकारकी शाब्दिक क्षमा नहीं मांगनी चाहिये, बल्कि आवश्यक उन्नति करनेके लिये शक्ति मांगनी

चाहिये। कारण, केवल आन्तरिक रूपान्तर ही किये हुए कर्मके परिणामोंको मिटा सकता है।

२-३-६०

२२ — भगवान्ने एक मानवीय हाथसे मेरे ऊपर आघात किया; तो क्या मैं यह कहूं: "हे भगवान्! मैं तेरी धृष्टताके लिये तुझे क्षमा करता हूं"?

२३ — भगवान्ने एक प्रहारके द्वारा मेरा मंगल किया। क्या मैं यह कहूं: "हे सर्वशक्तिमान्, मैं इस अपकार और निष्ठुरताके लिये तुझे क्षमा करता हूं पर फिरसे ऐसा न करना"?

"भगवान्ने एक मानवीय हाथसे मेरे ऊपर आघात किया", इसका क्या अर्थ है?

ये दो सूत्र इस बातको दर्शाते हैं कि भागवत उपस्थिति समस्त वस्तुओं और समस्त सत्ताओंमें विद्यमान है। और ये उस विचारको भी विकसित करते हैं जिसकी अभी चर्चा हो चुकी है, अर्थात्, ऐसी कोई भी चीज और कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसे क्षमा किया जाय, क्योंकि भगवान् समस्त वस्तुओंके निर्माता हैं।

"भगवान्ने एक मानवीय हाथसे मेरे ऊपर आघात किया", इस वाक्यको इसी तरह पढ़ना और समझना चाहिये। यदि तुम केवल बाह्य प्रतीतियोंको ही देखो तो तुम्हें लगेगा कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको घूंसा मार रहा है। किन्तु जो व्यक्ति 'सत्य'को देखता और जानता है वह यह समझ लेता है कि वह सर्वोच्च प्रभु ही मानवीय हाथके द्वारा आघात करते हैं, और यह आघात उस व्यक्तिका अवश्य ही भला करेगा जिसपर वह पड़ा है। दूसरे शब्दोंमें, वह उसकी चेतनाको उन्नत करेगा, क्योंकि सृष्टिका अन्तिम लक्ष्य ही समस्त प्राणियोंको भगवान्की चेतनाके प्रति जगाना है।

एक बार यह समझमें आ जाय तो इन दो सूत्रोंका शेष भाग बड़ी सरलतासे समझमें आ जायगा।

क्या हम भगवान्को उस भलाईके लिये क्षमा कर दें जो उसने हमारे प्रति की है, और साथ ही यह भी कहें कि फिरसे ऐसा न करना?

ऐसे नुस्खेकी विरोधात्मक और मूर्खतापूर्ण बात स्पष्ट ही है।

९-३-६०

२४ — जब मैं किसी दुर्भाग्यपर रोता-पीटता हूं और उसे अशुभ कहता हूं, अथवा जब मैं ईर्ष्यालु और हताश होता हूं तब मैं जानता हूं कि मेरे अंदर फिरसे वही सनातन मूर्ख जाग उठा है।

यह "दुर्भाग्य" क्या है और क्यों आता है?

जब व्यक्ति किसी परिणामकी आशासे कार्य करता है और यदि परिणाम वह नहीं आता जिसे वह चाहता था तो वह इसे दुर्भाग्य कहता है। साधारणतया ऐसी प्रत्येक घटना जो इच्छाके विपरीत होती है या जिसे शंकाकी दृष्टिसे देखा जाता है सामान्य मनको दुर्भाग्य प्रतीत होती है। यह दुर्भाग्य क्यों आता है? प्रत्येक अवस्थामें कारण भिन्न होता है; बल्कि घटनाके बाद ही, वस्तुओंको समझनेकी आवश्यकता हमें इस बातके कारण खोजनेको प्रेरित करती है कि यह घटना क्यों हुई थी। किन्तु अधिकतर परिस्थिति-सम्बन्धी हमारा ज्ञान अन्धा और भ्रान्तिपूर्ण होता है। हम अज्ञानमें ही फैसला दे बैठते हैं। और फिर बादमें ही, कभी-कभी तो बहुत देरके बाद, हम आवश्यक दूरीपर खड़े होकर परिस्थितियोंकी शृंखला तथा समग्र परिणामको देखते हैं, और तभी वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपको भी देखते हैं। हम देखते हैं कि जो चीज हमें बुरी लगती थी वह वस्तुतः बड़ी उपयोगी थी और उसने हमारे आवश्यक विकासमें सहायता पहुंचायी थी।

श्रीअरविन्द उस व्यक्तिकी अवस्थाको "सनातन मूर्ख" कहते हैं जो अज्ञान और कामनामें डूबा हुआ है और जो प्रत्येक वस्तुको अपने संकुचित और ससीम अहंके दृष्टिकोणसे देखता है। वस्तुओंको शुद्ध रूपमें समझने और अनुभव करनेके लिये तुम्हारे अन्दर एक वैश्व दृष्टि होनी चाहिये तथा प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक परिस्थितिमें तुम्हें भागवत उपस्थिति और भागवत इच्छाके प्रति सचेतन होना चाहिये।

तब हम यह जान लेते हैं कि हमारे साथ जो कुछ होता है वह सदा हमारे भलेके लिये होता है, पर केवल तभी जब हम अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखें और समयके साथ खिलते चलें।

१६-३-६०

२५ — जब मैं दूसरोंको दुःख भोगते हुए देखता हूं तो अनुभव करता हूं कि मैं अभागा हूं; परन्तु वह प्रज्ञा, जो मेरी नहीं है, आनेवाले शुभको देखती है और उसका अनुमोदन करती है।

यह प्रज्ञा क्या है?

यह सर्वोच्च बुद्धिमत्ता है, सर्वोच्च भगवान्‌की बुद्धिमत्ता है। यह वर्तमान, भूत और भविष्यको समान रूपमें देख लेती है। यह समस्त कार्योंके कारण और समस्त कारणोंके कार्य जानती है। वह सारी परिस्थितियोंके जिस योगफलको उनकी समग्रतामें एक साथ देख लेती है वह उसे प्रकृति-का एक उत्कृष्ट प्रयत्न प्रतीत होता है, जो भगवान्‌को अधिकाधिक व्यक्त करने तथा उसे भागवत पूर्णताकी ओर ऊपर ले चलनेके लिये किया जाता है। यही वह शुभ है जो निकट आ रहा है। इसीकी ओर सब बढ़ रहे हैं, इसीलिये सच्ची बुद्धिमत्ता इसे पसन्द करती है।

कारण, हमारा संकीर्ण दृष्टिकोण, हमारा अत्यधिक संकुचित ज्ञान और हमारे पथभ्रान्त वेदन ही हमारे लिये उस चीजको जो उन्नतिकी एक संभावना और अवसर है कष्टमें बदल देते हैं।

और इसका प्रमाण यह है कि ज्यों ही हम इस बातको समझ लेते हैं और इसमें सहयोग देते हैं, हमारा कष्ट दूर हो जाता है।

२३-३-६०

२६ — सर फिलिप सिडनी[1]ने फांसीके तख्तेकी ओर जाते हुए एक अपराधीको देखकर कहा था, "वह देखो, भगवान्‌की कृपासे वंचित सर फिलिप सिडनी जा रहा है।" पर और भी अधिक ज्ञानकी बात होती यदि उन्होंने कहा होता, "वह देखो, भगवान्‌की कृपासे सर फिलिप सिडनी जा रहा है।"

मैं इस सूत्रका अर्थ नहीं समझ पाया।

---

[1]इंगलैंडके एक प्रसिद्ध कवि और असाधारण प्रतिभासंपन्न व्यक्ति।

सर फिलिप सिडनी एक राजनेता और कवि थे, किन्तु जीवनमें सफलता प्राप्त करनेपर भी वे स्वभावसे बड़े नम्र थे। कहा जाता है कि एक अपराधीको फांसीके तख्तेकी ओर ले जाये जाते देखकर उन्होंने यह मशहूर वाक्य कहा था जिसे श्रीअरविन्दने अपने सूत्रमें उद्धृत किया है। इसका उल्था हम यों दे सकते हैं: "भागवत कृपाके बिना यह बात मेरे साथ भी हो सकती थी।" श्रीअरविन्द कहते हैं कि यदि सर फिलिप सिडनी अधिक बुद्धिमान् होते तो कहते : "भगवान्की कृपासे मेरे साथ भी ऐसा हो सकता था।" कारण, भागवत कृपा तो सदा सर्वत्र, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटनाके पीछे मौजूद है, चाहे उस वस्तु या घटनाकी ओर हमारी प्रतिक्रिया कैसी भी क्यों न हो, चाहे वह हमें भली प्रतीत हो या बुरी, विपत्तिकारक लगे या सुखदायी।

यदि सर फिलिप सिडनी योगी होते तो उन्हें मानव एकताका अनुभव होता और उन्होंने प्रत्यक्ष रूपमें यह जान लिया होता कि वे स्वयं या उन्हींकी सत्ताका एक भाग फांसीके तख्तेकी ओर ले जाया जा रहा है। साथ ही, वे यह भी जान लेते कि जो कुछ भी होता है वह भगवान्की कृपासे ही होता है।

३०-३-६०

२७ —— भगवान् बहुत बड़े और निर्दयी 'उत्पीड़क' हैं, क्योंकि वह प्यार करते हैं। तुम इस बातको नहीं समझते, क्योंकि तुमने न तो कृष्णको देखा है और न तुम उनके साथ खेले हो।

"कृष्णके साथ खेलने"का क्या अर्थ है? "भगवान् बहुत बड़े और निर्दयी उत्पीड़क हैं", इसका क्या अभिप्राय है?

कृष्ण अन्तरस्थ भगवान् हैं, वे एक ऐसी भागवत उपस्थिति हैं जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान हैं। वे सर्वोच्च प्रभुके आनन्द और प्रेमका एक सर्वोच्च पक्ष भी हैं। वे मुस्कुराहटपूर्ण दयालुता और क्रीड़ापूर्ण प्रसन्नताकी मूर्ति हैं। वे साथ-ही-साथ खिलाड़ी, खेल और खेलके सारे साथी, तीनों हैं। और चूंकि यह खेल, परिणामों सहित पूर्ण रूपसे जाना हुआ है, सोचा हुआ, इच्छित, व्यवस्थित तथा अपनी समग्रतामें चेतन रूपसे खेला जाता है इसलिये इसमें खेलके आनन्दके सिवाय और किसी चीजके लिये स्थान ही नहीं हो सकता। अतएव "कृष्णको देखने"का

अर्थ है अन्तरस्थ भगवान्‌को देखना, "कृष्णसे खेलने"का अर्थ है अन्तरस्थ भगवान्‌के साथ एक होना तथा उनकी चेतनामें भाग लेना। जब तुम इस स्थितिमें पहुंच जाओ तो तत्काल दिव्य क्रीड़ाके आनन्दमें प्रवेश पा सकते हो। जितना पूर्ण तुम्हारा तादात्म्य होगा उतनी ही पूर्ण तुम्हारी अवस्था होगी।

किन्तु यदि चेतनाका कोई एक कोना सामान्य बोध, सामान्य बुद्धि, सामान्य वेदनको ही बनाये रखे तो तुम दूसरोंके कष्टको देखोगे, तुम इस क्रीड़ाको, जो कि इतने कष्टका कारण होती है, बहुत निर्दयतापूर्ण पाओगे और तब अन्तमें कहोगे कि जो भगवान् इस प्रकारकी क्रीड़ामें आनन्द लेते हैं वे निश्चय ही भयानक उत्पीड़क होंगे; किन्तु दूसरी ओर, जब तुम भगवान्‌के साथ तादात्म्य प्राप्त कर चुको, तो उस विशाल एवं अद्भुत प्रेमको नहीं भूल सकते जो वे अपनी क्रीड़ामें घोलते हैं, और तब तुम यह समझ जाते हो कि हमारी दृष्टिकी ससीमता ही हमें ऐसा निर्णय करनेके लिये प्रेरित करती है और यह कि वे एक दयालु उत्पीड़क नहीं बल्कि महान् और दयालु प्रेम हैं जो जगत् और मनुष्योंको उनकी प्रगतिशील यात्रामें द्रुततम मार्गोंके द्वारा पूर्णताकी ओर ले जाता है; यद्यपि यह पूर्णता सदा सापेक्ष होती है तथा इसे सदैव पार किया जाता है।

किन्तु एक दिन ऐसा आयगा जब प्रगति-पथपर आगे चलनेके लिये इस ऊपरी कष्टकी आवश्यकता नहीं रहेगी, जब उन्नति अधिकाधिक सामंजस्य और आनन्दके साथ साधित हो सकेगी।

६-४-६०

२८ — किसीने कहा था कि नेपोलियन एक निरंकुश शासक तथा बहुत बड़े हत्यारे थे; परन्तु मैंने सशस्त्र भगवान्‌को यूरोपभरमें विचरण करते हुए देखा।

क्या ये सब युद्ध पृथ्वीके विकासके लिये आवश्यक हैं?

मानव विकासकी एक विशेष अवस्थामें युद्ध अनिवार्य हैं। प्रागैतिहासिक युगमें समूचा जीवन ही युद्ध था और हमारे समयतक भी मानव इतिहास युद्धोंकी एक लंबी कहानी है। युद्ध चेतनाकी एक ऐसी अवस्थाका स्वाभाविक परिणाम है जो जीवनके लिये संघर्ष और अहंभावयुक्त उग्रतासे शासित है। और वर्तमान समयमें, मनुष्योंके द्वारा शान्तिके लिये कुछ

प्रयत्न किये जानेपर भी, अभीतक हमें कोई चीज यह निश्चयता नहीं दिला सकती है कि अब युद्ध एक अनिवार्य विपत्ति नहीं है। वस्तुतः, चाहे खुले रूपमें हो या न हो, इस समय भी पृथ्वीके कई स्थलोंपर युद्धकी अवस्था नहीं है क्या?

यह भी ठीक है कि पृथ्वीपर जो कुछ होता है वह अनिवार्य रूपसे उसे उन्नतिकी ओर ले जाता है। अतएव युद्ध साहस, सहनशीलता और निर्भीकताके विद्यालय हैं। ये एक ऐसे भूतकालका नाश करनेमें उपयोगी हो सकते हैं जो अपना समय पूरा होनेपर भी विलीन होकर अपना स्थान नयी वस्तुओंको देनेसे इंकार करता है। युद्ध पृथ्वीको किसी आक्रमण-कारी और विनाशक जातिसे मुक्त करनेका साधन भी हो सकता है ताकि न्याय और सत्यका शासन स्थापित हो सके। कुरुक्षेत्रका युद्ध इसका उदाहरण है। युद्ध संकटको उपस्थित करके एक अत्यधिक तामसिक चेतनाकी जड़ताको भी झकझोर सकता है तथा सुप्त शक्तियोंको जगा सकता है। और अन्तमें, यह शान्ति और युद्धके भेद तथा युद्ध-कालके तथा उसके पीछे होनेवाले भयंकर दुष्परिणामोंके द्वारा मनुष्योंको एक ऐसा प्रभावकारी साधन ढूंढनेको प्रेरित कर सकता है जिसके द्वारा रूपांतरका यह बर्बर और हिंसक रूप अनावश्यक कर दिया जाय।

कारण, पार्थिव विकासमें जो कुछ अनावश्यक होता है वह स्वयं ही समाप्त हो जाता है।

१३-४-६०

> आपने कहा है: "ये (युद्ध) एक ऐसे भूतकालका नाश करनेमें उपयोगी हो सकते हैं जो अपना समय पूरा होनेपर भी विलीन होकर अपना स्थान नयी वस्तुओंको देनेसे इंकार करता है।" अब जब कि अतिमानस पृथ्वीपर अवतरित हो चुका है, क्या जगत्की वर्तमान अवस्थाको बदलनेके लिये युद्धकी आवश्यकता पड़ेगी?

सब कुछ राष्ट्रोंकी ग्रहणशीलतापर निर्भर होगा। यदि वे व्यापक रूपसे तथा शीघ्र ही नयी शक्तियोंके प्रभावके प्रति अपने-आपको खोल दें और काफी जल्दी अपनी धारणाओं तथा अपने कार्योंको बदल दें तो युद्ध टल सकता है। किंतु अभी तो यह हर समय संकटके रूपमें ऊपर मंडराता रहता है और प्रत्येक भूल, चेतनाकी प्रत्येक अस्पष्टता इस संकटको बढ़ा रही है।

फिर भी अंतिम विश्लेषणमें, प्रत्येक वस्तु वस्तुतः, भागवत कृपापर ही निर्भर है और हमें भविष्यकी ओर विश्वास और शांतिपूर्वक देखना चाहिये, साथ ही जितनी तेजीसे हो सके प्रगति करते चलना चाहिये।

१५-४-६०

२९ —मैं भूल गया हूं कि पाप क्या है और पुण्य क्या; मैं तो केवल भगवान्‌को, जगत्‌के अन्दर उनकी लीलाको तथा मानवताके अन्दर उनकी इच्छाको ही देख पाता हूं।

यदि सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे होता है तो व्यक्तिकी इच्छाकी क्या उपयोगिता है?

विश्वमें और विशेषतया पृथ्वीपर प्रत्येक वस्तु भागवत योजनाका एक अंग है, यह योजना प्रकृतिद्वारा कार्यान्वित की जाती है। इसे चरितार्थ करनेमें प्रत्येक वस्तुकी आवश्यकता पड़ती है। वैयक्तिक इच्छा प्रकृतिके कार्य करनेका एक साधन है जो उसके कार्यके लिये अनिवार्य है। अतएव वैयक्तिक इच्छा एक तरहसे भागवत इच्छाका ही अंग होती है।

फिर भी इसे ठीक प्रकार समझनेके लिये व्यक्तिको संकल्प शब्दको दिये गये अर्थको भली-भांति जान लेना चाहिये।

संकल्प, जैसा कि उसके बारेमें सोचा जाता है, एक ऐसा विचार है जो अपने-आपको विकसित कर रहा है और जिसके साथ शक्ति — चरितार्थताकी शक्ति — भी जोड़ी जाती है, जिसके साथ कार्यकारिणी प्रेरणा भी होती है। यह मानव इच्छाकी व्याख्या है। भागवत इच्छा दूसरी चीज है। यह एक दृष्टि है जिसमें उपलब्धिकी क्षमता जुड़ी होती है। भागवत इच्छा सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, यह अदम्य है और तत्काल कार्य करती है।

मानवीय इच्छा अनिश्चित है, इसमें प्रायः ही उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। विरोधी इच्छाओंके साथ इसका सदा संघर्ष चलता रहता है। यह प्रभावकारी तभी होती है जब किसी-न-किसी कारणसे प्रकृतिकी इच्छाके अनुकूल हो जो स्वयं भागवत इच्छाका दूसरा रूप है या जो स्वयं भगवान्‌के अनुकूल होती है और यह भागवत कृपा या योगका परिणाम होता है।

अतएव कहा जा सकता है कि वैयक्तिक इच्छा एक ऐसा साधन है

जिसे भगवान् हमें अपनी ओर वापिस ले जानेके लिये प्रयुक्त करते हैं।
२०-४-६०

३० — मैंने एक शिशुको कीचड़में लोटते देखा और फिर उसी बच्चेको उसकी मांके नहला देनेपर स्वच्छ और समुज्ज्वल देखा, पर प्रत्येक बार उसकी नितान्त पवित्रताको देखकर मैं कांप उठा।

क्या बड़े होनेपर भी बच्चा इस पवित्रताको बनाये रख सकता है?

सिद्धांत रूपमें यह असंभव बात नहीं है। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो शहरों, सभ्यताओं और संस्कृतियोंसे दूर जन्म लेते हैं, और वे अपने पार्थिव शरीरके समस्त जीवनकालमें इस सहज पवित्रताको, उस आत्माकी पवित्रताको जो मनकी क्रियासे आच्छादित नहीं होती, बनाये रखते हैं।

कारण, यहां श्रीअरविंद जिस पवित्रताकी बात करते हैं वह सहज प्रवृत्तिकी पवित्रता है जो स्वभाववश प्रकृतिकी प्रेरणाकी आज्ञाके अनुसार चलती है। यह न कोई हिसाब करती है, न प्रश्न और न ही कभी यह पूछती है कि यह चीज अच्छी है या बुरी, कोई कार्य अच्छा है या बुरा, यह पुण्य है या पाप, या परिणाम अनुकूल होगा या प्रतिकूल। ये सब विचार तब सामने आते हैं जब मानसिक अहंभाव प्रकट होकर चेतनामें ऊंचे आसनपर विराजमान होना शुरू कर देता है और आत्माकी सहज स्वाभाविकताको ढक देता है।

आधुनिक "सभ्य" जीवनमें माता, पिता और शिक्षक, अपनी व्यावहारिक और तर्क-संगत "अच्छी सलाह" के द्वारा बहुत जल्दी इस स्वाभाविकताको दबा देते हैं जिसे वे अचेतना कहते हैं और उसके स्थानपर एक मानसिक अहंभावकी स्थापना कर देते हैं जो अत्यंत छोटा, संकीर्ण एवं ससीम होता है, जो अपनी ओर ही मुड़ा रहता है और भ्रांति, पाप और दंडके विचारोंसे या फिर निजी स्वार्थ, लाभ — और गणनाके विचारोंसे भरा रहता है। इस सबका अनिवार्य परिणाम यह निकलता है कि दबाव, डर और अपना औचित्य सिद्ध करनेकी प्रवृत्तिसे प्राणिक कामनाएं बढ़ जाती हैं।

फिर भी, यदि तुम पूर्ण बनना चाहते हो तो यह कहा जा सकता है कि चूंकि मनुष्य एक मनोमय प्राणी है उसे अपने विकासक्रममें इस अव-

चेतना और सहज पवित्रताका, जो कि पशुकी स्वाभाविक विशुद्धताके समान है, आवश्यक रूपसे त्याग कर देना चाहिये। और फिर मानसिक वक्रता और अशुद्धताके अनिवार्य कालमेंसे होते हुए मनके ऊपर उठना चाहिये और दिव्य चेतनाकी उच्चतर और प्रकाशमान पवित्रतामें प्रवेश करना चाहिये।

२७-४-६०

३१ — जिस चीजको मैं चाहता था कि सत्य हो या समझता था कि सत्य है, वह नहीं होती; इसलिये यह स्पष्ट है कि संसारको परिचालित करनेवाली कोई सर्वज्ञ सत्ता नहीं है बल्कि केवल एक अंधी आकस्मिकता अथवा एक कठोर कार्य-कारण-परंपरा है।

कुछ व्यक्तियोंके लिये घटनाएं उस बातकी विरोधी होती हैं जिसे वे चाहते हैं या जिसे वे अपने लिये अच्छा समझते हैं। फलस्वरूप प्रायः ही वे निराशा अनुभव करते हैं। क्या उनके विकासके लिये यह बात आवश्यक है?

निराशा कभी भी विकासके लिये आवश्यक नहीं होती, यह सदा दुर्बलता और तमस्‌का चिह्न होती है। यह प्रायः ही एक विरोधी शक्तिकी उपस्थितिकी द्योतक होती है, एक ऐसी शक्तिकी जो जान-बूझकर साधनाके विरोधमें काम करती है।

इसलिये जीवनकी परिस्थितियां चाहे जैसी हों, तुम्हें सदैव निराशासे दूर रहना चाहिये और फिर मलिन, उदास और हताश रहनेकी यह आदत वस्तुतः परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं होती, बल्कि यह प्रकृतिमें विश्वास न होनेसे उत्पन्न होती है। जिस व्यक्तिमें विश्वास होता है, चाहे वह केवल अपने ऊपर ही क्यों न हो, वह सब कठिनाइयोंका, सब परिस्थितियोंका, अत्यधिक विपरीत परिस्थितियोंका भी, बिना निरुत्साहित या निराश हुए, सामना कर सकता है। वह अन्ततक मर्दानगीके साथ संघर्ष करता रहता है। जिन व्यक्तियोंकी प्रकृतिमें विश्वास नहीं होता उन्हींमें सहनशीलता और साहसका भी अभाव होता है। श्रीअरविन्द हमें बताते हैं कि मनुष्योंके लिये उनके भौतिक जीवनकी थोड़ी-बहुत सफलता व्यक्ति और वैश्व भौतिक प्रकृतिके बीचके थोड़े-बहुत समन्वयपर निर्भर करती है। कुछ

लोगोंकी इच्छा-शक्ति सहज भावमें ही प्रकृतिकी इच्छा-शक्तिके अनुरूप होती है और ये लोग जिस कामको अपने हाथमें लेते हैं उसीमें सफल होते हैं। इसके विपरीत, कुछ ऐसे लोग हैं जिनकी इच्छा-शक्ति वैश्व प्रकृतिका लगभग पूरी तरहसे विरोध करती है। ऐसे लोग जो कुछ करना चाहें उसीमें असफल होते हैं।

जहांतक विकासकी आवश्यकताका प्रश्न है, एक ऐसे संसारमें जो विकसित हो रहा है सभी चीजें आवश्यक रूपमें विकासके लिये सहायक होती हैं। किन्तु वैयक्तिक विकास अनेक जीवनों और अनगिनत अनुभवोंमेंसे होता हुआ आगे बढ़ता है। तुम केवल एक जन्म और एक मृत्युके बीचके जीवनके आधारपर मूल्यांकन नहीं कर सकते। समूची दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह निश्चित है कि असफलता और पराजयका जीवन भी आत्माके विकासके लिये उतना ही उपयोगी होता है जितना कि सफलता और विजयके जीवनका अनुभव। सब मिलाकर यह तो निश्चित है कि वह एक उदासीन जीवनसे अधिक उपयोगी होता है, उस जीवनसे जो सामान्य मनुष्योंमें देखनेमें आता है जिसमें सफलता और असफलता, तुष्टि और उसका भ्रम, दुःख और सुख बारी-बारीसे आते हैं और परस्पर मिश्रित हो जाते हैं। ऐसा जीवन व्यक्तिको स्वाभाविक प्रतीत होता है, और उसमें बड़े प्रयत्नोंकी आवश्यकता नहीं होती।

४-५-६०

३२ — अनीश्वरवादी वह भगवान् है जो अपने ही साथ आंख-मिचौली खेलता ह; परन्तु ईश्वरवादी क्या उससे भिन्न है? है, संभवतः; क्योंकि उसने भगवान्‌की छाया देखी है और उसे पकड़ा भी है।

"भगवान् अपने ही साथ आंख-मिचौली खेलते हैं", इसका क्या अर्थ है?

आंख-मिचौलीके खेलमें एक छुप जाता है और दूसरा उसे ढूंढता है। इसी प्रकार भगवान् नास्तिकसे छुप जाते हैं, और वह कहता है: "भगवान्? मैं उसे नहीं देखता, मुझे नहीं पता वह कहां है; इसलिये, उसका अस्तित्व ही नहीं है।" किन्तु नास्तिक यह नहीं जानता कि भगवान् उसके अन्दर भी हैं और इसलिये भगवान् ही स्वयं अपने अस्तित्वको

अस्वीकार कर रहे हैं। क्या यह एक खेल नहीं है? फिर भी एक ऐसा दिन आयेगा जब वह भगवान्‌के सामने उपस्थित होगा और उसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भगवान्‌का अस्तित्व है।

भगवान्‌में विश्वास करनेवाला अपने-आपको नास्तिकसे बहुत ऊंचा समझता है, किन्तु वह जो कुछ पकड़ पाया है वह केवल भगवान्‌की परछाईं ही है और वह उसीसे चिपटा हुआ सोचता है कि यही स्वयं भगवान् हैं। कारण, यदि उसने सचमुच भगवान्‌को जाना होता तो वह यह भी जान लेता कि भगवान् सब कुछ हैं और सब वस्तुओंमें हैं। तब वह अपने-आपको किसी औरसे ऊंचा समझना छोड़ देता।

११-५-६०

३३ — ऐ प्रेमिक! आघात कर! यदि तू इस समय मुझपर आघात नहीं करता तो मैं यही समझूंगा कि तू मुझे प्यार नहीं करता।

मैं इस सूत्रको भली प्रकार समझ नहीं पाया हूं।

वे सब लोग जो दिव्य पूर्णताके लिये अभीप्सा करते हैं यह जानते हैं कि जो आघात भगवान् अपने असीम प्रेम और कृपाके कारण हमें पहुंचाता है वे हमारी उन्नतिके सबसे अधिक निश्चित और द्रुत मार्ग हैं। उन्हें लगता है कि आघात जितना अधिक कठोर होगा भागवत प्रेम उतना ही अधिक होगा।

इसके विपरीत, सामान्य मनुष्य भगवान्‌से सदा एक सरल, अनुकूल और सफल जीवनकी मांग करते हैं। वैयक्तिक तुष्टिमें ही वे भगवान्‌की दयालुताका संकेत देखते हैं और, इसके विपरीत, यदि उन्हें अपने जीवनमें असफलता और दुर्भाग्यका सामना करना पड़े तो वे शिकायत करते हैं और भगवान्‌से कहते हैं: "तुम मुझसे प्रेम नहीं करते!"

इस अज्ञानपूर्ण और गंवारू वृत्तिके विरुद्ध श्रीअरविन्द अपने 'प्रिय'से कहते हैं: "आघात कर, कठोर आघात कर, ताकि मेरे प्रति तेरे प्रेमकी तीव्रता मुझे अनुभव हो।"

१९-५-६०

३४ — ऐ दुर्भाग्य! तू धन्य है; तेरी ही सहायतासे मैंने अपने परम प्रेमीका मुखमंडल देखा है।

यदि दुर्भाग्यके द्वारा ही व्यक्ति भगवान्‌का मुंह देखता है तो वह फिर दुर्भाग्य नहीं रहेगा। क्या यह ठीक नहीं है?

स्पष्ट ही, यह दुर्भाग्य होनेकी जगह आशीर्वाद होगा। और ठीक यही बात श्रीअरविन्द कहना चाहते हैं।

जिन घटनाओंकी हम प्रतीक्षा नहीं करते, जिनकी हम आशा या इच्छा नहीं करते, जो हमारी इच्छाओंके विरुद्ध होती हैं उन्हें ही हम अज्ञानवश दुर्भाग्य कहते हैं और फिर रोते-धोते हैं। किन्तु यदि हम जरा अधिक बुद्धिमान बनकर इन घटनाओंके गंभीर परिणामोंका निरीक्षण करें तो पता चलेगा कि ये हमें अपने भगवान्‌की ओर, अपने प्रियकी ओर, शीघ्र ले जाती हैं, जब कि सुखकर और सुगम परिस्थितियां हमें रास्तेपर घसीटनेके लिये उत्साहित करती हैं, जो सुखके फूल मार्गमें पड़ते हैं उन्हें चुनने के लिये हमें वहीं रोक देती हैं। हम अत्यधिक दुर्बल हैं और इतने सच्चे नहीं हैं कि उन्हें पूरे संकल्पके साथ अस्वीकार कर दें ताकि वे हमें आगे बढ़नेसे रोक न सकें।

यदि व्यक्ति बिना डगमगाये अपनी सफलता और उससे संबंधित सब सुखोंमें स्थिर रहना चाहता है तो उसे काफी मजबूत होनेके साथ-साथ रास्तेपर काफी आगे बढ़ा हुआ भी होना चाहिये। किन्तु जो लोग मजबूत होते हैं, वे सफलताके पीछे नहीं दौड़ते, न उसकी चाह करते हैं, वरन् वे उदासीनताके साथ इसे स्वीकार करते हैं। कारण, वे दुःख और दुर्भाग्यके कोड़ोंका मूल्य जानते हैं।

किंतु सब कुछ देख लेनेपर सच्ची वृत्ति होगी आत्माकी पूर्ण समता, जो हमें सफलता और असफलताको, सौभाग्य और दुर्भाग्यको, प्रसन्नता और अप्रसन्नताको समान रूपसे शांतिपूर्ण आनंदके साथ स्वीकार करनेके योग्य बनाती है। यह वृत्ति इस बातका चिह्न और प्रमाण है कि व्यक्ति अपने लक्ष्यके निकट है। कारण, तब सब चीजें हमारे लिये ऐसे चमत्कारपूर्ण उपहार बन जाती हैं जिन्हें प्रभु अपनी असीम हित-चिंताके भावमें हमपर बरसाता है।

२५-५-६०

३५ — मनुष्य अब भी दुःख-दर्दसे आसक्त हैं; जब वे देखते हैं कि कोई व्यक्ति हर्ष या शोकसे बहुत ऊपर उठ गया है तो वे उसे अभिशाप देते और चिल्लाकर कहते हैं: "ओ, तू तो जड़-पत्थर है!" इसी कारण ईसामसीह आज भी यरुसलममें शूलीपर झूल रहे हैं।

३६ — मनुष्य पापसे आसक्त हैं; जब वे देखते हैं कि कोई व्यक्ति पाप या पुण्यसे बहुत परे चला गया है तो वे उसे अभिशाप देते और चिल्लाकर कहते हैं: "ओ, तू तो सब बन्धन छिन्न करनेवाला है; तू तो दुष्ट और दुराचारी है!" इसी कारण अभीतक श्रीकृष्ण वृन्दावनमें वास नहीं करते।

मैं इन दो सूत्रोंका अर्थ जानना चाहता हूं।

जब ईसा पृथ्वीपर आये तो वे अपने साथ भ्रातृत्व, प्रेम और शांतिका संदेश लाये। उन्हें दुःख सहते हुए सूलीपर प्राण देने पड़े, ताकि उनका संदेश सुना जाय। कारण, मनुष्य दुःख और घृणाका पोषण करते हैं और चाहते हैं कि उनका भगवान् उनके साथ ही कष्ट पाये। जब ईसा धरतीपर आये तब भी मनुष्य दुःखको चाहते थे और उनकी शिक्षा और उनके बलिदानके बावजूद वे अभीतक उसे ही चाहते हैं। वे दुःखसे इतने चिपटे हुए हैं कि उसके प्रतीकस्वरूप ईसा सदा ही सूलीपर टंगे रहते हैं और लोगोंकी मुक्तिके लिये स्वयं सदा कष्ट पाते रहते हैं।

कृष्ण पृथ्वीपर मुक्ति और आनंद लानेके लिये आये। वे मनुष्योंको, उन मनुष्योंको जो प्रकृतिके तथा अपनी लालसाओं और दोषोंके दास हैं, यह कहनेके लिये आये कि यदि वे सर्वोच्च प्रभुमें शरण लें तो वे समस्त दासता और समस्त पापोंसे मुक्त हो जायंगे। किंतु वे अपने पापों और पुण्योंसे बहुत अधिक चिपटे हुए हैं, (क्योंकि बिना पापके पुण्य भी नहीं रह सकता) वे अपने पापोंसे प्रेम करते हैं और यह सह नहीं सकते कि कोई मुक्त होकर समस्त दोषोंसे ऊपर उठ जाय।

इसीलिये कृष्ण, यद्यपि वे अमर हैं, वर्तमान समयमें वृन्दावनमें सशरीर मौजूद नहीं हैं।

३-६-६०

३७ — कुछ लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण कभी हुए ही नहीं,

वह तो एक कल्पित व्यक्ति हैं। उनके कहनेका मतलब है कि वह पृथ्वीपर कभी नहीं हुए; क्योंकि वृन्दावन यदि कहीं न रहा होता तो भागवत भी न लिखी जाती।

वृन्दावन यदि पृथ्वीपर नहीं तो क्या कहीं और है?

समूची पृथ्वी अपने अंदरकी सब वस्तुओंसहित, एक प्रकारका घनरूप है, एक ऐसी चीजका घनरूप जिसका अस्तित्व उन जगतोंमें है जिन्हें हमारी स्थूल आंखें नहीं देख पातीं। प्रत्येक अभिव्यक्त वस्तु सूक्ष्मतर लोकमें किसी जगह अपना एक मूल तत्त्व, एक विचार या सार-तत्त्व रखती है। यह अभिव्यक्तिकी एक अनिवार्य शर्त्त है। और अभिव्यक्तिका महत्त्व सदैव अभिव्यक्त वस्तुके स्रोतपर निर्भर रहता है।

देवताओंके जगत्में एक ऐसे आदर्श और सामंजस्यपूर्ण वृन्दावनका अस्तित्व है जिसका पृथ्वीका वृन्दावन केवल एक विकृत और हास्यजनक रूप है।

जिन लोगोंका आंतरिक विकास हो चुका है, चाहे वह इंद्रियोंका हो या आत्माका, वे इन सत्योंको जिन्हें एक सामान्य मनुष्य नहीं देख पाता देखते हैं और उनसे प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

अतएव, भागवतके लेखक एक हों या अनेक, निश्चय ही एक सुन्दर, अति वास्तविक और सच्चे आंतरिक जगत्के साथ संबंध रखते हैं। इन लेखकोंने जो कुछ वर्णन या अभिव्यक्त किया है वह सभी उन्होंने इसी जगत्में देखा और अनुभव किया था।

कृष्ण मनुष्यके शरीरमें मौजूद थे या नहीं, यह एक बड़ी गौण बात है (शायद बिलकुल ऐतिहासिक दृष्टिसे इसका महत्त्व हो सकता है), क्योंकि कृष्ण एक वास्तविक सत्ता हैं, सजीव और कार्यरत। और उनका प्रभाव पृथ्वीके विकास और रूपांतरमें एक बड़ा भारी तथ्य रहा है।

८-६-६०

३८ — आश्चर्य! जर्मनोंने ईसाके अस्तित्वका ही खण्डन कर डाला; फिर भी उन्हें फांसीपर चढ़ानेकी बात आज भी सीजर-की मृत्युसे कहीं अधिक बड़ी ऐतिहासिक घटना बनी हुई है।

ईसा चेतनाके किस स्तरपर निवास करते थे?

'गीता-प्रबन्ध' नामक पुस्तकमें श्रीअरविन्द तीन अवतारोंकी चर्चा करते हैं, उनमेंसे एक ईसा हैं। अवतार परम प्रभुकी विभूति होता है जो पृथ्वी-पर मानव शरीर धारण करता है। मैंने स्वयं श्रीअरविन्दको यह कहते हुए सुना था कि ईसा भगवान्के प्रेमके एक पक्षकी विभूति थे।

सीजरकी मृत्युने रोमके और उसपर निर्भर दूसरे देशोंके इतिहासमें एक निश्चयात्मक परिवर्तन दर्शाया है। इसलिये वह यूरोपके इतिहासमें एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

किन्तु ईसाकी मृत्यु मानवी सभ्यताके विकासमें एक नये चरणका प्रारंभिक बिन्दु रही है। इसी कारण श्रीअरविन्द हमें बताते हैं कि ईसा-की मृत्यु इतिहासमें अधिक अर्थपूर्ण है। दूसरे शब्दोंमें, सीजरकी मृत्युसे इस बातके ऐतिहासिक परिणाम अधिक बड़े हैं। ईसाका इतिहास, जैसा कि सुनाया जाता है, भगवान्के बलिदानका एक मूर्त और नाटकीय प्रतीक है। परम प्रभु, जो सर्वप्रकाशवान्, सर्वज्ञानी, सर्वशक्तिमान्, सर्वसुन्दर, सर्वप्रेममय और सर्व-आनन्दपूर्ण हैं, मानव अज्ञान और दुःखके स्थूल आवरणको धारण करना स्वीकार करते हैं, केवल इसलिये कि मनुष्य उस मिथ्यात्वसे निकल आयें जिसमें वे निवास करते हैं और जिसके कारण ही वे मृत्युको प्राप्त होते हैं।

१६-६-६०

३९ — कभी-कभी हम ऐसा समझने लगते हैं कि केवल वे ही चीजें वास्तवमें मूल्य रखती हैं जो कभी नहीं हुईं; क्योंकि उनके सामने सबसे बड़ी ऐतिहासिक सफलताएं भी प्रायः निस्तेज और प्रभावहीन प्रतीत होती हैं।

मैं इस सूत्रका अर्थ समझना चाहता हूं।

श्रीअरविन्दने इतिहासका गहन अध्ययन किया था, वे जानते थे कि जिस सामग्रीसे इसका निर्माण हुआ है वह किस हदतक अनिश्चित होती है। अधिक बार तो प्रलेखोंकी यथार्थतामें ही सन्देह होता है और जो जानकारी ये देते हैं वह क्षुद्र, अपूर्ण, तुच्छ और प्रायः ही विकृत होती है। सब मिलाकर, आजका प्रामाणिक मानव इतिहास आक्रमणों, युद्धों, क्रान्तियों, नरहत्याओं और उपनिवेशीकरणकी एक लम्बी और कभी न सामाप्त होने-वाली कहानी है। यह भी सच है कि इनमेंसे कुछ आक्रमण और हत्याएं

चाटुकारिताके शब्दों और गुणोंसे विभूषित कर दी गयी हैं। ये धर्म-युद्धों, पवित्र युद्धों और सभ्यता सिखानेवाले संग्रामोंके नामसे पुकारी जाती रही हैं, पर यह सब होते हुए भी हैं लोलुपता और प्रतिकारके कर्म ही।

इतिहासमें हमें सांस्कृतिक, कलात्मक या दार्शनिक विकासका वर्णन कभी-कदास ही मिलता है।

इसीलिये श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह सब मिलाकर एक निराशाजनक वस्तु है जिसका कोई गंभीर अर्थ नहीं।

दूसरी ओर, उन तथ्यों और घटनाओंकी पौराणिक कहानियोंमें, जिनका शायद पृथ्वीपर कभी अस्तित्व नहीं रहा, जिन्हें अधिकृत विज्ञानने प्रामाणिक घोषित नहीं किया, उन लोगोंकी कहानियोंमें, जिनके बारेमें शुष्क बुद्धिवाले विद्वान् शंका करते हैं, हमें मनुष्यकी समस्त आशाओं और अभीप्साओंका स्वच्छ रूप देखनेको मिलता है, उन्हींमें चामत्कारिक और वीरतापूर्ण तथा उत्कृष्ट कार्योंका स्वाद पाया जाता है। उनमें व्यक्तिको उस सबका वर्णन मिलता है जो वह बनना चाहेगा, या जैसा बननेकी वह चेष्टा कर रहा है।

मोटे तौरपर यह वही बात है जो श्रीअरविन्द इस सूत्रमें कहना चाहते हैं।

२२-६-६०

४० — इतिहासकी चार अत्यन्त महान् घटनाएं हैं — 'ट्राय'[1] नगरका घेरा, ईसाका जन्म और उनका सूलीपर चढ़ना, वृन्दावनमें कृष्ण निर्वासन और कुरुक्षेत्रकी रणभूमिपर अर्जुनके साथ उनका संवाद। ट्रायके घेरेने हेलास[2]-को उत्पन्न किया, वृन्दावनमें निर्वासनके कारण भक्ति मार्गका उदय हुआ (क्योंकि उससे पहले केवल ध्यान-धारणा और पूजा-अर्चना थी), ईसाने अपने फांसीके तख्तेपरसे यूरोपको मानव बनाया, कुरुक्षेत्रका वार्तालाप अब भी मनुष्यको मुक्ति प्रदान करेगा। फिर भी कहा जाता है कि इन चारोंमेंसे कोई भी घटना कभी घटी ही नहीं।

---

[1]यूनानके पुराणोंमें वर्णित प्रियम देशकी राजधानी।

[2]यूनान देशको ही प्राचीन कालमें 'हेलास' कहते थे।

१ — क्या पुराने समयका ध्यान और पूजा-पाठ हमारे समयके ध्यान और पूजा-पाठके समान था?

२ — "कुरुक्षेत्रका वार्तालाप अब भी मनुष्यको मुक्ति प्रदान करेगा", इसका क्या अर्थ है?

१ — पुराने समयमें, जैसा अब भी होता है, प्रत्येक धर्मके ध्यान और पूजाके अपने विशेष ढंग होते थे। पर सर्वत्र और सदा ध्यान मानसिक क्रिया और एकाग्रताकी एक विशेष पद्धति माना जाता रहा है। केवल उसकी क्रियाओं और छोटी-छोटी बातोंमें भेद होता है। पूजाका अर्थ है वे धार्मिक उत्सव और उपचार जो एक सूक्ष्म और पूर्ण यथार्थताके साथ किसी देवताके सम्मानमें किये जाते हैं।

यहां श्रीअरविन्द प्राचीन भारतकी वैदिक और वैदांतिक समयकी पूजा और ध्यानकी बात कह रहे हैं।

२ — कुरुक्षेत्रके वार्तालापसे उनका मतलब भगवद्‌गीतासे है। श्री-अरविन्दका विचार है कि गीताका सन्देश उस महान् आध्यात्मिक आंदोलन-का आधार है जिसने मानवजातिको मुक्तिका मार्ग दिखाया है तथा जो मुक्तिकी ओर अर्थात् मिथ्यात्व और अज्ञानसे मुक्ति और सत्यकी ओर ले जायगा।

जबसे गीता प्रकट हुई है तभीसे उसने एक बहुत बड़ा आध्यात्मिक कार्य किया है। किन्तु उसकी जो नयी व्याख्या श्रीअरविन्दने की है उसका प्रभाव अब बहुत अधिक बढ़ गया और उसने एक निश्चयात्मक रूप धारण कर लिया है।

२९-६-६०

४१ — कहते हैं कि ईसाकी कहानी जालसाजी है और कृष्ण कवियोंकी सृष्टि हैं। तब तो इस जालसाजीके लिये भगवान्‌को धन्यवाद दो और उन आविष्कर्ताओंके सामने नतमस्तक हो जाओ।

ईसाके उपदेशोंने मनुष्यके जीवनमें कौन-सा कार्य किया है?

ये उपदेश ईसाई धर्मके प्रारंभिक बिन्दु थे, ये संसारमें क्या लाये इसके जाननेके लिये ईसाई धर्मके विकास और उसके जीवनका ऐतिहासिक और

मनोवैज्ञानिक हाल देना होगा, साथ ही इसने पृथ्वीपर क्या कार्य किया है यह भी बताना होगा। यह सब लम्बा हो जायगा और यहां प्रासंगिक भी नहीं होगा।

मैं केवल इतना ही कह सकती हूं कि इन उपदेशोंके लेखकोंने ईसाकी शिक्षाको लोगोंके सामने यथार्थ रूपमें पुन: प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की है और इस सन्देशको लोगोंतक पहुंचानेमें उन्हें कुछ हदतक सफलता भी मिली है। यह शान्ति, भ्रातृत्व और प्रेमका सन्देश है।

किन्तु जो रूप लोगोंने इस सन्देशको दिया है उसके बारेमें चुप रहना ही अधिक अच्छा है।

६-७-६०

४२ — यदि भगवान् मेरे लिये नरकमें स्थान निश्चित कर दें तो मैं नहीं जानता कि मुझे स्वर्गके लिये क्यों अभीप्सा करनी चाहिये। भगवान् जानते हैं कि मेरी भलाईके लिये सबसे उत्तम क्या है।

क्या स्वर्ग और नरकका अस्तित्व है?

स्वर्ग और नरक एक ही साथ सत्य और मिथ्या दोनों हैं। उनका अस्तित्व है भी और नहीं भी।

मानव विचार सर्जनकारी है। वह मानसिक और प्राणिक तत्त्वको, बल्कि सूक्ष्म-भौतिक तत्त्वको भी थोड़े-बहुत स्थायी आकार प्रदान करता है। ये आकार वास्तविककी अपेक्षा ज्यादा छाया रूप होते हैं किन्तु उन लोगोंके लिये जो इनके बारेमें सोचते हैं और उनके लिये तो और भी अधिक जो उनपर विश्वास करते हैं, इनका अस्तित्व इतना मूर्त होता है कि उन्हें इनके सच्चे होनेकी भ्रान्ति हो जाती है। जिन धर्मोंमें नरक और स्वर्गका या विभिन्न प्रकारके स्वर्गोंका अस्तित्व माना जाता है उनके अनुयायियोंके लिये ये चीजें बाह्य रूपमें भी अपना अस्तित्व रखती हैं और अपनी मृत्युके बाद वे थोड़े-बहुत लम्बे समयके लिये वहां जा भी सकते हैं। किन्तु ये केवल मानसिक रचनाएं होती हैं जिनमें स्थायित्व नहीं होता, न नित्य सत्यता ही होती है।

मैंने उन स्वर्गों और नरकोंको देखा है जहां लोग मृत्युके बाद जाते हैं और उन्हें यह समझाना बड़ा कठिन होता है कि यह सच नहीं है।

एक बार मुझे किसीको यह विश्वास दिलानेमें कि उसका तथाकथित नरक नरक नहीं है और उसे उसमेंसे निकालनेमें एक वर्षसे भी अधिक लग गया था। यहां श्रीअरविन्द जिस नरककी चर्चा करते हैं वह एक स्थानकी अपेक्षा चेतनाकी एक अवस्था अधिक है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिसे व्यक्ति अपने लिये स्वयं उत्पन्न कर लेता है। जैसे तुम अपने अन्दर भगवान्‌के साथ एक आनन्दपूर्ण सम्बन्धका स्वर्ग स्थापित कर लेते हो, उसी प्रकार, यदि तुम अपनी प्रकृतिमें आसुरिक प्रवृत्तियोंको वशमें करनेकी सावधानी न बरतो तो अपनी चेतनामें दुःख और विध्वंसका नरक लिये फिरोगे।

जीवनमें कुछ ऐसे क्षण आते हैं जब तुम्हारे चारों ओरकी सभी वस्तुएं, चाहे वे व्यक्ति हों या परिस्थितियां, इतनी अस्पष्ट, विरोधी और कुरूप हो उठती हैं कि तुम्हारे अन्दर उच्चतर प्राप्तिकी समस्त आशा लुप्त-सी होती प्रतीत होती है, संसार तुम्हारे लिये एक स्थायी घृणा, अचेतन और दुराग्राही अज्ञान तथा निष्ठुर दुर्भावनाकी अन्धकारमयी रात्रिका रूप धारण कर लेता है और इसका कोई इलाज नहीं दिखायी देता। उस समय तुम श्रीअरविन्दके साथ कह सकते हो, "भगवान्‌ने मेरा स्थान नरकमें निश्चित किया है", और उनके साथ ही तुम्हें सब परिस्थितियोंमें, चाहे वे कितनी ही भयंकर क्यों न प्रतीत होती हों, भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पणके पूर्ण आनन्दमें निवास करना चाहिये और प्रभुसे सच्चे दिलसे यह कहना चाहिये : "तेरी इच्छा पूर्ण हो।"

१३-७-६०

४३ — यदि भगवान् मुझे स्वर्गकी ओर खींचते हों, तो यदि उनका दूसरा हाथ मुझे नरकमें ही रोक रखनेकी चेष्टा करता हो तो भी, मुझे ऊपर उठनेके लिये संघर्ष करना चाहिये।

क्या भगवान्‌को यह नहीं पता कि वे हमारे लिये क्या चाहते हैं? तब वे हमें दो विरोधी दिशाओंमें क्यों खींचते हैं?

भगवान् पूरी तरह जानते हैं कि वे हमारे लिये क्या चाहते हैं। वे हम सबको एक पूर्ण मिलनकी अवस्थामें अपनी ओर लाना चाहते हैं। लक्ष्य सबके लिये एक ही है किन्तु उसतक पहुंचनेके लिये तरीके, ढंग और

क्रियाएं अनगिनत हैं। पृथ्वीपर जितने प्राणी हैं उतनी ही प्रक्रियाएं भी हैं। और इनमेंसे प्रत्येक उन परम प्रभुकी इच्छाकी यथार्थ अभिव्यक्ति है जो अपनी समग्र दृष्टि और पूर्ण बुद्धिमत्तामें प्रत्येकके लिये वही करते हैं जो उसके लिये आवश्यक होता है।

अतः, यदि किसीके अन्दर अपनी अभीप्सा और प्रयत्नको तीव्र बनानेके लिये एक आन्तरिक विरोध या असंगतिकी आवश्यकता होती है तो प्रभु, अपनी असीम कृपाके फलस्वरूप, उस व्यक्तिको ऊपरकी ओर खींचते और उसे अपने-आप ऊपर उठनेकी शक्ति प्रदान करते हैं, पर साथ ही उसे नीचे भी रखते हैं ताकि उसके अन्दर एक आवश्यक प्रतिरोध उत्पन्न हो जाय और इस प्रकार वह अपनी अभीप्सा और प्रयत्नको तीव्र बना सके।

और यदि कोई श्रीअरविन्दके समान यह देख सके कि इन दो क्रियाओंका एक ही दिव्य स्रोत है तो रोने-धोने और डरनेके स्थानपर वह प्रसन्न होगा और एक प्रकाशयुक्त और दृढ़ विश्वासको बनाये रखेगा।

१९-७-६०

४४—केवल वे ही विचार सत्य हैं जिनके विरोधी विचार भी अपने समय और अपने प्रयोगमें सत्य हैं; अकाटच सिद्धांत ही अत्यंत भयंकर प्रकारके असत्य होते हैं।

निर्विवाद मत क्यों सबसे अधिक भयंकर होते हैं?

मन निरपेक्ष, असीम और सनातन सत्यके बारेमें नहीं सोच सकता। वह केवल उसीके बारेमें धारणा बना सकता है जो स्थानीय, अस्थायी, खण्डात्मक और ससीम हो।

इसलिये मानसिक स्तरपर निरपेक्ष सत्य अपने-आपको अनगिनत खण्डात्मक और परस्पर-विरोधी सत्योंमें विभाजित कर देता है जो मूल सत्यकी प्रकृति बनानेका भला या बुरा प्रयत्न करते हैं।

यदि इनमेंसे एक तत्त्व इस समष्टिसे अलग कर दिया जाय और उसे एकमात्र सत्य मान लिया जाय तो, चाहे वह कितना भी केन्द्रीय या व्यापक क्यों न हो, वह अवश्य ही असत्यका रूप धारण कर लेगा। क्योंकि वह समग्र सत्यके शेष भागको अस्वीकार कर देता है।

ठीक इसी ढंगसे निर्विवाद मत बनाये जाते हैं और इसीलिये वे अत्यन्त

भयंकर प्रकारके असत्य होते हैं। क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक इस बातपर आग्रह करता है कि केवल वही एकमात्र सत्य है, बाकी सब सत्य नहीं हैं। ये सत्य जब अभिव्यक्त होते हैं तो अपनी अनेकविध और पूरक समग्रतामें उत्तरोत्तर असीम, सनातन और निरपेक्ष सत्यको व्यक्त करते हैं।

२७-८-६०

४५ — तर्क-शास्त्र सत्यका सबसे बड़ा शत्रु है, जैसे धर्माभिमान पुण्यका सबसे बड़ा शत्रु है; क्योंकि पहला अपनी निजी भूल-भ्रांतियोंको नहीं देख पाता और दूसरा अपनी निजी अपूर्णताओंको।

तर्क-शास्त्र और तर्क-बुद्धिका हमारे जीवनमें क्या कार्य है?

तुम्हारे प्रश्नका जो सबसे अच्छा उत्तर मैं दे सकती हूं वह 'योग-समन्वय' का निम्न उद्धरण है: "तर्क-बुद्धि अपनी समस्त पूर्णतामें एक तार्किक क्रिया है जिसकी विशिष्ट शक्ति सबसे पहले निरीक्षण और व्यवस्थाके द्वारा प्राप्य सामग्रीके बारेमें एक सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर लेती है। उसके बाद वह इसके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले ज्ञानके लिये उस सामग्रीपर क्रिया करती है। यह ज्ञान उसे चिन्तन शक्तियोंके प्रारंभिक प्रयोगसे प्राप्त होता है तथा उसीके द्वारा सुनिश्चित एवं विस्तृत भी बनता है। अंतमें वह इस बातका निश्चय कर लेती है कि प्राप्त परिणाम ठीक हैं या नहीं, ऐसा वह एक सावधानीसे किये गये औपचारिक कार्यके द्वारा करती है जो अधिक जागरूक, विचारपूर्ण और कठोर रूपसे तार्किक होता है। यह कार्य उन परिणामोंको कसौटीपर कसता है, अस्वीकार करता है या उनकी पुष्टि करता है। ऐसा करते समय वह उन सुरक्षित मानदंडों और प्रक्रियाओंका प्रयोग करता है जो विचार और अनुभवद्वारा विकसित किये जाते हैं। अतएव तार्किक बुद्धिका पहला कार्य प्राप्य सामग्रीका शुद्ध रूपमें सावधानी और बारीकीके साथ निरीक्षण करना है।"

किन्तु इस सूत्रमें श्रीअरविन्द तर्क-बुद्धिकी नहीं बल्कि उस तर्क-शास्त्रकी बात करते हैं जो तर्क-बुद्धिका सहायक एवं साधन है।

तर्क-शास्त्रका कार्य एक विचारसे दूसरे विचारपर और एक तथ्यसे उसके परिणामोंपर शुद्ध रीतिसे पहुंचना है। किन्तु इसके अन्दर सत्यको पहचान सकनेकी योग्यता नहीं होती। अतएव, तुम्हारा तर्कशास्त्र

निर्विवाद तो हो सकता है, किन्तु यदि तुम्हारा प्रारंभिक बिन्दु गलत हुआ तो तुम्हारा निष्कर्ष भी गलत होगा, चाहे तुम्हारा तर्क बिलकुल यथार्थ क्यों न हो, बल्कि अपनी यथार्थताके कारण ही वह गलत होगा। यही बात उस धार्मिकताके साथ भी है जो धार्मिक श्रेष्ठताकी ही एक भावना होती है। तुम्हारी श्रेष्ठता तुम्हें दूसरोंके लिये घृणा सिखाती है। और तुम्हारा यह अभिमान, जो तुम्हें दूसरोंके प्रति घृणासे भर देता है क्योंकि वे तुम्हारी दृष्टिमें तुमसे कम गुणवान् हैं, तुम्हारी श्रेष्ठताके समस्त मूल्यको नष्ट कर देता है।

इसीलिये श्रीअरविन्द हमें अपने सूत्रमें बताते हैं कि तर्क-शास्त्र सत्यका उसी प्रकार सबसे बुरा शत्रु है जिस प्रकार धार्मिक श्रेष्ठताकी भावना सदाचारकी सबसे बड़ी शत्रु है।

२४-८-६०

४६ — जब मैं 'अज्ञान'में सोया पड़ा था, तो मैं ध्यान कक्षमें पहुंचा जो साधु-संतोंसे भरा था। मुझे उनकी संगति उबाऊ लगी और स्थान एक बंदीगृह प्रतीत हुआ; जब मैं जगा तो भगवान् मुझे एक बंदीगृहमें ले गये और उसे ध्यान-मंदिर और अपने मिलन-स्थलमें बदल दिया।

क्या श्रीअरविन्द यहां अपने राजनैतिक जीवनके समयके बन्दीगृहके अनुभवकी चर्चा कर रहे हैं?

हां, श्रीअरविन्द यहां अलीपुर जेलकी अपनी अनुभूतिकी ओर इंगित कर रहे हैं।

किन्तु इस सूत्रमें जो बात मनोरंजक है : वह है दो अवस्थाओंका अन्तर। एक ओर स्थूल जेल था, जहां केवल उनका शरीर बन्द था, जब कि उनकी आत्माका, जो सामाजिक प्रथाओं, पक्षपातों तथा समस्त पूर्व धारणाओं एवं सैद्धान्तिक सीमाओंसे मुक्त हो चुकी थी, भगवान्के साथ सीधा और चेतन सम्बन्ध और पूर्णयोगका प्रथम ज्ञान मिला था और दूसरी ओर संकुचित नियमोंका मानसिक बन्दीगृह जो जीवनका त्याग करता है, जिसमें साधारणत: वे लोग अपनेको बन्द करते हैं जो परंपरागत और रूढ़ विचारोंपर आधारित आध्यात्मिक जीवनके प्रति अपने-आपको समर्पित करनेके लिये सामान्य जीवनका त्याग कर देते हैं।

अतएव, यहां भी सदाकी भांति, श्रीअरविन्द सच्ची स्वतंत्रताके नायक-के रूपमें हमारे सामने उपस्थित हैं। यह स्वतंत्रता समस्त नियमों और सीमाओंसे परे है, यह सर्वोच्च और सनातन सत्यके साथ पूर्ण मिलनकी सर्वांगीण स्वतंत्रता है।

२४-१०-६०

४७ — जब मैंने एक उबाऊ पुस्तक पूरी-की-पूरी, प्रसन्नतासे पढ़ ली और साथ ही उसकी अरोचकताकी समस्त पूर्णताको देख लिया, तब मैं जान गया कि मैंने अपने मनको जीत लिया है।

अरोचक पुस्तकको प्रसन्नतासहित पढ़ना कैसे संभव हो सकता है?

यह तब संभव हो सकता है जब प्रसन्नता इस बातपर निर्भर नहीं करती कि तुम क्या कर रहे हो या तुम्हारे साथ क्या बीत रही है, जब प्रसन्नता उस अपरिवर्तनीय आनंदकी सहज बाह्य अभिव्यक्ति होती है जिसे तुम भागवत उपस्थितिके साथ अपने अंदर लिये फिरते हो। तब यह समस्त क्रियाओं और समस्त परिस्थितियोंमें चेतनाकी एक स्थायी अवस्था होती है। और चूंकि अरोचक वस्तुओंमें सबसे अधिक अरोचक वस्तु अरोचक पुस्तक होती है, श्रीअरविंद यहां मनकी विजय और उसके रूपांतरका अकाट्य प्रमाण देनेके लिये इसका दृष्टांत देते हैं।

१०-११-६०

४८ — मैं जान गया कि मैंने मनको जीत लिया जब मेरे मन-ने घृणित वस्तुके सौंदर्यकी प्रशंसा की। पर मैंने यह भी पूर्ण-तया अनुभव किया कि क्यों दूसरे लोग पीछे हट गये या उन्होंने घृणा की।

"कुरूप वस्तुके सौन्दर्य"का क्या अर्थ है?

यह वही उपलब्धि है जो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उपस्थित की गयी है और विभिन्न अनुभवोंद्वारा व्यक्त की गयी है। उपलब्धि यह है कि प्रत्येक वस्तु सर्वोच्च, सनातन और असीम सत्ताकी अभिव्यक्ति है, वह अपनी समग्र पूर्णता और पूर्ण वास्तविकताकी दृष्टिसे अपरिवर्तनीय है। इसी कारण, अपने मन और उसके अज्ञानमय एवं मिथ्या-बोधपर विजय प्राप्त करके हम प्रत्येक वस्तुके द्वारा उस सर्वोच्च सत्यके संपर्कमें आ सकते हैं जो एक साथ सर्वोच्च सौन्दर्य और सर्वोच्च प्रेम भी है तथा जो सुन्दर और कुरूप वस्तुओंकी, शुभ और अशुभकी हमारी समस्त मानसिक और प्राणिक धारणाओंसे परेकी चीज है।

जब हम सर्वोच्च सत्य, सौन्दर्य और प्रेमका नाम लेते हैं, तो हमें इसे कोई दूसरा अर्थ देना चाहिये, वह अर्थ नहीं जो इन्हें हमारी बुद्धि देती है। इस तथ्यपर बल देनेके लिये ही श्रीअरविंद विरोधाभासी रूपमें लिखते हैं: "कुरूप वस्तुओंका सौन्दर्य।"

१४-११-६०

यह दूसरा अर्थ क्या है?

मेरा मतलब यह था कि हम बौद्धिक रूपसे भगवान्‌के विषयमें धारणा नहीं बना सकते। केवल जब हम आध्यात्मिक जगत्‌में प्रवेश करनेके लिये मानसिक जगत्‌से निकलते हैं तथा वस्तुओंके बारेमें सोचने मात्रके स्थानपर उन्हें जीते हैं, वह बन जाते हैं, तभी हम उन्हें सच्चे रूपमें समझ सकते हैं। साथ ही, जब हम अपनी अनुभूतिको व्यक्त करना चाहते हैं, तो हमारे पास वही शब्द होते हैं जो हमारी मानसिक अनुभूतियोंको व्यक्त करते हैं। और हमारे सब प्रयत्नोंके होते हुए भी ये शब्द उस बातको जिसे हम व्यक्त करना चाहते हैं अनूदित करनेमें असमर्थ रहते हैं।

इसीलिये श्रीअरविंद मनको प्रचलित विचारोंकी लीकसे निकालनेके लिये तथा, जो कुछ कहा जाता है उसकी प्रत्यक्ष दीखनेवाली मूर्खताके द्वारा, अनुभव और दृष्टिमें आयी हुई वस्तुके प्रकाशकी ओर इंगित करनेके लिये प्रायः ही विरोधाभासोंका प्रयोग करते हैं।

२६-११-६०

४९ — सौंदर्य और शुभके भगवान्‌को असुन्दर और अशुभमें

अनुभव और प्रेम करना और फिर भी अतिशय प्रेमके कारण उसे उस असुन्दरता और अशुभसे छुड़ानेकी कामना करना, यह वास्तविक पुण्य और नैतिकता है।

जो अशुभ और असौंदर्य सर्वत्र देखनेमें आते हैं उन्हें दूर करनेके कार्यमें कैसे सहयोग दिया जाय? प्रेमके द्वारा? प्रेम-की शक्ति क्या है? वैयक्तिक चेतनाका तत्त्व शेष मनुष्य जातिपर कैसे कार्य कर सकता है?[1]

अशुभ और असुन्दरको दूर करनेमें कैसे सहयोग दिया जाय? . . . यह कहा जा सकता है कि सहयोग या कर्ममें एक स्तर-परंपरा होती है; एक अभावात्मक सहयोग और दूसरा भावात्मक सहयोग।

प्रारंभमें, एक ऐसा ढंग होता है जिसे अभावात्मक कहा जा सकता है। यह तरीका बौद्ध धर्म और उससे मिलते-जुलते दूसरे धर्मोंने किया, अर्थात्, ऐसी वस्तुओंको न देखे। सबसे पहले व्यक्ति विशुद्धता और सुन्दरताकी अवस्थामें ही काफी हदतक रहे ताकि वह कुरूप और बुरी बातको देख ही न सके –– यह कुछ ऐसे हुआ कि असुन्दर वस्तु तुम्हारा स्पर्श ही नहीं करती, क्योंकि तुम्हारे अंदर उसका अस्तित्व ही नहीं है।

यह अभावात्मक प्रणालीकी पूर्णता है। पर यह बिलकुल प्रारंभिक है, अर्थात्, बुरी वस्तुको कभी न देखना, दूसरोंकी बुरी बातकी चर्चा कभी न करना, निरीक्षण, आलोचना और बुरे तथ्योंपर आग्रह कर स्पंदनोंको स्थायी नहीं बनाना। बुद्धने यही सिखाया था: प्रत्येक बार जब तुम अशुभकी चर्चा करते हो तो तुम उसे फैलानेमें सहायता देते हो।

यह समस्याके एक छोरपर है।

किंतु यह एक सामान्य नियम होना चाहिये। जो लोग आलोचना करते हैं उनके पास इसका उत्तर भी है। वे कहते हैं: "यदि तुम अशुभ-को नहीं देखोगे तो तुम उसका इलाज भी नहीं कर सकोगे। यदि तुम किसीको उसकी कुरूपतापर ही छोड़ दोगे तो वह इससे कभी बाहर नहीं निकलेगा।" (यह बात पूरी-पूरी ठीक नहीं है, पर वे अपने कार्यका

---

[1]श्रीमाताजीने इस प्रश्नका मौखिक उत्तर दिया था। हम यह पूरी बातचीत वैसी ही दे रहे हैं जैसी कि यह टेपरिकार्डपर रिकार्ड की गयी थी।

औचित्य इसी प्रकार सिद्ध करते हैं)। अतएव, श्रीअरविंद इस सूत्रमें उन आक्षेपोंका पहलेसे ही उत्तर दे रहे हैं: तुम अशुभको नहीं देखते इसका कारण अज्ञान, अचेतना या उदासीनता नहीं है। तुम उसे भली प्रकार देख सकते हो बल्कि अनुभव भी कर सकते हो किंतु तुम उसे अपने ध्यानकी शक्ति और चेतनाका आश्रय देकर उसके विस्तारमें सहयोग देना अस्वीकार करते हो। और इसके लिये तुम्हें स्वयं इस बोध और भावनासे ऊपर उठना चाहिये। तुम्हें अशुभ या कुरूपताको देख अवश्य सकना चाहिये, पर उसे देखनेमें न तो तुम्हें पीड़ा होनी चाहिये, न क्षोभ और दुःख। तुम उसे एक ऊंचाईसे देखो, जहां इन चीजोंका अस्तित्व ही नहीं होता, किंतु तुम्हें उसका चेतन बोध होता है, तुम उससे प्रभावित नहीं होते, उससे स्वतंत्र रहते हो। यह पहला पग है।

दूसरा पग है समस्त वस्तुओंके पीछे स्थित उस सर्वोच्च शुभ और सर्वोच्च सौन्दर्यके प्रति **वास्तविक रूपमें** सचेतन रहना जो सब वस्तुओंके पीछे है, उन्हें सहारा देता है, और उनके अस्तित्वको अनुमति देता है। जब तुम 'उस'को देख लेते हो तो तुम इस मुखौटे और विकृतिके पीछे भी देख सकोगे। यह कुरूपता, यह दुष्टता या यह अशुभ भी एक ऐसी चीजका छद्मवेश है जो मूल रूपमें सुन्दर या शुभ है, ज्योतिर्मय और पवित्र है।

इसके बाद ही **सच्चा** सहयोग आता है। कारण, जब तुम्हें यह अंतर्दृष्टि, यह बोध प्राप्त हो, जब तुम इसी चेतनामें रहने लगो, तो यह चेतना तुम्हें उसे पृथ्वीपर, अभिव्यक्तिमें **खींच लाने**की तथा उस वस्तुके संपर्कमें लानेकी शक्ति देती है जो इस समय उसकी एक विकृति और छद्मवेश है। यह कार्य ऐसे ढंगसे होता है कि विकृति और छद्मवेश धीरे-धीरे पीछे स्थित सत्यके प्रभावसे परिवर्तित हो जायंगे।

अब हम सहयोगके सोपानके शिखरपर हैं।

इस प्रकार, इस व्याख्यामें हस्तक्षेप करनेके लिये प्रेमके तत्त्वको लानेकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि तुम उस शक्ति या सामर्थ्यके स्वभाव-को जानना या समझना चाहते हो, जो इस रूपान्तरको अनुमति देती है या संपन्न करती है (विशेषकर अशुभके विषयमें किन्तु कुछ हदतक कुरूपता-के विषयमें भी), तो तुम देखोगे कि प्रेम सबसे अधिक बलशाली और समग्र शक्ति है — समग्र इस अर्थमें कि यह सब अवस्थाओंमें प्रयुक्त की जाती है। यह पवित्रीकरणकी शक्तिसे भी अधिक बलशाली है जो गलत इच्छाको समाप्त कर देती है और किसी-न-किसी प्रकार विरोधी शक्तियों-को अपने वशमें कर लेती है, पर रूपान्तरकी सीधी शक्ति उसमें नहीं

होती। पवित्रीकरणकी शक्ति **पहले** नष्ट करती है ताकि पीछे रूपान्तर हो सके। वह एक आकारको नष्ट करती है ताकि उससे अधिक अच्छा आकार बना सके, जब कि प्रेमको रूपान्तरके लिये किसी चीजको नष्ट करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। उसके अन्दर रूपान्तरकी सीधी शक्ति होती है। प्रेम एक अग्निशिखाके समान है जो कठोर वस्तुको लचकदार बना देती है। और फिर इस लचकदार वस्तुको भी एक प्रकारके पवित्र वाष्पमें बदल देती है—यह वस्तुको नष्ट नहीं करती, उसे रूपान्तरित करती है।

अपने साररूपमें और स्रोतमें प्रेम एक ज्वाला है, एक सफेद ज्वाला, जो **सब** बाधाओंको जीत लेती है। तुम स्वयं इस सम्बन्धमें प्रयोग कर सकते हो। तुम्हारी सत्तामें कोई भी कठिनाई क्यों न हो, एकत्रित हुई भूलों, अयोग्यताओं तथा अज्ञान और दुर्भावनाओंका कितना भी बोझ क्यों न हो, इस पवित्र, साररूप सर्वोच्च प्रेमका एक **क्षण** भी मानों इन सबको एक सर्वसमर्थ ज्योतिमें विलीन कर देता है। इसका एक क्षण और संपूर्ण अतीत समाप्त हो जाता है, यदि तुम इसके सारको क्षण भरके लिये भी छू लो तो सारा बोझ हट जाता है।

इस बातको समझना बड़ा सरल है कि जिस व्यक्तिको यह अनुभव प्राप्त है वह इसे फैला सकता है, दूसरोंपर कार्य कर सकता है, क्योंकि अनुभव प्राप्त करनेके लिये तुम्हें एकमेवका, समस्त अभिव्यक्तिके सर्वोच्च रूपका, संसारमें जो कुछ भी है उस सबके मूल सार-तत्त्व तथा उसके स्रोत और सत्यका स्पर्श करना होगा। और तुम एकताके क्षेत्रमें तत्काल प्रवेश कर जाओगे—तब व्यक्तियोंमें पृथक्त्वकी कोई भावना नहीं रहती। वह केवल एक ही स्पन्दन होता है जो बाह्य रूपमें अनिश्चित कालतक दुहराया जा सकता है।[1]

---

[1]बादमें किसीने श्रीमाताजीसे पूछा : "क्या केवल एक ही स्पन्दन होता है जो अनिश्चित कालतक **दुहराया जा सकता है** या **दुहराया जाता है**?" माताजीने उत्तर दिया : "मेरा मतलब एक साथ ही बहुत-सी चीजोंसे था। यह स्पन्दन सर्वत्र अचल-स्थिर है। किन्तु जब कोई इसे चेतन रूपमें चरितार्थ कर लेता है तो उसमें इसे सर्वत्र सक्रिय बना देनेकी शक्ति भी होती है, वह इसे चाहे जिधर मोड़ सकता है। दूसरे शब्दोंमें तुम किसी चीजको उसके निश्चित स्थानसे "हटाते" नहीं, किन्तु चेतना जिधर मोड़ी जाय, उधर ही उसका दबाव इसे सक्रिय बना देता है।"

यदि तुम काफी ऊंचे उठ सको तो तुम समस्त वस्तुओंके हृदयमें पहुंच जाते हो, और जो कुछ इस हृदयमें अभिव्यक्त होता है वह सब वस्तुओंमें भी व्यक्त हो सकता है। यही वह महान् रहस्य है, व्यक्तिके रूपमें भगवान्के अवतरणका रहस्य है। कारण, साधारणतया यह होता है कि जो कुछ केन्द्रमें अभिव्यक्त होता है वह बाह्य रूपमें तभी उपलब्ध किया जाता है जब वैयक्तिक रूपमें संकल्प-शक्ति जाग उठती है या प्रत्युत्तर देती है। उधर, यदि केन्द्रीय संकल्प एक व्यक्तिमें सतत और स्थायी रूपमें प्रकट होता है तो यह व्यक्ति इस संकल्पमें और दूसरे व्यक्तियोंमें मध्यस्थका काम कर सकता है और उनके लिये भी संकल्प कर सकता है। यह व्यक्ति जो कुछ देखता है और अपनी चेतनामें सर्वोच्च संकल्पको समर्पित करता है वह सब इस प्रकार विस्तारित हो जाता है मानों वह वस्तु प्रत्येक व्यक्तिसे आयी हो। और यदि वैयक्तिक तत्त्वोंका किसी-न-किसी कारणसे उस प्रतिनिधि सत्ताके साथ थोड़ा-बहुत चेतन या ऐच्छिक संपर्क हो तो उनका संपर्क प्रतिनिधि सत्ताकी सार्थकता और योग्यताको बढ़ा देगा। इस प्रकार जड़-पदार्थमें सर्वोच्च कर्म अधिक मूर्त और स्थायी रूपमें सक्रिय हो सकता है। यही चेतनाके अवरोहणका कारण है — इसे "ध्रुवीकृत" (polarised) चेतना भी कह सकते हैं, क्योंकि यह पृथ्वीपर सदा किसी निश्चित उद्देश्य और एक विशेष प्राप्ति और कार्यके लिये आती है — यह कार्य अवतारके सामने नियत और स्थिर रूपमें उपस्थित होता है, ऐसे कार्य पृथ्वीपर सर्वोच्च अवतारोंके महान् पग होते हैं।

और जब सर्वोच्च प्रेमकी अभिव्यक्तिका, उसके स्फटिकसम और केन्द्रीभूत, अवरोहणका दिन आयेगा, तो वह सचमुच रूपान्तरका क्षण होगा। क्योंकि, तब कोई चीज उसका अवरोध नहीं कर सकेगी।

पर चूंकि प्रेम सर्वसमर्थ है, अतः पृथ्वीपर कुछ ग्रहणशीलता अवश्य तैयार की जानी चाहिये ताकि परिणाम ध्वंसकारी न हों। श्रीअरविन्दने अपने एक पत्रमें इस बातकी व्याख्या की है। उनसे किसीने पूछा: "यह वस्तु एकदम ही क्यों नहीं आती?" उन्होंने कुछ इस प्रकारका जवाब दिया: यदि भागवत प्रेम अपने सार-तत्त्वमें पृथ्वीपर अभिव्यक्त हो जाय तो यह बमके गोलेके समान होगा। कारण पृथ्वी इतनी नमनीय और ग्रहणशील नहीं है कि इस प्रेमकी मात्राके अनुसार अपने-आपको विस्तृत कर सके। पृथ्वीको अपने-आपको केवल खोलना ही नहीं, बल्कि विस्तृत भी करना है, अपने-आपको नमनीय भी बनाना है — जड़-पदार्थ अभीतक बड़ा कठोर है। भौतिक चेतनाका तत्त्व भी ऐसा ही है।

अत्यधिक जड़-पदार्थ ही नहीं वरन् भौतिक चेतनाका तत्त्व भी बहुत अधिक कठोर है।

जनवरी ६१

५० — पापीसे घृणा करना सबसे बड़ा पाप है, क्योंकि यह भगवान्से घृणा करना है, फिर भी जो ऐसा पाप करता है वह अपने श्रेष्ठ पुण्यमें गौरव मानता है।

जब व्यक्ति चेतनाकी एक विशेष अवस्थामें प्रवेश करता है, तो देखता है कि वह सब कुछ कर सकता है और, अन्तमें ऐसा कोई भी "पाप" नहीं होता जो संभाव्यताके रूपमें हमारे अन्दर मौजूद न हो। क्या यह धारणा ठीक है? फिर भी व्यक्ति कुछ वस्तुओंके प्रति विद्रोह करता है और उनसे घृणा करता है; उसके अन्दर कहीं-न-कहीं एक बिन्दु ऐसा अवश्य होता है जिसे वह स्वीकार नहीं करता। ऐसा क्यों? 'बुराई'के सामने एक सच्ची वृत्ति, एक प्रभावशाली वृत्ति, क्या है?

ऐसा कोई पाप नहीं जो हमारे अन्दर न हो...।

यह अनुभव तब होता है जब किसी कारणसे (यह व्यक्ति-विशेषपर निर्भर है) व्यक्ति अपने-आपको वैश्व चेतनाके संपर्कमें लाता है (उसके असीम सार-तत्त्वमें नहीं, बल्कि स्थूल जगत्के किसी भी स्तरपर)। एक आणविक चेतना होती है, है न, एक निरी भौतिक होती है और इससे भी अधिक एक सामान्य मनोवैज्ञानिक चेतना होती है। जब तुम अन्तर्मुख होकर, अहंसे पीछे हटकर चेतनाके इस क्षेत्रके संपर्कमें आते हो, तो इसे पार्थिव मनोवैज्ञानिक या मानव-समूहकी चेतना कह सकते हैं (इसमें एक भेद है: "मानव-समूह"की चेतनाका क्षेत्र छोटा है, जब कि "पार्थिव चेतना"में पशुओंकी ही नहीं, वनस्पतिकी भी क्रियाएं आ जाती हैं; किन्तु वर्तमान स्थितिमें, चूंकि अपराध, पाप और बुराईकी नैतिक धारणा केवल मानव चेतनाकी वस्तु है, हम इसे केवल सामूहिक मानव मनोवैज्ञानिक चेतना कह सकते हैं), जब तुम इस चेतनाके संपर्कमें आते हो तो स्वभावतया, यह अनुभव करते हो, देखते और जानते हो कि इसी तादात्म्यसे तुम कोई-सी भी, कहीं भी मानवी क्रिया कर सकते हो। कुछ

हदतक यह सत्यकी चेतना है—यह अहंभावयुक्त भावना कि कौन-सी वस्तु तुम्हारी है, कौन-सी नहीं, तुम क्या कर सकते हो, क्या नहीं, उस समय विलीन हो जाती है। और तुम्हें पता लग जाता है कि मानवी चेतना अपने मूल रूपमें इस ढंगसे बनी है कि कोई भी मनुष्य कोई भी काम कर सकता है। और जब तुम सत्यकी चेतनामें होते हो, तो उसके साथ ही तुम्हारे अन्दर यह धारणा भी होती है कि विचार-विवेचन, अरुचियां या अस्वीकृतियां मूर्खतापूर्ण बातें हैं। वहां **सब कुछ** संभाव्यता-रूपमें होता है। और यदि शक्तिकी कुछ तरंगें (जिनका सामान्यतया तुम अनुसरण नहीं कर सकते; तुम उन्हें आते-जाते अवश्य देखते हो किन्तु उनके मूल स्रोत और उनकी दिशाका तुम्हें साधारणतया ज्ञान नहीं होता), यदि इनमेंसे कोई भी तरंग तुम्हारे अंदर प्रवेश कर जाय तो वह तुमसे कोई भी काम करा सकती है।

यदि तुम सदा चेतनाकी इस अवस्थामें रहो और कुछ समय बाद यदि अपने अन्दर अग्निकी लौको, पवित्रीकरण और उन्नतिकी ज्वालाको जगाये रखो तो तुम इन शक्तियोंको अपने अन्दर सक्रिय रूप धारण करने तथा अपने-आपको स्थूल रूपमें अभिव्यक्त करनेसे रोक सकोगे, इतना ही नहीं, स्वयं गतिके स्वभावपर कार्य करके उसका रूपांतर भी कर सकोगे। किंतु यह मानी हुई बात है कि जबतक तुम एक उच्च कोटिकी उपलब्धि नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक, तुम्हारे लिये चेतनाकी इस अवस्थाको अधिक समयतक बनाये रखना लगभग असंभव होगा। प्रायः तत्काल ही तुम एक स्थूल पृथक् सत्ताकी अहंभावयुक्त चेतनामें जा गिरते हो; और तब ये, सब कठिनाइयां वापिस आ जाती हैं: घृणा, किन्हीं विशेष वस्तुओंके प्रति विद्रोह, इनके द्वारा उत्पन्न भय, आदि।

यह संभव है (बल्कि निश्चित है) कि जबतक तुम स्वयं पूर्णतया रूपांतरित नहीं हो जाते, घृणा और विद्रोहकी ये क्रियाएं आवश्यक हैं, ताकि तुम **अपने अंदर** द्वार बंद करनेके लिये जो करना चाहिये वह करो—कारण, आखिर समस्या तो यही है कि उन्हें अपने-आपको व्यक्त न करने दिया जाय।

एक और सूत्रमें श्रीअरविन्दने कहा है (मुझे ठीक शब्द इस समय याद नहीं हैं), कि पाप बस एक ऐसी चीज है जो अपने स्थानपर नहीं है। इस सतत 'अभिव्यक्ति'में कोई भी वस्तु अपने-आपको दुबारा उत्पन्न नहीं करती और ऐसी वस्तुएं हैं जो अतीतमें विलीन हो जाती हैं। जिस समय इन वस्तुओंका विलय आवश्यक हो जाता है तब ये हमारी चेतनाके लिये बहुत सीमित, बुरी एवं अरुचिकर हो उठती हैं। और हम इनके प्रति विद्रोह

करते हैं, क्योंकि इनका जीवनकाल समाप्त हो चुकता है। किंतु यदि हम इसे एक समग्र दृष्टिकोणसे देखते, यदि हम अपने अंदर भूत, वर्तमान और भविष्यको एक साथ रख सकते (जैसा कि कहीं ऊपर होता है), हम इन वस्तुओंकी सापेक्षताको देख सकते। विशेषतया वृद्धिशील विकासकी 'शक्ति' ही हमारे अंदर अस्वीकृतिके संकल्पको पैदा करती है। और जहां ये अपने स्थानपर होती हैं वहां इन्हें पूर्णतया सहन भी किया जाता है। बात केवल इतनी ही है कि जबतक तुममें एक समग्र दृष्टि न हो तबतक इस अनुभूतिकी प्राप्ति लगभग असंभव है और यह दृष्टि केवल परम प्रभुमें होती है! अतएव, सबसे पहले तुम्हें परम प्रभुके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेना चाहिये। इसके बाद ही, इस तादात्म्यके साथ तुम एक पर्याप्त रूपमें बाह्य चेतनाकी ओर वापिस लौटकर वस्तुओंके सच्चे रूपको देख सकते हो। किंतु सिद्धांत यही है और जितनी मात्रामें तुम इसे चरितार्थ कर सकोगे उतनी मात्रामें तुम चेतनाकी एक ऐसी अवस्थापर पहुंच जाओगे जिसमें तुम एक समग्र विश्वाससे उत्पन्न मुस्कानके साथ यह देखोगे कि सब कुछ वैसा है जैसा होना चाहिये।

स्वभावतया, जो लोग अधिक गहराईसे नहीं सोचते, वे कहेंगे : "ठीक है, पर यदि हम देखें कि सब वस्तुएं वैसी ही हैं "जैसी होनी चाहिये", तो कोई भी वस्तु गति नहीं करेगी।" पर नहीं! तुम वस्तुओंकी गतिको नहीं रोक सकते! निमिषमात्रके लिये भी वे अपनी गति बंद नहीं करतीं! यह एक सतत और पूर्ण रूपांतर है, एक ऐसी क्रिया है जो कभी बंद नहीं होती। क्योंकि इस प्रकारसे अनुभव करना हमारे लिये कठिन है, हम यह कल्पना कर सकते हैं कि यदि हम चेतनाकी किन्हीं अवस्थाओंमें प्रवेश करें तो कोई चीज बदलनेसे रह जायगी। किंतु यदि हम तमस्‌की पूर्ण दिखनेवाली अवस्थामें भी प्रवेश कर जायं, तो भी वस्तुएं परिवर्तित होती रहेंगी और उनके साथ हम भी!

अपने मूल रूपमें, घृणा, विद्रोह, क्रोध और उग्रताकी अन्य क्रियाएं आवश्यक रूपमें अज्ञान और संकीर्णताकी क्रियाएं हैं। इनके साथ संकीर्णताकी सारी दुर्बलताएं होती हैं। विद्रोह दुर्बलता है — इच्छा-शक्तिकी असमर्थता है। आदमी संकल्प करता है (या वह सोचता है कि वह संकल्प कर रहा है), वह अनुभव करता और देखता है कि वस्तुएं वैसी नहीं हैं जैसी होनी चाहिये। जो कुछ तुम देखते हो उसके साथ जो बात मेल नहीं खाती उसके प्रति तुम विद्रोह कर देते हो। किंतु यदि तुम सर्व-समर्थ हो, यदि तुम्हारी इच्छा-शक्ति सर्व-समर्थ है, यदि तुम्हारी दृष्टि सर्व-समर्थ है तो, तुम्हारे सामने विद्रोह करनेका अवसर ही नहीं आयगा, तुम सदा यही देखोगे

कि सभी वस्तुएं वैसी ही हैं जैसी होनी चाहिये। यदि हम एकदम ऊपर उठ जायं और सर्वोच्च संकल्पकी चेतनाके साथ संयुक्त हो जायं, तो हम प्रत्येक पल, विश्वके प्रति क्षण यह देखेंगे कि सब कुछ ठीक वैसा ही है जैसा कि उसे होना चाहिये, ठीक वैसा ही जैसा कि भगवान् चाहते हैं। यही सर्वशक्तिमान् सामर्थ्य है। और तब उग्रताकी सभी क्रियाएं निरर्थक ही नहीं हास्यास्पद हो उठती हैं।

अतएव, समाधान केवल एक है: अभीप्सा, एकाग्रता, अंतर्मुखता और तादात्म्यके द्वारा सर्वोच्च संकल्पके साथ अपने-आपको संयुक्त करना। और यही एक साथ सर्वशक्तिमान् और पूर्ण स्वतंत्रता भी है। और यही एकमात्र सर्वशक्तिमान् और एकमात्र स्वतंत्रता है। अन्य सब वस्तुएं तो इसके सादृश्यमात्र हैं। ये रास्तेपर हो सकती हैं, पर समग्र वस्तु नहीं हैं। और तब, यदि कोई प्रयोग करता है तो उसे पता लगता है कि इस सर्वोच्च स्वतंत्रता और सर्वोच्च शक्तिके साथ एक ऐसी पूर्ण शांति और अचंचलता भी रहती है जो कभी धोखा नहीं देती। अतएव, यदि तुम्हें किसी ऐसी वस्तुका अनुभव हो जो ऐसी नहीं है, अर्थात्, विद्रोह, घृणा या कोई और ऐसी बात है जिसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ यह होगा कि तुम्हारे अंदर कोई ऐसा भाग मौजूद है जिसे अभी रूपांतरका स्पर्श प्राप्त नहीं हुआ है, कोई ऐसी चीज जो पुरानी चेतनाको पकड़े हुए है, जो अभीतक रास्तेपर है। बस, बात इतनी है।

> इस सूत्रमें श्रीअरविन्दने उन लोगोंकी बात की है जो पापीसे घृणा करते हैं। पापीसे घृणा नहीं करनी चाहिये।

भिन्न दृष्टिकोणसे देखी गयी यह वही समस्या है। इसका समाधान भी वही है।

> पापीसे घृणा न करना इतना कठिन नहीं है, किन्तु पुण्यात्मासे घृणा न करना और भी अधिक कठिन है। कारण, पापियोंको व्यक्ति भली-भांति समझ सकता है, गरीब लोगोंको भी भली-भांति समझा जा सकता है, किन्तु पुण्यात्माको . . .

किंतु व्यक्ति उनकी जिस वस्तुसे घृणा करता है वह है उनकी अहंमन्यता, बस वही। चाहे जो हो, वे बुरा काम नहीं करते यह ठीक ही है — उसके लिये तुम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते! किंतु उसी कारण वे अपने-

आपको उच्चतर व्यक्ति मान लेते हैं। इसे सहना लोगोंके लिये भारी पड़ जाता है। यह उनकी अपने संबंधमें श्रेष्ठताकी भावना है, यह वह ढंग है जिससे वे अपनी महानतासे इन दीन लोगोंकी ओर देखते हैं — जो उनसे अधिक बुरे नहीं होते।

ओह! मेरे पास इसके कई उदाहरण हैं, बड़े अद्भुत!

उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति, एक स्त्रीको लें, उसके बहुत-से मित्र हैं जो उससे बहुत अधिक प्रेम करते हैं, क्योंकि उन्हें उसके अंदर कुछ विशेष योग्यताएं दीखती हैं। उसका सान्निध्य उन्हें सुखकर प्रतीत होता है, वे उससे हमेशा सीख सकते हैं। तब अचानक, किन्हीं परिस्थितियोंके वश, वह स्त्री समाजद्वारा बहिष्कृत कर दी जाती है, क्योंकि उसने अपना संबंध किसी दूसरे पुरुषके साथ स्थापित कर लिया है या बिना विवाह किये किसी दूसरे व्यक्तिके साथ रहने लगी है, दूसरे शब्दोंमें उन सब सामाजिक कारणों-के लिये जिनका स्वयं अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है, लोग उसे ठुकरा देते हैं। और उसके सब मित्र (यहां मैं उन मित्रोंकी बात नहीं कर रही जो उससे सचमुच प्रेम करते हैं), उसके सब सामाजिक मित्र जो उससे रास्तेमें मिलनेपर मुस्कान सहित उसका स्वागत करते थे, अभिवादन करते थे, अब अपनी गर्दन दूसरी ओर मोड़ लेते हैं और उसकी ओर बिना देखे आगे बढ़ जाते हैं — ऐसा यहां, आश्रममें भी हो चुका है! मैं प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं देना चाहती, पर यहां ऐसा कितनी बार हुआ है: जब कभी प्रचलित सामाजिक नियमके विरुद्ध कुछ हुआ तो वही लोग जो इतना प्रेम दिखाते थे, इतनी सहानुभूति प्रकट करते थे — वही कभी-कभी कहते: "यह तो अब हाथसे गया।"

जब ऐसी बातें बाहर संसारमें होती हैं तो मुझे बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती हैं, किंतु जब ये यहां होती हैं तो मुझे सदा एक धक्का-सा लगता है, यानी मैं अपने-आपसे कहती हूं: "किंतु ये अब भी यहां हैं?"

जो लोग समझते हैं कि उनके विचार उदार हैं, वे इन सब "सामाजिक प्रथाओं"से ऊपर हैं, वे भी सीधे, एकदम इस जालमें जा गिरते हैं। तब अपने अंतःकरणको चुप करानेके लिये वे कहते हैं: "माताजी इसे स्वीकृति या अनुमति नहीं देतीं, न ही इसे सहन करती हैं!" इस प्रकार बाकी चीजोंके साथ एक और मूर्खता जोड़ देते हैं।

इस अवस्थासे बाहर निकलना बड़ा कठिन है। यही सच्ची दाम्भिकता है! — सामाजिक प्रतिष्ठाकी यह भावना! किन्तु है यह मनकी संकुचितता, क्योंकि, जिन लोगोंमें जरा भी बुद्धि होती है वे इस फंदेमें नहीं फंसते। उदाहरणार्थ, जो लोग संसारभरमें घूम-फिर आये हैं उन्होंने देखा है कि

ये सब सामाजिक नियम पूर्णतया जलवायु, जाति और आदतोंपर निर्भर करते हैं, इससे भी अधिक समय और युगपर। वे ऐसी बातोंकी ओर देखकर मुस्करा सकते हैं। किन्तु ये ठीक सोचनेवाले लोग, ओह! ...

यह प्रारंभिक पग है। जबतक तुम ऐसी अवस्थासे बाहर नहीं निकल आते तबतक तुम योगके योग्य नहीं हो। यदि तुम इस अवस्थामें हो तो सचमुच तुम योगके लिये उपयुक्त नहीं हो — यह प्रारंभिक अवस्था है।

जनवरी ६१

५१ — जब मैं न्याययुक्त क्रोधके बारेमें सुनता हूं तो मुझे मनुष्यकी आत्मप्रवंचना-संबंधी सामर्थ्यपर आश्चर्य होता है।

जब कोई अपने-आपको छलता है तो सदा सच्चे भावसे ऐसा करता है। वह सदा दूसरोंके भलेके लिये, मानवजातिके हितके लिये तथा आपकी सेवाके लिये ऐसा करता है। फिर वह अपने-आपको धोखा कैसे देता है?

मैं भी अपनी ओरसे तुमसे प्रश्न पूछना चाहती थी! क्योंकि तुम्हारा प्रश्न दो प्रकारसे समझा जा सकता है। इसे उस व्यंग और विनोदके भावमें भी लिया जा सकता है जिसका प्रयोग श्रीअरविन्दने अपने सूत्रमें किया है जब वे मनुष्यकी आत्म-प्रवंचना-संबंधी सामर्थ्यपर आश्चर्य करते हैं। कहनेका मतलब, तुम अपने-आपको उस व्यक्तिके स्थानपर रख देते हो जो अपने-आपको छलता है और कहते हो: "पर मैं तो सच्चा हूं! मैं सदा दूसरोंका, मनुष्यजातिका हित चाहत। हूं, भगवान्का कार्य करना चाहता हूं — इसमें कोई सन्देह नहीं! भला मैं अपने-आपको कैसे छल सकता हूं?"

किन्तु मूल रूपमें स्वयंको छलनेके दो तरीके हैं जो बिलकुल भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, जब तुम देखते हो कि लोग बुरा व्यवहार करते हैं, स्वार्थी, अविश्वस्त और विश्वासघाती बन जाते हैं तो व्यक्तिगत कारणोंसे नहीं बल्कि सद्भावना और भगवान्की सेवाकी लगनके कारण आघात पहुंचता है। एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें तुम इन वस्तुओंपर अधिकार पा लेते हो और इन्हें अपने अन्दर अभिव्यक्त नहीं होने देते। किन्तु जिस हदतक तुम सामान्य चेतना, सामान्य दृष्टिकोण, सामान्य जीवन और सामान्य

विचारके संपर्कमें रहते हो, उस हदतक इनकी संभावना भी तुम्हारे अन्दर मौजूद रहती है, ये चीजें तुम्हारे अन्दर प्रसुप्त ढंगसे रहती हैं। कारण, जिन गुणोंको तुम प्राप्त करना चाहते हो ये वस्तुएं उनकी विरोधी होती हैं। और यह विरोध हमेशा चलता रहता है --- तबतक, जबतक तुम इनसे ऊँपर और परे नहीं चले जाते, जबतक तुम गुण और अवगुणसे ऊपर नहीं उठ जाते। जबतक तुममें गुणकी भावना रहती है तबतक उसकी विरोधी वस्तु भी प्रसुप्त रूपमें रहती है। जब तुम गुण और दोषको पार कर जाते हो केवल तभी यह बात समाप्त होती है।

अतएव, तुम्हें इस प्रकारका जो क्रोध आता है उसका कारण यह तथ्य है कि तुम इन चीजोंसे अभी बिलकुल ऊपर नहीं उठे हो। तुम ऐसी अवस्थामें हो जब तुम इन बातोंको पूरी तरहसे नापसन्द करते हो और तुम स्वयं उन्हें नहीं कर सकते। तबतक तो कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं जबतक तुम अपने क्रोधको बड़े उग्र रूपमें व्यक्त नहीं करते। यदि क्रोधके साथ यह अभिव्यक्ति भी मिल जाती है तो इसका कारण यह है कि जो भाव तुम रखना चाहते हो और दूसरोंके प्रति तुम्हारे अन्दर जो प्रतिक्रिया होती है, इन दोनोंमें एक प्रकारका पूर्ण विरोध होता है। क्रोध प्राणिक शक्तिका एक विकृत रूप है, एक ऐसे प्राणकी शक्तिका, जो धुंधला और बिलकुल ही असंस्कृत तथा साधारण प्राणिक क्रियाओं और प्रति-क्रियाओंका दास है। जब कोई अज्ञानमय और अहंभावयुक्त संकल्पवाला व्यक्ति इस प्राणिक शक्तिका प्रयोग करता है और इस संकल्पका आस-पासके दूसरे व्यक्तियोंके संकल्पोंके द्वारा विरोध होता है तो यह शक्ति क्रोधमें बदल जाती है और उस चीजको उग्रताके द्वारा पाना चाहती है जो शक्तिके दबावमात्रसे नहीं मिल सकी।

इसके अतिरिक्त, अन्य सभी उग्र भावोंकी तरह, क्रोध भी हमेशा दुर्बलता, अक्षमता और अयोग्यताका चिह्न है।

और यहां आत्म-छलना क्रोधको दिये गये अनुमोदन, और चाटुका-रितापूर्ण विशेषणमें है --- क्योंकि क्रोध केवल एक अंध, अज्ञानमय और आसुरिक वस्तु ही हो सकता है, दूसरे शब्दोंमें, यह प्रकाशका विरोधी है।

फिर भी यह दोनोंमेंसे अधिक अच्छा है।

एक अवस्था और भी है। कुछ लोग ऐसे हैं जो बिना जाने या इस-लिये कि वे जानना **नहीं** चाहते, सदा अपने व्यक्तिगत हितों, अपनी रुचियों, अपनी आसक्तियों और अपनी धारणाओंके पीछे चलते हैं। ये भगवान्‌के प्रति पूर्णतया समर्पित नहीं होते और अपनी वैयक्तिक गति-विधियोंको

छिपानेके लिये नैतिक और यौगिक विचारोंका प्रयोग करते हैं। ऐसे लोग अपने-आपको दोहरा धोखा देते हैं, ये अपनी बाह्य क्रियाओं या दूसरोंके साथ अपने सम्बन्धमें ही स्वयंको धोखा नहीं देते वरन् अपनी व्यक्तिगत क्रियाओंमें भी अपनेको धोखा देते हैं: भगवान्‌की सेवा करनेके स्थानपर ये अपने अहंभावकी सेवा करते हैं। और यह सदा और सतत रूपमें होता रहता है! तुम अपनी और अपने अहंभावकी सेवा करते हो, जब कि बहाना करते हो भगवान्‌की सेवाका। तब यह आत्म-प्रवंचना नहीं, पाखंड हो जाता है।

हमेशा प्रत्येक वस्तुको एक बड़े अनुकूल रूपका आवरण देना तथा समस्त क्रियाओंकी अनुकूल व्याख्या करना एक मानसिक अभ्यास है जो सदा विद्यमान रहता है। कभी-कभी यह काफी सूक्ष्म भी होता है, किन्तु किसी समय यह इतने स्थूल प्रकारका होता है कि अपने सिवाय और कोई नहीं छला जाता। यह एक प्रकारका बहाना बनानेका अभ्यास होता है, अनुकूल मानसिक बहाना बनानेका अभ्यास होता है और जो कुछ व्यक्ति करता है, जो कुछ व्यक्ति कहता है या जो कुछ व्यक्ति अनुभव करता है, उस सबकी एक अनुकूल मानसिक व्याख्या करनेका अभ्यास होता है। उदाहरणार्थ, जो लोग अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रखते और अत्यधिक रोषमें आकर किसीको थप्पड़ मार देते हैं, वे इसे प्रायः दिव्य क्रोधका नाम देते हैं।

आत्म-प्रवंचनाकी यह शक्ति भयानक है, अति भयानक है। यह एक कला है जिसके द्वारा मनको किसी भी अज्ञान और मूर्खताके लिये समर्थन ढूंढना होता है।

यह ऐसा अनुभव नहीं है जो कभी-कभी आता हो, इसे प्रत्येक मिनट व्यक्ति अपने अन्दर देख सकता है। और साधारणतया दूसरोंके अन्दर तो यह और भी अधिक सरलतासे देखा जा सकता है! किन्तु यदि तुम ध्यानपूर्वक अपना निरीक्षण करो तो तुम प्रतिदिन हजारों बार अपनेको पकड़ सकते हो, और उसी अनुकूल ढंगसे देखते हुए कहते हो: "ओह, यह **वही वस्तु नहीं** है!" और तब, यह कभी तुम्हारे लिये वही नहीं होता जो तुम्हारे पड़ोसीके लिये होता है।

जनवरी ६१

५२ — यह एक चमत्कार है कि मनुष्य भगवान्‌से प्रेम कर सकते हैं और मनुष्योंसे नहीं। तब वे किससे प्रेम करते हैं?

क्या परोपकार-वृत्तिके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त किया जा सकता है?

सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम परोपकार-वृत्तिका क्या अर्थ समझते हो। साधारणतया, तुम उन व्यक्तियोंको परोपकारी कहते हो जो दान-शीलताके कार्य करते हैं।

यहां श्रीअरविन्द परोपकार शब्दकी चर्चा नहीं करते। कारण, जैसा कि लोग सामान्यतया समझते हैं, परोपकार-वृत्ति एक सामाजिक और परंपरागत वृत्ति है, एक प्रकारका बृहदाकार अहंभाव है जो प्रेम नहीं बल्कि छोटेके प्रति दया है जो संरक्षकका रूप धारण कर लेती है।

इस सूत्रमें श्रीअरविन्द उन लोगोंकी ओर संकेत करते हैं जो संसार और मनुष्योंसे पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेकी चेष्टा करते हुए एकाकी भगवान्‌की एकान्तमें खोज करनेके लिये संन्यास-मार्गका अनुसरण करते हैं।

किन्तु श्रीअरविन्दके लिये मनुष्य भगवान्‌का अंश है और यदि तुम सच-मुच भगवान्‌से प्रेम करते हो, तो यह कैसे हो सकता है कि तुम मनुष्यके साथ प्रेम न करो, क्योंकि वह उन्हींका तो एक पक्ष है?

१८-१-६१

५३ — धार्मिक संप्रदायोंके झगड़े उन बर्तनोंके आपसी विवादके समान हैं जिनमें अमरता देनेवाला अमृत भरा जायगा। उन्हें झगड़ने दो, किंतु हमें तो अमृत लेने — पात्र कोई भी हो — और अमरत्व प्राप्त करनेसे मतलब है।

५४ — तुम कहते हो कि बर्तनकी सुगंध सुरामें आ जाती है। यह तो स्वाद है, किन्तु इसकी अमर कर देनेवाली क्षमता इससे कौन छीन सकता है?

१ — अमरताका यह अमृत क्या है जिसकी श्रीअरविन्द चर्चा करते हैं? इस अमृतमें वह कौन-सी वस्तु है जो हमें अमरताकी शक्ति प्रदान करती है? क्या यह अमरता शरीरकी अमरता है?

२ — जब हमें यह अमृत मिल जाता है तो धार्मिक संप्रदायों-

का क्या होता है? क्या वे अपने लक्ष्यपर पहुंच जाते हैं?

अमरताका यह अमृत सर्वोच्च सत्य है, सर्वोच्च ज्ञान है, यह भगवान्‌के साथ ऐसा मिलन है जो अमरताकी चेतना प्रदान करता है।

प्रत्येक संप्रदायका भगवान्‌तक पहुंचनेका अपना विशेष तरीका होता है और इसी बातमें श्रीअरविन्द इनकी तुलना विभिन्न पात्रोंसे करते हैं। किन्तु वे कहते हैं: रास्ता कोई भी पकड़ो, इस बातका अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्व केवल लक्ष्यका है और तुम किसी भी रास्तेपर चलो, लक्ष्य एक ही है। अमृत किसी भी पात्रमें हो, होगा अमृत ही।

कुछ लोग कहते हैं कि बर्तनका सौंधापन और जिस रास्तेका तुम अनुसरण करते हो वह रास्ता अमृतका स्वाद बदल देते हैं, दूसरे शब्दोंमें, वे भगवान्‌के साथ तुम्हारे मिलनको बदल देते हैं। श्रीअरविन्द उत्तर देते हैं: उनतक पहुंचनेका रास्ता भिन्न हो सकता है और प्रत्येक व्यक्ति उसी रास्तेको चुनता है जो उसे पसन्द हो, तथा जो उसकी रुचिके अनुकूल हो, किन्तु स्वयं अमृत, अर्थात् भगवान्‌के साथ मिलन, समस्त अवस्थाओंमें अमरत्वकी अपनी शक्ति सुरक्षित रखता है।

अब जब कि यह कहा जाता है कि भगवान्‌के साथ मिलनके द्वारा व्यक्ति अमरताकी चेतना प्राप्त कर लेता है, तो इसका अर्थ यह है कि हमारी चेतना उस चेतनाके साथ संयुक्त हो जाती है जो अमर है, परिणामस्वरूप वह अपने-आपको भी अमर अनुभव करती है। तब हम ही उन क्षेत्रोंके प्रति चेतन हो जाते हैं जहां अमरताका निवास है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमारी भौतिक सत्ता रूपान्तरित और अमर हो जाती है; इसके लिये एक बिलकुल दूसरी प्रणालीका अनुसरण करना होगा। और तुम्हें केवल इस चेतनाको पहले प्राप्त ही नहीं करना होगा बल्कि उसे स्थूल जगत्‌में भी उतार लाना होगा। इसे केवल भौतिक चेतनाका रूपान्तर ही नहीं बल्कि भौतिक सत्ताका भी रूपान्तर साधित करने देना होगा जो एक काफी बड़ा कार्य है।

संक्षेपमें, तुम्हें वैयक्तिक उपलब्धिको समष्टिकी उपलब्धिके साथ मिला नहीं देना चाहिये: जब हमें अमृत मिल गया है तो हम सब संप्रदायोंसे ऊपर उठ गये हैं, हमारे लिये इनका न कुछ अर्थ रह गया है और न उपयोग। किन्तु, सामान्य और सार्वजनिक रूपमें, इनका मूल्य और उपयोग मार्गके रूपमें तबतक बना रहेगा, जबतक मनुष्य सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेते।

२८-१-६१

५५ —— मेरे अंदर विस्तारित होओ, हे वरुण; मेरे अंदर शक्तिशाली बनो, हे इन्द्र; हे सूर्य, अत्यधिक तेजस्वी और ज्योतिर्मय बनो; हे चन्द्र, सौंदर्य और माधुर्यसे परिपूर्ण होओ; हे रुद्र, भयानक और विकट हो उठो; प्रचंड और वेगवान् बन जाओ, हे मरुत्; सबल एवं साहसी बनो, हे अर्यमा; भोक्ता और सुखदायक बनो, हे भग; कोमल, दयालु, स्नेही और भावुक बनो, हे मित्र; उज्ज्वल और प्रकाशकारी बनो, हे उषा; हे रात्रि, गंभीर और उर्वर बनो; हे जीवन, परिपूर्ण, तत्पर और स्फूर्तिमय बनो; हे मृत्यु, मेरे पगोंको एक धामसे दूसरे धाममें ले चलो। इन सबको समन्वित करो, हे ब्रह्मणस्पति ... मैं इन देवताओंके अधीन होऊं, हे काली।

श्रीअरविन्द कालीको सबसे अधिक महत्त्व क्यों देते हैं?

जिन गुणोंका ये देवता प्रतिनिधित्व करते हैं या जिनके ये प्रतीक हैं उन सबको प्राप्त करना आवश्यक और अच्छा है। इसीलिये श्रीअरविन्द उनका आवाहन करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी प्रकृतिको अपने अधीन कर लें। किन्तु, जो परात्पर भगवान्के साथ संयुक्त होना चाहता है, जो सर्वोच्च प्राप्तिके लिये अभीप्सा करता है, उसके लिये यह काफी नहीं हो सकता। इसीलिये अन्तमें वे कालीका आवाहन करते हैं ताकि वे उन्हें इन देवताओंके परे जानेकी शक्ति दें।

क्योंकि, काली विश्व-माताका एक अत्यधिक शक्तिशाली पक्ष है। इन द्वारा सृष्ट सभी देवताओंकी शक्तिसे इनकी शक्ति अधिक महान् है। अतएव इनसे युक्त होनेका अर्थ है सभी देवताओंकी समष्टिसे अधिक विस्तृत, पूर्ण और शक्तिशाली होना। इसीलिये श्रीअरविन्द कालीके साथ एकत्वको सबसे ऊपर और परे स्थान देते हैं।

२-२-६१

५६ —— ओ उत्सुक विवादकर्ता, तू विवादमें जीत गया है, अब तो तुझपर अत्यधिक दया आनी चाहिये, क्योंकि तूने अपने ज्ञानको विस्तृत करनेका एक अवसर खो दिया है।

विवादका क्या उपयोग है? जिसे हम सत्य समझते हैं उसे

दूसरोंको समझानेका सबसे अच्छा तरीका कौन-सा है?

सामान्यतया, जो लोग विवाद करना पसन्द करते हैं वे वही होते हैं जिन्हें अपने विचारोंको सुस्पष्ट करनेके लिये विरोधसे उत्तेजना पानेकी आवश्यकता होती है।

यह स्पष्ट ही एक प्रारंभिक बौद्धिक अवस्थाका चिह्न है।

किन्तु यदि तुम किसी विवादमें एक निष्पक्ष दर्शकके रूपमें उपस्थित हो (तब भी जब तुम विवादमें हिस्सा ले रहे हो और कोई तुमसे ही विवाद कर रहा हो), तो तुम सदा ही उससे लाभ उठा सकते हो, अर्थात्, तुम कई दृष्टिकोणोंसे किसी प्रश्न या समस्याको सोच सकते हो। विरोधी मतोंमें समन्वय लानेके प्रयत्नमें तुम अपने विचारोंको विस्तृत कर सकते हो तथा एक अधिक व्यापक समन्वयतक पहुंच सकते हो।

जिसे व्यक्ति सत्य समझता है उसे दूसरोंके आगे प्रमाणित करनेका सबसे अच्छा तरीका है उसके अनुसार **आचरण करना** — और कोई दूसरा तरीका नहीं है।

यदि कोई विवादमें जीत जाता है तो वह अपनी चेतनाको विस्तृत करनेका अवसर कैसे खो देता है?

विवाद मतोंके परस्पर विरोधके सिवाय और कुछ नहीं है, और मत सत्यके अत्यन्त आंशिक पक्षोंके सिवाय कुछ नहीं है? तुम भले एक विषयपर समस्त मतोंको एकत्रित और समन्वित करनेमें सफल हो जाओ, फिर भी तुम्हें सत्यकी एक बहुत अपूर्ण अभिव्यक्तिसे अधिक और कुछ नहीं मिलेगा।

यदि तुम विवादमें जीत जाते हो, इसका मतलब यह होता है कि तुम्हारे मतने दूसरे मतको परास्त कर दिया है, पर तुम्हारे जीतनेका कारण आवश्यक रूपसे यह नहीं होता कि तुम्हारा मत उसके मतसे अधिक सच्चा था, वरन् यह कि तुम तर्कोंका प्रयोग अच्छी तरह कर सकते थे, या यह कि तुम अधिक आग्रही विवादकर्त्ता हो। और उस विवादके बाद तुम्हें यह विश्वास हो जाता है कि जिस मतकी तुम पुष्टि करते हो वही ठीक है। इस प्रकार तुम प्रश्नका अपने दृष्टिकोणसे भिन्न दूसरा दृष्टिकोण देखने तथा सत्यका जो एक या अनेक पक्ष तुम्हें पहलेसे ज्ञात हैं उनमें एक और पक्ष जोड़नेका अवसर खो देते हो। तुम अपने ही विचारमें बन्द होकर रह जाते हो तथा उसे विस्तृत करना अस्वीकार कर देते हो।

१७-३-६१

५७ — चूंकि बाघ अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करता है और उसके सिवा कुछ नहीं जानता, वह दिव्य है और उसके अंदर कोई बुराई नहीं है। यदि वह अपनेसे प्रश्न करने लगे तो वह अपराधी हो जायगा।

मनुष्यके लिये सच्चे अर्थोंमें "स्वाभाविक" अवस्था क्या होगी? वह प्रश्न क्यों करता है?

पृथ्वीपर[1] मनुष्य एक संक्रमणकालीन सत्ता है और इसलिये अपने विकास-कालमें वह क्रमशः कई ऐसी प्रकृतियां ग्रहण करता है जिन्होंने आरोहणके चक्राकार मार्गका अनुसरण किया है और तबतक करती रहेंगी जबतक कि वह अपनी अतिमानसिक प्रकृतिकी देहरीतक न पहुंच जाय और अति-मानवमें रूपान्तरित न हो जाय। यह चक्र-रेखा उसके मानसिक विकासका घुमावदार चक्र है।

हम ऐसी किसी भी सहज अभिव्यक्तिको "प्राकृतिक" कहना पसन्द करते हैं जो किसी चुनावका, पहलेसे सोचे हुए निश्चयका परिणाम न हो, दूसरे शब्दोंमें, जिसमें किसी भी मानसिक क्रियाने हस्तक्षेप न किया हो। इसी-लिये जब मनुष्यमें एक ऐसी प्राणिक सहजता होती है जिसमें मानसिक क्रियाका बहुत ही कम प्रभाव होता है, तो वह सरलता अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है। किन्तु यह एक ऐसी सरलता है जो पशुकी सरलतासे बहुत मिलती है तथा विकासके मानव स्तरके एकदम निचले तलमें स्थित है। वह मानसिक हस्तक्षेपसे रहित इस सहजताको पुनः तभी प्राप्त करेगा जब वह अतिमानसिक अवस्थाको प्राप्त कर ले, दूसरे शब्दोंमें, जब वह मनको पार करके उच्चतर सत्यमें ऊपर उठेगा।

तबतक, स्वभावतः ही, उसकी सत्ताके ये सभी तरीके प्राकृतिक रहेंगे! किंतु मनके साथ यह विकासक्रम, हम झूठा तो नहीं कह सकते, पर विकृत अवश्य हो गया है, क्योंकि मनका यह स्वभाव है कि वह विकृतिकी ओर खुला रहता है, बल्कि शुरूसे ही वह विकृत है, यह कहना

---

[1]श्रीमाताजीने यह भी कहा : "यह कथन आवश्यक नहीं है, मैंने जब "पृथ्वीपर" कहा है तो मेरा मतलब यह है कि मनुष्य केवल पृथ्वीका ही प्राणी नहीं है : अपने मूल रूपमें मनुष्य एक वैश्व सत्ता है, किन्तु पृथ्वीपर उसकी अभिव्यक्ति एक विशेष प्रकारकी है।"

अधिक ठीक होगा कि आसुरिक शक्तियोंने उसे विकृत कर दिया है। विकृतिकी यह अवस्था ही हमें ऐसा आभास देती है कि वह स्वाभाविक नहीं है।

वह प्रश्न क्यों करता है? केवल इसलिये कि यह मनका स्वभाव है!

मनके साथ व्यक्तिकरण शुरू हुआ और पृथक्ताकी एक बड़ी तीव्र भावना और चुनावसंबंधी स्वतंत्रताकी एक थोड़ी-बहुत यथार्थ प्रतीति भी आयी — ये सब मनोवैज्ञानिक अवस्थाएं मानसिक जीवनके स्वाभाविक परिणाम हैं तथा उन सब परिणामोंके लिये जो आज हमारे सामने हैं, अर्थात्, भ्रांतियोंसे लेकर अत्यधिक कठोर सिद्धांतोंतकके लिये द्वार खोल देती हैं। मन सोचता है कि वह एक या दूसरी चीजमें चुनाव कर सकता है, किंतु उसका यह बोध उस सच्चे सिद्धांतकी विकृतिमात्र है जो केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब अंतरात्मा या चैत्य चेतनासे प्रकट होकर सत्ताका शासन-सूत्र अपने हाथमें ले ले। तब मनुष्यका जीवन सचमुच वैयक्तिक और चेतन रूपमें अपने-आपको परिणत करनेवाली सर्वोच्च इच्छा-शक्तिकी अभिव्यक्ति हो जायगा। किंतु मनुष्यकी सामान्य अवस्थामें यह एक असाधारण बात है जो मानव चेतनाको स्वाभाविक नहीं प्रतीत होती — बल्कि अतिप्राकृतिक प्रतीत होती है।

मनुष्य प्रश्न करता है, क्योंकि मन-रूपी यंत्र सब संभावनाओंको देखनेके लिये ही बनाया गया है; और इसका तात्कालिक परिणाम है शुभ और अशुभका विचार, अर्थात्, क्या ठीक है, क्या गलत है, इसका और इसके परिणामस्वरूप होनेवाले सब कष्टोंका विचार। यह नहीं कहा जा सकता कि यह बुरी चीज है, यह एक मध्यवर्ती अवस्था है, — कोई विशेष सुखद अवस्था नहीं है, किंतु फिर भी . . . मनके पूर्ण विकासके लिये यह अवस्था निश्चय ही अनिवार्य थी।

१७-३-६१

५८ — पशुने भ्रष्ट होनेसे शुभ और अशुभके ज्ञान-वृक्षका फल नहीं खाया है, देवताने शाश्वत जीवनका वृक्ष पानेके लिये उसे छोड़ दिया है, मनुष्य ऊपरके स्वर्ग और नीचेकी प्रकृतिके बीचमें खड़ा है।

क्या यह सच है कि कोई पार्थिव स्वर्ग भी था? मनुष्यको

वहांसे क्यों निकाल दिया गया?'

ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे (मैं यहां मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणकी नहीं, ऐतिहासिक दृष्टिकोणकी बात कर रही हूं), यदि मैं अपने-आपको अपनी स्मृतिकी भूमिकापर रखूं (मैं इसे प्रमाणित नहीं कर सकती, वस्तुतः कुछ भी प्रमाणित नहीं हो सकता — और मेरे विचारमें इसका कोई भी सच्चे अर्थोंमें ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, दूसरे शब्दोंमें, ऐसा प्रमाण जिसे सुरक्षित रखा गया हो। कम-से-कम ऐसा कोई प्रमाण अभीतक मिला नहीं है), किंतु जहांतक मेरी स्मृति जाती है, पृथ्वीके इतिहासमें निश्चय ही एक ऐसा समय था जब एक प्रकारके पार्थिव स्वर्गका अस्तित्व था, इस अर्थमें कि वह एक पूर्णतया सामंजस्यपूर्ण और प्राकृतिक जीवन था; अर्थात्, मनकी अभिव्यक्ति प्रकृतिकी आरोहणकारी गतिके साथ पूर्ण सहमति और सामंजस्य रखती थी, उसमें कोई विकृति या विकार नहीं था। यह स्थूल रूपोंमें मनकी अभिव्यक्तिकी पहली अवस्था थी।

यह अवस्था कितने समयतक रही? — यह कहना कठिन है, किंतु मनुष्यके लिये यह एक ऐसा 'जीवन' था जो पशु-जीवनके विकासके साथ कुछ-कुछ मिलता था। मेरी यह स्मृति उस जीवनकी ओर निर्देश करती है जिसमें शरीर पूर्ण रूपसे अपने प्राकृतिक वातावरणके अनुकूल था — जलवायु शरीरकी आवश्यकताओंके और शरीर जलवायुकी आवश्यकताओंके अनुकूल। जीवन पूर्णतया सहज और स्वाभाविक था, इतना सहज और स्वाभाविक जितना कि एक अधिक प्रकाशयुक्त और चेतन पशु-जीवन होगा। किंतु इसमें वे जटिलताएं और विकृतियां नहीं थीं जिन्हें मन अपने विकासक्रममें पीछेसे ले आया। ऐसे जीवनकी स्मृति मुझे है। मुझे यह स्मरण था और जब मैं समग्र पृथ्वीके जीवनके प्रति सचेतन हुई तो मैंने इसे फिरसे जीवनमें भी देखा। किंतु मैं यह नहीं कह सकती और न ही मैं जानती हूं कि यह कितने समयतक रहा, या इसका विस्तार कहां हुआ। मुझे केवल अवस्था या स्थितिका ही स्मरण है, अर्थात्, जड़-प्रकृति कैसी थी, उस समय मानव-रूप और मानव-चेतना कैसी थी और पृथ्वीके अन्य सब तत्त्वोंके साथ उसका समन्वय कैसा था — निःसंदेह, प्राणि-जीवनके साथ, तथा अधिकतर वनस्पतिके जीवनके साथ। प्रकृति-

---

'माताजीने इस प्रश्नका उत्तर मौखिक दिया था। हम यहां वैसे-का-वैसा ही दे रहे हैं जैसा कि वह रिकार्ड किया गया था।

की वस्तुओंके प्रयोगका, वनस्पतियों और फलोंके गुणोंका, वस्तुतः जो कुछ प्रकृतिका वनस्पति-जगत् हमें दे सकता था उस सबका एक प्रकारका स्वयं-स्फूर्त्त ज्ञान यहां विद्यमान था। न तब आक्रमण-वृत्ति थी, न भय, न विरोध, न संघर्ष और न विकृति ही — मन पवित्र, सरल और प्रकाश-पूर्ण था, जटिल नहीं।

विकासकी प्रगतिके साथ, उसके आगे बढ़नेकी क्रियाके साथ ही, जब मनने अपने अंदर, **अपने ही लिये** विकसित होना शुरू कर दिया तो ये समस्त जटिलताएं और विकृतियां आरंभ हुईं। हां तो, बाइबलके पहले अध्याय (सृष्टयुत्पत्ति-प्रकरण) की कहानीमें भी, जो बच्चोंकी कहानी-सी प्रतीत होती है, कुछ सत्य है। इस पुस्तककी परंपरा जैसी पुरानी परं-पराओंमें प्रत्येक अक्षर एक विशेष ज्ञानका संकेत होता था। वह उस समयके परंपरागत ज्ञानका चित्रात्मक सारांश होता था। किंतु इसके अतिरिक्त, प्रतीत्कामक कथामें भी एक सत्य था और वह यह कि पृथ्वीपर सचमुच ही जीवनका एक ऐसा काल, मानवी आकारोंमें मानसी-कृत जड़-पदार्थकी प्रथम अभिव्यक्तिका काल था जो तब भी अपनेसे पहले आयी हुई समस्त वस्तुओंके साथ पूर्णतया समस्वर था और यह तो पीछे ही चीजें बिगड़ीं।

ज्ञानके वृक्षका प्रतीक? यह एक ऐसा ज्ञान है जो दिव्य नहीं रहा, यह भौतिक ज्ञान है जिसका स्रोत विभाजनमें है और जिसने सब चीजोंको दूषित करना आरंभ किया था। यह काल कबतक रहा? (क्योंकि मुझे जिस जीवनका स्मरण है वह प्रायः अमर है — मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि विकासक्रममें अचानक ही आकारोंके विघटनकी आवश्यकता पैदा हो गयी और यह हुआ प्रगतिके लिये ही)। अतएव, मैं नहीं कह सकती कि यह काल कबतक रहा और कहां रहा। यदि कुछ संकेतोंको देखा जाय (किंतु हैं ये केवल संकेत ही), तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह . . . के आस-पास हो सकता है, मुझे ठीक पता नहीं कि यह स्थान लंका और भारतके इस ओर है या दूसरी ओर (यहां माताजी हिंद महासागर-की ओर, अर्थात्, या तो लंकाके पश्चिमकी ओर या लंका और जावाके बीच, पूर्वकी ओर संकेत करती हैं), किंतु निश्चय ही इस स्थानका अब अस्तित्व नहीं है, शायद समुद्र इसे लील गया है। इस स्थानकी अंतर-झांकी और इस जीवन और इसके रूपोंकी चेतना मेरे अंदर बड़ी स्पष्ट है; किंतु स्थूल रूपमें ठीक स्थानादि बताना संभव नहीं है। सच पूछो तो, जब दुबारा मुझे इस जीवनकी अनुभूति हुई, तो मेरे अंदर ब्योरेकी चीजें देखनेकी उत्सुकता नहीं थी। वस्तुतः, वहां भावनाकी एक

और ही अवस्था होती है जिसमें इन स्थूल प्रकारके यथार्थ वर्णनोंके लिये उत्सुकता नहीं रहती; तब प्रत्येक वस्तु मनोवैज्ञानिक तथ्यमें बदल जाती है, और यह वस्तु अत्यधिक सरल, प्रकाशमय और सामंजस्यपूर्ण तथा हमारी समस्त धारणाओंसे परेकी वस्तु थी — ठीक-ठीक कहें तो, स्थान और काल-संबंधी इन सभी पूर्व धारणाओंसे बिलकुल परेकी वस्तु थी। यह एक जीवन था — सहज, अत्यधिक सुन्दर और प्रकृतिके अतीव निकट; पशुके जीवनके स्वाभाविक विकासकी भांति, वहां कोई विरोध न था, न प्रतिवाद, कुछ भी नहीं था — सब कुछ अच्छे-से-अच्छे तरीकेसे होता था।

(मौन)

मुझे यह स्मृति बार-बार, विभिन्न परिस्थितियोंमें, कई बार प्राप्त हुई है (उसमें वह-का-वही दृश्य या प्रतिमूर्तियां नहीं थीं, क्योंकि यह ऐसी वस्तु नहीं थी जिसे मैंने देखा हो। यह **एक जीवन** था जो मैंने जिया था)। कुछ समयतक, रात-दिन मुझे एक प्रकारकी समाधिमें एक ऐसा जीवन दिखायी देता रहा जो मैं बिता चुकी थी, और मुझमें इस बातकी पूर्ण चेतना थी कि यह पृथ्वीपर मानव आकारोंके प्रस्फुटनकी अवस्था थी, ये वे पहले आकार थे जो भागवत सत्ताको मूर्तिमन्त करनेके योग्य बने। हां, यही बात थी : पहली बार मैं एक पार्थिव आकारमें, एक विशेष आकारमें, एक वैयक्तिक आकारमें व्यक्त हो सकी थी (विश्व-व्यापी जीवनमें नहीं, वैयक्तिक रूपमें), दूसरे शब्दोंमें, पहली बार, इस जड़-पदार्थके मानसीकरणके द्वारा, ऊपरकी सत्ता और नीचेकी सत्ताको संयुक्त किया गया था। यह अनुभूति मेरे जीवनमें कई बार चरितार्थ हुई है, किन्तु बाह्य ढांचा सदा एक जैसा होता था। अनुभूति भी बिलकुल वही होती थी, वह प्रसन्नता-मिश्रित सरलताकी अनुभूति थी, उसमें कोई जटिलता नहीं थी, न कोई समस्या थी, और न शंकाएं ही, वहां इन चीजोंमेंसे कुछ भी नहीं था। था केवल प्रेम और सामंजस्यकी एक सामान्य अवस्थामें जीवन बितानेके, केवल इसी अनुभूतिको जीवनमें चरितार्थ करनेके आनन्दका विकास — फूल, धातु, पशु सबमें अच्छा सद्भाव था।

इसके बहुत समय बाद, यह भी एक व्यक्तिगत बोध ही है, वस्तुएं दूषित होने लगीं। शायद इसलिये कि सामान्य विकासके लिये मानसिक स्फटिकीकरण आवश्यक था, अनिवार्य हो गया था, जिससे वह किसी और चीजतक पहुंचनेके लिये तैयार हो जाय; यहीं . . . छिः, ऐसा प्रतीत होता

है मानों व्यक्ति एक गढ़ेमें, कुरूपता और अन्धकारमें जा गिरा हो। इसके बाद सब कुछ इतना काला, असुन्दर, कठिन और कष्टदायक हो गया! यह सचमुच, हां, सचमुच पतनका आभास देता है।

(मौन)

मैं एक गुह्यवादीको जानती हूं जो कहता था कि यह सब अनिवार्य नहीं था — वस्तुतः उसके भावको व्यक्त करना कठिन है। अभिव्यक्तिकी पूर्ण स्वतंत्रतामें मूल स्रोतसे स्वेच्छापूर्वक अलग हो जाना ही इस समस्त अव्यवस्थाका कारण है। क्या ठीक यही बात नहीं है, पर इसकी व्याख्या कैसे की जाय? हमारे शब्द इतने दरिद्र हैं कि इन चीजोंको समझा नहीं सकते। हम कह सकते हैं कि यह अनिवार्य था, क्योंकि ऐसा हुआ। किन्तु यदि हम सृष्टिके बाहर निकलकर देखें, तो एक ऐसी सृष्टिके बारेमें सोच सकते हैं, बल्कि सोच सकते थे जिसमें वह अव्यवस्था न होती। श्रीअरविन्द भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं, कि यह एक प्रकारकी आकस्मिक घटना थी, इसे आकस्मिक घटना कहा जा सकता है, पर एक ऐसी आकस्मिक घटना, जिसने अभिव्यक्तिके लिये कहीं अधिक महान् और समग्र पूर्णताको प्राप्त करना संभव बना दिया है; यदि यह घटना न हुई होती, तो अभिव्यक्ति उतनी महान् और पूर्ण न होती। किन्तु ये अटकलबाजियां हैं और कम-से-कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि बेकार अटकल बाजियां हैं। बहरहाल इस विषयका अनुभव और बोध यही है: (यहां माताजी एक निःसहाय पतनका संकेत देती हैं) ओह, एकदम सहसा।

संभवतः, पृथ्वीके लिये ऐसा ही हुआ, एकदम अचानक: एक प्रकारका आरोहण और फिर पतन — किन्तु पृथ्वी तो एकाग्रताका केवल एक छोटा-सा बिन्दु है; पर विश्वके दृष्टिकोणसे बात और ही है।

(मौन)

उस समयकी याद किसी स्थानपर, पृथ्वीके स्मृति-गर्भमें, अर्थात्, उस क्षेत्रमें जहां पृथ्वीकी समस्त स्मृतियां अंकित हैं, सुरक्षित है। और जो लोग स्मृतिके साथ संबंध स्थापित कर सकते हैं, वे कह सकते हैं कि अब भी पार्थिव स्वर्गका कहीं अस्तित्व अवश्य है, पर मैं इसे नहीं जानती, न देखती ही हूं।

और सर्पकी कहानी क्या है? सर्पको इतना अशुभ क्यों माना जाता है?

ईसाई लोग कहते हैं कि यह 'अशुभ' की सत्ता है।

(मौन)

किन्तु यह सब नासमझी है।

जिस गुह्यवादीके बारेमें मैं कह चुकी हूं उसका कहना है कि बाइबलकी 'स्वर्ग और सर्प'की कहानीका सच्चा अर्थ यह है कि मनुष्य, मनके विकास के द्वारा, पशुकी दिव्यताकी अवस्थासे, पशुओंके ही समान, चेतन दिव्यताकी अवस्थातक जाना चाहता था (यह इसीका प्रतीक है, जब यह कहा जाता है कि उन्होंने ज्ञानके वृक्षका फल खाया)। तो, और वह सर्प (यह भी कहा जाता है कि सर्प रंग-बिरंगा था, अर्थात्, उसमें सातों रंग मौजूद थे) अशुभ बिलकुल ही न था, यह एक विकासात्मक शक्ति थी, अर्थात्, विकासकी शक्ति, और स्वभावतया इस विकासात्मक शक्तिने ही उन्हें ज्ञानका फल चखाया।

और फिर उनके अनुसार, जेहोवा (Jekova) असुरोंका सरदार, सबसे बड़ा असुर था — वह एक ऐसा अहंकारी देवता था जो सबपर अधिकार जमाना एवं सबको अपने वशमें करना चाहता था। जिस क्षणसे उसने, पार्थिव सिद्धिके सम्बन्धमें सर्वोच्च स्वामीकी पदवी ग्रहण की, उसी क्षणसे उसे यह बात स्वभावतया अखरने लगी कि मनुष्य एक ऐसी मानसिक प्रगति कर ले जो उसे स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करनेकी शक्ति देनेवाला ज्ञान प्रदान करे। वह इस बातसे भयंकर रूपमें क्रोधित हो उठा। कारण, यह ज्ञान मनुष्यको, चेतनाके विकासकी शक्तिके द्वारा, देवता बना सकता है। इसीलिये, उन्हें स्वर्गसे निकाल दिया गया था।

इसमें पर्याप्त मात्रामें सत्य है, पर्याप्त मात्रामें।

श्रीअरविन्द भी इससे पूर्णतया सहमत थे। उन्होंने भी यही बात कही थी। मनकी विकासात्मक शक्तिने ही मनुष्यको ज्ञानकी ओर प्रेरित किया — एक ऐसे ज्ञानकी ओर जो विभाजनका ज्ञान था। और यह भी सच्ची बात है कि शुभ और अशुभको जानकर ही मनुष्य अपने प्रति सचेतन हुआ। किन्तु स्वभावतया, इसने सब कुछ बिगाड़ दिया और वह स्वर्गमें न रह सका। वह अपनी चेतनाके द्वारा ही वहांसे खदेड़ दिया गया; वह और न रह सका।

> किन्तु क्या वह जेहोवाद्वारा निकाल दिया गया था या अपनी चेतनाके द्वारा?

ये एक ही बात कहनेके दो भिन्न तरीके हैं।

मैं समझती हूं कि इन सब प्राचीन धर्म-पुस्तकों और प्राचीन परंपराओं-में दी गयी सामग्रीमें एक वर्गक्रम है (यहां माताजी समझके स्तरोंको दिखानेके लिये एक संकेत करती हैं), और युग, व्यक्तियों और आवश्यकताके अनुसार एक अथवा दूसरा प्रतीक वहांसे ले लिया गया और प्रयोगमें लाया गया। किन्तु एक ऐसा समय भी आता है जब तुम इन चीजोंसे परे जाकर उन्हें उस स्थानसे देखते हो जिसे श्रीअरविन्द "दूसरा गोलार्ध" कहते हैं जिसमें तुम यह अनुभव करने लगते हो कि ये केवल, तुम्हें उसके संपर्कमें लानेके लिये, कहनेका ढंगमात्र हैं — यह देखनेके निम्न ढंग और जीवनके उच्च ढंगके बीचमें एक सेतु है, एक जोड़नेवाली ग्रंथि है।

और जो लोग तर्क करते हैं और तुम्हें कहते हैं: "ओह, नहीं वह ऐसा है, यह ऐसा है", किसी समय बड़े हास्यास्पद प्रतीत होते हैं! और बहुत-से लोगोंका यह सहज उत्तर: "ओह! वह, वह तो असंभव है", जितना हास्यजनक है उतना हास्यजनक और कोई कथन नहीं है। कारण, कम-से-कम, बल्कि यह भी कहा जा सकता है, अत्यधिक प्रारंभिक ढंगका बौद्धिक विकास भी तुम्हें यह जानने योग्य बना सकता है कि यदि यह संभव न होता तो तुम इसके बारेमें सोच भी न सकते।

(मौन)

ओह! केवल इसे हम दुबारा पा सकते! पर कैसे?

आखिर, उन्होंने पृथ्वीको दूषित कर दिया है, उसे दूषित कर ही दिया, सारे वायुमण्डलको दूषित कर दिया है, सब कुछ दूषित कर दिया है! अतएव, अब वातावरणको एक बार फिरसे वैसा बनानेके लिये जैसा कि उसे होना चाहिये, व्यक्तिको बहुत दूरतक जाना होगा, विशेषकर मनो-वैज्ञानिक ढंगसे बहुत दूरतक जाना होगा, किन्तु जड़-पदार्थकी रचना ही (माताजी अपने आसपासकी वायुको अपने हाथोंसे टटोलती हैं), इसके ये बम और प्रयोग, ओह, इन्होंने सब घोटाला कर दिया है... सचमुच ही जड़-पदार्थको अस्तव्यस्त कर दिया है।

संभवत: — न, संभवत: नहीं, यह बिलकुल सच है — कि इसे पीसना,

मथना और तैयार करना आवश्यक था ताकि यह उस नयी चीजको, जो अभिव्यक्त नहीं हुई है, ग्रहण कर सके।

यह बहुत सरल, बहुत सामंजस्य और प्रकाशसे पूर्ण तो था, पर काफी जटिल नहीं। वस्तुतः इसी जटिलताने सब कुछ दूषित कर दिया है, किन्तु यही जटिलता अनन्तगुनी अधिक सचेतन सिद्धि लायेगी। और तब, जब पृथ्वी इस जटिलताके साथ भी, उसी प्रकार सरल, प्रकाशपूर्ण और शुद्ध —सरल, पवित्र और शुद्ध रूपसे दिव्य हो जायगी, तभी हम कुछ कर सकेंगे।

(ज्यों ही माताजी जानेके लिये उठीं, उन्होंने बड़े चमकीले बैंगनी रंगका कैनाका फूल देखा)

ठीक ऐसे ही, पार्थिव स्वर्गकी भूमिमें ऐसे ही बहुत-से फूल थे, लाल और इतने सुन्दर!!

११-३-६१

५९ — धर्मकी सबसे बड़ी सुविधा यह है कि कभी-कभी तुम भगवान्को पकड़कर उन्हें अच्छी तरहसे पीट सकते हो। लोग उन बर्बर जातियोंकी मूर्खताओंकी हंसी उड़ाते हैं जो, यदि उनकी प्रार्थनाएं स्वीकार न हों तो अपने देवताओंकी मार-पीट करते हैं। किंतु ये हंसी उड़ानेवाले स्वयं ही मूर्ख और बर्बर हैं।

कोई भगवान्को कैसे पीट सकता है?

धर्मकी प्रवृत्ति सदा यह होती है कि वह भगवान्को मनुष्यके रूपमें देखता है। यह रूप होता तो है बहुत परिवर्द्धित और विस्तृत ढंगका पर तलमें ऐसे भगवान् हमेशा मानवीय गुणोंवाले होते हैं। इसी कारण लोगोंका भगवान्के साथ ऐसा व्यवहार करना संभव होता है जैसा कि वे अपने मानवीय शत्रुके साथ करते। कुछ देशोंमें ऐसा भी होता है कि जब भगवान् लोगोंकी इच्छानुसार कार्य नहीं करते तो वे उन्हें ले जाकर नदीमें फेंक आते हैं।

किन्तु क्या ये "मूर्तियां" केवल मनुष्यकी रचनाएं ही नहीं हैं, इनका अपना अस्तित्व भी होता है?

रूप कुछ भी हो (जिसे हम तिरस्कारके भावमें "मूर्ति" कहते हैं), देवताका बाह्य रूप चाहे जो हो, चाहे हमारी भौतिक आंखोंको कुरूप, अति साधारण या भयानक अथवा हास्यापद भी लगे, उसके अंदर सदा उस वस्तुकी उपस्थिति रहती है जिसका वह प्रतीक होता है। वहां एक ऐसा व्यक्ति अवश्य होता है, चाहे वह पुरोहित हो या दीक्षित शिष्य, साधु हो या संन्यासी, जिसमें कुछ शक्ति होती है और जो (साधारणतया यह कार्य पुरोहितका होता है) शक्ति और अंदरकी उपस्थितिको खींचता है। और यह बात वास्तविक और सच्ची है कि वहां शक्ति और उपस्थिति होती भी है। लोग इसीकी, इस उपस्थितिकी ही पूजा करते हैं, लकड़ी, पत्थर या धातुसे बनी मूर्तिकी नहीं।

किंतु यूरोपके लोगोंमें यह आंतरिक भाव नहीं होता, बिलकुल नहीं होता, क्योंकि उनके लिये सब वस्तु मानों ऊपरी तल है, इतना ही नहीं, ऊपरी तलका भी एक टुकड़ा है, जिसके पीछे कुछ नहीं है। इसीलिये वे यह सब अनुभव नहीं कर पाते। किंतु मैं इस बातकी पुष्टि करती हूं कि वहां उपस्थितिका होना एक तथ्य है, एक पूर्णतया सच्चा तथ्य।

बहुत-से लोग कहते हैं कि श्रीअरविन्दकी शिक्षा एक नया धर्म है। क्या आप भी यही कहेंगी कि यह एक धर्म है?

जो यह कहते हैं, वे मूर्ख हैं, उन्हें यह पता नहीं कि वे क्या कह रहे हैं। जो कुछ श्रीअरविन्दने लिखा है तुम बस उसीको पढ़ लो और तुम्हें पता लग जायगा कि उनकी रचनाओंपर किसी धर्मको आधारित करना संभव ही नहीं है। कारण, वे प्रत्येक समस्याको, प्रत्येक प्रश्नको उसके सब पक्षोंमें उपस्थित करते हैं तथा प्रत्येक दृष्टिकोणके सत्यको दर्शाते हैं और वे यह भी बताते हैं कि सत्यपर पहुंचनेके लिये तुम्हें एक ऐसा समन्वय साधित कर लेना चाहिये जो समस्त मानसिक धारणाओंको पार करके विचारके परे स्थित परात्पर सत्तातक पहुंचता हो।

अतएव, प्रश्नका दूसरा भाग निरर्थक है। साथ ही यदि तुमने 'बुलेटिन'का पिछला अंक[1] पढ़ा होता, तो तुम यह प्रश्न कभी न करते।

---

[1] "जगत्के इतिहासमें श्रीअरविन्द जिस वस्तुके प्रतीक हैं वह कोई शिक्षा नहीं है, न वह एक नया अन्तःप्रकाश ही है; वह एक निर्णायक कार्य है जो सीधा भगवान्से प्रवाहित हुआ है।" — माताजी (१४-२-६१)

मैं फिर दोहराती हूं कि जब हम श्रीअरविन्दकी बात कहते हैं तो वहां शिक्षा या अन्तःप्रकाशका प्रश्न ही नहीं उठता, वह तो सर्वोच्च सत्ताकी सीधी क्रिया है। इसपर कोई भी धर्म आधारित नहीं किया जा सकता। किंतु लोग इतने मूर्ख होते हैं कि वे किसी भी चीजको धर्मका रूप दे सकते हैं क्योंकि उन्हें अपने संकीर्ण विचार और सीमित कर्मके लिये एक स्थिर ढांचेकी आवश्यकता पड़ती है। जबतक वे इस प्रकार स्थापना नहीं कर सकते कि यह चीज सच्ची है और वह झूठी, तबतक वे सुरक्षित नहीं अनुभव करते। किंतु जिन्होंने श्रीअरविन्दकी पुस्तकोंको पढ़ा और समझा है वे ऐसा नहीं कह सकते। धर्म और योग सत्ताके एक ही स्तरपर स्थित नहीं हैं। और आध्यात्मिक जीवन पूर्णतया शुद्ध रूपमें अपना अस्तित्व तभी रख सकता है जब वह समस्त मानसिक मताग्रहोंसे मुक्त हो जाय।

२६-४-६१

६० — मर्त्यताका अस्तित्व नहीं है, केवल अमर ही मर सकता है; मर्त्य न जन्म ले सकता है, न मर सकता है।

क्या मनुष्य अपने मानसिक, प्राणिक और भौतिक अनुभवों-को एक जन्मसे दूसरे जन्मतक ले जाता है?

प्रत्येकमें यह बात भिन्न ढंगसे होती है। सब कुछ व्यक्तिके विभिन्न भागोंके विकासकी मात्रापर तथा इन भागोंके आंतरात्मिक केंद्रके चारों ओर कम या ज्यादा अच्छे संगठनपर निर्भर है। व्यक्ति जितना अधिक संगठित होगा उतना अधिक उसका अस्तित्व चेतन रूपमें स्थायी हो जायगा। साधा-रणतया, यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्तमान जीवनमें अपने पूर्व जीवनके परिणामोंको लाता है, पर उन जीवनोंकी स्मृतिको नहीं बनाये रखता। कुछ विरल अपवादोंको छोड़कर साधारणतया जब तुम अपनी अंतरात्माके साथ संयुक्त होते हो, जब तुम उसके प्रति पूर्णतया सचेतन हो जाते हो, केवल तभी तुम पूर्व जन्मोंकी बातें याद रख सकते हो जिन्हें अंतरात्मा अपनी चेतनामें सुरक्षित रखती है।

अन्यथा अत्यधिक संवेदनशील व्यक्तियोंमें भी ये स्मृतियां खंडित और अनिश्चित होती हैं तथा समय-समयपर ही उठती हैं, अधिकतर तो इन्हें पहचानना भी कठिन होता है; ये अनिश्चित प्रभावसे अधिक कुछ नहीं प्रतीत होतीं। किंतु जो इन बाह्य प्रतीतियोंके पीछेकी वस्तुको देखना

जानता है, वह अपने जीवनकी परिस्थितियोंकी श्रृंखलामें एक प्रकारकी समानता देख सकेगा।

४-५-६१

६१ — कुछ भी ससीम नहीं है! केवल 'असीम' ही अपने लिये सीमाएं उत्पन्न कर सकता है। ससीमका न आदि हो सकता है न अंत, क्योंकि आदि और अंतका चिंतन भी इसकी असीमताको घोषित करता है।

'असीम'का अनुभव कैसे किया जाय?

इसका केवल एक ही तरीका है: ससीमकी चेतनासे निकल आओ।

अति प्राचीन समयसे अबतक, वहां पहुंचनेकी आशासे ही समस्त यौगिक अनुशासनोंका विकास हुआ है और लोग इनका अभ्यास करते आये हैं। इस विषयपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, पर किया बहुत कम गया है। केवल बहुत थोड़े-से व्यक्ति ही ससीमसे निकलकर असीममें डुबकी लगानेमें सफल हुए हैं।

फिर भी, जैसा कि श्रीअरविन्दने लिखा है, केवल असीमका ही अस्तित्व है और चूंकि हमारा उपरितलीय बोध झूठा है, हम ससीमके अस्तित्वमें विश्वास करने लगे हैं।

२०-५-६१

६२ — मैंने एक मूर्खको बिलकुल मूर्खतापूर्ण बातें कहते सुना और मुझे आश्चर्य हुआ कि इससे भगवान्का क्या तात्पर्य होगा; मैंने इसपर विचार किया और तब सत्य और ज्ञानके एक विकृत मुखौटेको देखा।

मूर्खता 'सत्य'का एक विकृत मुखौटा कैसे हो सकती है?

यहां श्रीअरविन्द मूर्खताकी ठीक परिभाषा देते हैं। मुखौटा एक ऐसी वस्तु है जो यथार्थ वस्तुको छिपा देती है; जिसे ढकती है उसे अदृश्य कर देती है। और यदि आवरण विकृत हुआ तो वह जिस वस्तुको ढकता है उसे

अदृश्य ही नहीं करता, बल्कि उसकी पूरी प्रकृतिको भी बदल देता है। इसलिये इस परिभाषाके अनुसार, मूर्खता एक ऐसी वस्तु है जो समस्त वस्तुओंके मूल सत्यपर परदा डाल देती है, उसे इस हदतक विकृत कर देती है कि वह पहचाना भी नहीं जा सकता।

२३-६-६१

क्या श्रीअरविन्दका तात्पर्य यह है कि किसी स्वतंत्र असत्य या असत्यताका अपने-आपमें कोई अस्तित्व नहीं है?

पूर्ण असत्यता तो कोई हो ही नहीं सकती। वस्तुतः यह संभव ही नहीं है, क्योंकि सब वस्तुओंके पीछे भगवान् विद्यमान हैं।

यह तो ऐसी बात है जैसे लोग पूछते हैं कि क्या कुछ तत्त्व विश्वसे लुप्त हो जायंगे। इसका अर्थ क्या हो सकता है, विश्वका नाश? यदि हम अपनी मूर्खतासे बाहर निकल आयें, तो हम "विनाश" किसे कह सकते हैं? केवल बाह्य रूप और प्रतीति नष्ट होती है — और बाह्य प्रतीतियां तो एक-एक करके सभी नष्ट हो जाती हैं। यह भी कहा गया है (यह सर्वत्र लिखा है और कितनी ही बातें कही गयी हैं) कि या तो विरोधी शक्तियां बदल जायंगी, दूसरे शब्दोंमें, वे अपने अंदर स्थित भगवान्के प्रति सचेतन होकर दिव्य बन जायंगी या फिर नष्ट हो जायंगी। नष्ट हो जानेका क्या अर्थ हुआ? उनका बाह्य रूप? उनकी चेतनाका स्वरूप शायद नष्ट हो जाय पर वह "चीज" जो उनके अस्तित्वका, बल्कि समस्त वस्तुओंके अस्तित्वका कारण है, वह कैसे नष्ट हो सकती है? विश्व एक बाह्य विषयीकरण है। उस वस्तुकी बाह्य चेतना है जो सनातन कालसे चली आ रही है, तब? यह कैसे हो सकता है कि 'सब कुछ' का अस्तित्व-न रहे? उस असीम एवं सनातन 'सर्व'से, दूसरे शब्दोंमें, उससे जिसकी किसी प्रकारकी कोई सीमा नहीं है, कौन बाहर निकल सकता है? बाहर निकलनेके लिये स्थान ही नहीं है! निकलके कहां जाय? उसके सिवाय तो और कुछ है ही नहीं।

और जब हम कहते हैं कि "केवल वही है", तो हम उसे किसी स्थानमें स्थित समझते हैं जो कि बिलकुल मूर्खतापूर्ण बात है। तब भला कोई किसी चीजको वहांसे बाहर कर सकता है?

तुम एक ऐसे विश्वके बारेमें सोच सकते हो जो वर्तमान अभिव्यक्तिसे बाहर निकला हुआ हो। तुम ऐसे विश्वोंके बारेमें सोच सकते हो जो

एक-दूसरेके बाद आते हों, उन वस्तुओंके बारेमें भी सोच सकते हो जो पहले विश्वोंमें थीं पर बादके विश्वोंमें नहीं हैं। यह बात बिलकुल स्पष्ट है। तुम यह भी सोच सकते हो कि समस्त असत्य और झूठका स्तूप (जो आज हमारे लिये असत्य और झूठ हैं) किसी विशेष संसारका भाग नहीं होगा क्योंकि संसार अपने आत्मोद्घाटनके मार्गपर होगा। यह सब समझमें आ सकता है, पर "विनाश"? किंतु जब वह नष्ट हो जाता है तो जाता कहां है? जब हम विनाशकी बात सोचते हैं तो हम केवल एक रूपके नष्ट होनेकी बात सोचते हैं (यह चेतनाका रूप हो सकता है, या एक स्थूल रूप भी, पर होता सदा रूप ही है), किंतु जो वस्तु अरूप है उसका नाश कैसे किया जा सकता है?

अतएव, पूर्ण असत्यके नष्ट हो जानेकी चर्चाका अर्थ केवल यह है कि ये समस्त वस्तुएं सदा भूतकालमें ही विद्यमान रहेंगी। किंतु वे भविष्यमें होनेवाली अभिव्यक्तियोंका अंग नहीं बनेंगी। बस इतना ही।

तुम **इससे** बाहर नहीं निकल सकते!

किन्तु क्या वे भूतकालमें बनी रहेंगी?

हमें बताया गया है कि चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है — जब हम ऊपर उठकर नास्ति या निर्वाण और अस्तिसे परे जा सकते हैं (एक निर्वाणका पक्ष है और एक अस्तिका, ये दोनों सर्वोच्च सत्ताके दो, पर एक साथ रहनेवाले और पूरक पक्ष हैं) जहां सब वस्तुएं सनातन रूपमें एक साथ रहती हैं, तब व्यक्ति सोच सकता है (भगवान् जाने! शायद यह भी मूर्खता ही न हो!) कि कुछ ऐसी वस्तुओंका समुदाय है जो असत्में होती हैं, और यही होना हमारी चेतनाको विलोप या विनाश प्रतीत होगा।

क्या यह संभव है? — मुझे पता नहीं। यह भगवान्से पूछना पड़ेगा। किंतु साधारणतया वे ऐसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देते, वे केवल मुस्करा देते हैं!

एक ऐसा समय आता है जब सचमुच तुम कुछ भी नहीं कह सकते। तुम्हें ऐसा भास होता है कि तुम जो भी कहते हो वह मूर्खता नहीं तो मूर्खताके आस-पासकी वस्तु होती है, और वास्तवमें ऐसे समय चुप रहना ही अच्छा होगा। यही कठिनाई है। कुछ सूत्रोंमें तुम्हें एकदम ऐसा अनुभव होता है कि उन्होंने (श्रीअरविन्दने) किसी ऐसी वस्तुको पकड़ लिया है जो हम जो कुछ सोच सकते हैं उससे ऊपर और परे स्थित है, — तब व्यक्ति क्या कहे?

(मौन)

स्वभावतया, जब तुम वापिस नीचे आ जाते हो, तो बहुत कुछ कह सकते हो!

यदि यह हंसीमें कहना हो (हंसी सदा की जा सकती है, मुश्किल यह है कि लोग उसे इतनी गंभीरतासे ले लेते हैं कि हंसी करते संकोच होता है), तो व्यक्ति भली-भांति कह सकता है, और यह बात बिलकुल गलत भी नहीं है कि तुम कई बार एक पागल या मूर्ख व्यक्तिकी बातोंको सुनकर जितना सीख सकते हो उतना एक तर्कवादी व्यक्तिकी बातोंको सुनकर नहीं सीख सकते। मेरा यही विश्वास है।

तर्कवादी व्यक्तियोंके समान सुखा देनेवाली वस्तु और कोई नहीं है।

२७-६-६१

६३ — मुसलमान कहते हैं, भगवान् महान् (अल्लाहो अकबर) हैं। ठीक है, वे इतने महान् हैं कि आवश्यकता पड़नेपर वे दुर्बल भी हो सकते हैं।

६४ — भगवान् प्रायः ही अपने कार्योंमें असफल होते हैं, यह उनके असीम देवत्वका चिह्न है।

६५ — चूंकि भगवान् अजेय रूपमें महान् हैं, इसलिये वे दुर्बल हो सकते हैं; चूंकि वे निर्विकार रूपमें पवित्र हैं, वे मुक्त रूपसे पापमें रत हो सकते हैं; वे नित्यानन्दमय हैं, इसलिये पीड़ाके आनन्दका भी स्वाद लेते हैं; वे अविच्छेद्य रूपसे बुद्धिमान् हैं, इसलिये उन्होंने अपने-आपको मूर्खतापूर्ण कार्य करनेसे नहीं रोका।

भगवान्‌को दुर्बल बननेकी क्या आवश्यकता है?

श्रीअरविन्द यह नहीं कहते कि भगवान्‌को दुर्बल बननेकी आवश्यकता है। वे कहते हैं कि इस समष्टिमें, शक्तियोंकी लीलाकी पूर्णताकी खातिर दुर्बलताका क्षण और शक्तिका प्रदर्शन, दोनों आवश्यक हो सकते हैं। वे, कुछ व्यंगपूर्वक, यह भी जोड़ देते हैं कि चूंकि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे आवश्यकता पड़नेपर दुर्बल भी हो सकते हैं।

यह वस्तुतः कुछ नीतिवादियोंके दृष्टिकोणको विस्तृत करनेके लिये कहा

गया है जो भगवान्पर कुछ निश्चित गुणोंका आरोप करते हैं और उन्हें अन्यथा नहीं होने देते।

जिस रूपमें हम शक्ति और दुर्बलताको देखते हैं, उसमें दोनों समान रूपसे उस दिव्य सत्यकी विकृत अभिव्यक्ति है जो भौतिक बाह्य प्रतीतियोंके पीछे गुप्त रूपमें विद्यमान है।

> *क्या भगवान् वास्तवमें असफल होते हैं या दुर्बल बन जाते हैं? या यह केवल उनकी लीला है?*[1]

बात ऐसी नहीं है! यह पश्चिमी मनोभावकी विकृति है जो गीताकी वृत्तिके विरुद्ध है। पश्चिमी मनके लिये सजीव और ठोस रूपमें यह समझना बहुत कठिन है कि **सब कुछ** भगवान् है।

लोग एक "स्रष्टा भगवान्"के ईसाई विचारसे बहुत अधिक प्रभावित हैं, उनके लिये सृष्टि एक ओर और भगवान् दूसरी ओर! जब तुम इसपर चिंतन करते हो तो इसे अस्वीकार कर देते हो, पर यह तुम्हारे संवेदनों और भावोंमें प्रवेश कर चुका है। बड़े सहज, स्वाभाविक और प्रायः अवचेतन रूपमें तुम भगवान्के साथ उन सब गुणोंका सम्बन्ध जोड़ देते हो जो सर्वश्रेष्ठ एवं अत्यधिक सुन्दर हैं, और उस वस्तुको भी जो तुम प्राप्त एवं चरितार्थ करना चाहते हो। स्वभावतया, प्रत्येक अपनी चेतनाके अनुसार भगवान्के गुणोंको बदल देता है, किन्तु ये गुण सदा वही होते हैं जिन्हें वह सर्वश्रेष्ठ समझता है। इसीलिये तुम्हें इस विचारसे सहज, स्वाभाविक और अवचेतन रूपमें आघात पहुंचता है कि भगवान् कोई ऐसी चीज भी हो सकते हैं जिससे तुम प्रेम नहीं करते, जिसे तुम पसन्द नहीं करते या जो तुम्हें सर्वश्रेष्ठ नहीं प्रतीत होती।

मैं जान-बूझकर इस बातको बड़े सरल और बालोचित ढंगसे कह रही हूं ताकि तुम भली-भांति समझ सको। किन्तु मुझे विश्वास है कि बात यही है, क्योंकि मैंने इसे अपने अन्दर बड़े लम्बे समयतक इसी रूपमें देखा है, और इसका कारण था वातावरण और शिक्षा आदिसे निर्मित विशिष्ट अवचेतन रचना। तुम्हें इस शरीरमें एकताकी, भगवान्की पूर्ण और अनन्य एकताकी चेतनाको प्रविष्ट कर सकना चाहिये — अनन्य यह इसलिये है कि ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो इस एकतामें न हो, इसमें वे चीजें भी हैं जो हमें अरुचिकर प्रतीत होती हैं।

---

[1]माताजीने इसका उत्तर उसी समय दिया था।

इसीके विरुद्ध श्रीअरविन्द युद्ध करते हैं, क्योंकि उन्होंने भी ईसाई शिक्षा प्राप्त की थी, उन्हें भी लड़ना पड़ा था। और ये सूत्र अवचेतन रचनाके विरुद्ध लड़नेकी आवश्यकताके परिणाम हैं, उसके फूलके समान हैं। कारण, यही बात तुम्हें ऐसे प्रश्न पूछनेके लिये प्रेरित करती है: "भला भगवान्‌में दुर्बलता कैसे हो सकती है? वे मूर्ख कैसे हो सकते हैं? यह कैसे हो सकता है..."—किन्तु भगवान्‌के सिवा और कुछ नहीं है! उनके बाहर कोई चीज नहीं है, और यदि कोई वस्तु हमें कुरूप प्रतीत होती है तो इसका एक सरल कारण यह है कि वे उसे इस रूपमें नहीं चाहते। वे एक ऐसे संसारका निर्माण कर रहे हैं, जहां यह अभिव्यक्ति न हो, अभिव्यक्ति इस अवस्थासे किसी और अवस्थाकी ओर बढ़ रही है। अतएव, हमारे अन्दरसे जिस चीजको वर्तमान सक्रिय अभिव्यक्तिमेंसे बाहर निकलना है, उसे हम स्वभावतया हठपूर्वक अस्वीकार कर देते हैं, अर्थात्, हमारे अन्दर अस्वीकृतिकी क्रिया होती है।

लेकिन वे ही हैं। उनके सिवाय कोई और चीज है ही नहीं! सुबहसे शामतक और शामसे सुबहतक बस यही रटना है, क्योंकि हर क्षण हम भूल जाते हैं।

केवल वे ही हैं, उनके अतिरिक्त कोई चीज है ही नहीं— केवल वे ही हैं, उनके बिना और कोई सत्ता नहीं है, वे अकेले ही हैं!

अतएव, इस प्रकारके प्रश्न पूछनेका मतलब यह है कि व्यक्तिके अन्दर उन लोगोंकी एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया अब भी चल रही है जो दिव्य और अदिव्यमें भेद करते हैं, दूसरे शब्दोंमें, जो भगवान्‌में और उसमें, जो भगवान् नहीं है, भेद करते हैं। "भला भगवान् कैसे दुर्बल हो सकते हैं?"—मैं ऐसा प्रश्न नहीं कर सकती।

> यह मैं समझता हूं। किन्तु वे भगवान्‌की 'लीला'की बात करते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् किसी तरह वस्तुओंके पीछे तो विद्यमान हैं, पर, यह कहा जा सकता है कि, वे खेलके बिलकुल मध्यमें नहीं हैं, वे सचमुच, पूर्णतया खेलके अंदर नहीं हैं?

हां, हां, वे हैं। पूर्णतया हैं। 'खेल'! वह तो वे स्वयं ही हैं।

तुम भगवान्‌की चर्चा करते हो, किंतु तुम्हें यह याद रखना चाहिये कि चेतनाके ये सब स्तर होते हैं; और जब हम भगवान्‌की या उनके 'खेल'की बात करते हैं तो हमारा मतलब उन भगवान्‌से है जो अपनी परात्पर

अवस्थामें, जड़-पदार्थके सभी स्तरोंसे परे हैं। और जब उनकी 'लीला'की बात करते हैं तो हम उनकी भौतिक अवस्थाकी बात करते हैं। तब हम कहते हैं कि परात्पर भगवान् अपनी ओर ही देख रहे हैं और खेल रहे हैं — अपने ही अंदर, अपने ही द्वारा, अपने ही साथ — अपना भौतिक खेल खेल रहे हैं।

किन्तु समस्त भाषा ही 'अज्ञान'की भाषा है। अपने-आपको व्यक्त करनेका सारा ढंग ही, चाहे व्यक्ति जो कुछ भी कहे, चाहे जिस ढंगसे कहे, आवश्यक रूपमें अज्ञानमय है। इसीलिये जो चीज मूर्त रूपमें सत्य है उसे व्यक्त करना इतना कठिन हो जाता है। इसके लिये व्याख्याकी जरूरत पड़ती है जो स्वभावतया ही असत्यसे भरी होगी या अत्यधिक लंबी होगी। इसलिये कई बार श्रीअरविन्दके वाक्य बहुत लम्बे होते हैं, केवल इसलिये कि वे इस अज्ञानमयी भाषासे अलग रहना चाहते हैं।

सोचनेका यह ढंग ही गलत है। विश्वासी और श्रद्धालु, सब-के-सब (विशेषकर पश्चिममें), जब भगवान्के बारेमें बातचीत करते हैं तो वे यह सोचते हैं कि यह "कोई और ही वस्तु" है। वे सोचते हैं कि भगवान् कमजोर, कुरूप या अपूर्ण नहीं हो सकते — उनका यह सोचना गलत है, वे संपूर्ण सत्ताको विभक्त और पृथक् कर देते हैं। यह एक अवचेतन विचार है, एक ऐसा विचार जो चिन्तन नहीं करता। लोगोंको, सहज प्रवृत्तिवश इसी प्रकार सोचनेका अभ्यास है, वे सचेतन रूपमें नहीं सोचते। उदाहरणार्थ, जब वे सामान्य ढंगसे "पूर्णता"की बात करते हैं, तो वे उन सब वस्तुओंकी पूर्ण समष्टिको देखते, अनुभव करते और उसकी कल्पना करते हैं जिन्हें वे गुणयुक्त, दिव्य, सुन्दर और प्रशंसायोग्य समझते हैं किन्तु यह पूर्णता बिलकुल नहीं है! पूर्णता वह वस्तु है जिसमें किसी भी चीजका अभाव न हो। दिव्य पूर्णता वह समग्र दिव्य सत्ता है जिसमें किसी वस्तुका अभाव नहीं है, दिव्य पूर्णता वह समग्र भागवत सत्ता है जिसमेंसे तुम कुछ भी घटा नहीं सकते। अतएव यह एक बिलकुल उलटी बात है! नैतिक व्यक्तियोंके लिये दिव्य पूर्णताका अर्थ है वे सब गुण जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं।

सच्चे दृष्टिकोणसे पूर्णता एक संपूर्ण सत्ता है (यहां माताजी अपनी मुद्रासे संपूर्ण पृथ्वीको दर्शाती हैं), और यह एक तथ्य है कि इस समग्रके बाहर कुछ नहीं है। वहां किसी चीजकी कमी असंभव है और यह भी असंभव है कि कोई ऐसी चीज हो जो इस समग्र सत्ताका भाग नहीं है। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो इस समग्र सत्तामें न हो। मैं तुम्हें समझाती हूं: ऐसा हो सकता है कि अमुक विश्वमें सब वस्तुएं विद्यमान न हों, क्यों-

कि विश्व केवल अभिव्यक्तिका एक प्रकार है, किन्तु अन्य सब प्रकारके संभव विश्व भी हैं। अतएव, मैं सदा वापिस उसी बातपर आ जाती हूं: ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो समग्र सत्ताका भाग न हो।

अतएव, कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्थानपर स्थित है, ठीक जैसा कि उसे होना चाहिये, और वस्तुओंके पारस्परिक संबन्ध भी ठीक वैसे ही हैं जैसे होने चाहिये।

किन्तु पूर्णता भगवान्तक पहुंचनेका केवल एक मार्ग है, यह एक पक्ष है, ऐसे और भी अनगिनत पक्ष, कोण और अंग हैं — भगवान्के पास पहुंचनेके लिये, अनगिनत रास्ते हैं; उदाहरणार्थ, संकल्प, सत्य, पवित्रता, पूर्णता, एकता, अमरत्व, सनातनता, असीमता, नीरवता, शान्ति, अस्तित्व, चेतना आदि-आदि। मार्गोंकी संख्या असीम है। प्रत्येकके द्वारा तुम भगवान्के एक पक्षको छू सकते हो, उसतक पहुंचकर उनसे संपर्क प्राप्त कर सकते हो। और यदि तुम सच्चे रूपमें यह करो तो तुम्हें पता लगेगा कि भेद केवल अत्यन्त बाह्य रूपमें है, प्राप्त होनेवाला संपर्क एक ही है। यह तो ऐसा हुआ कि तुम पृथ्वीके केन्द्रके चारों ओर घूमते हो और वैचित्र्य-दर्शक यंत्रमें उसके सभी पक्षोंको देखते हो, किन्तु ज्योंही संपर्क स्थापित हो जाता है, सब कुछ एक-सा दीखता है।

अतएव पूर्णता भगवान्तक पहुंचनेका एक गोलाकार मार्ग है: सब कुछ वही है और सब कुछ वैसा ही है जैसा कि उसे होना चाहिये — "होना चाहिये", अर्थात् भगवान्की पूर्ण अभिव्यक्ति। पर हम उनके संकल्पकी बात भी नहीं कर सकते, क्योंकि यदि हम "उनके संकल्प"की बात करें तो यह भी एक ऐसी वस्तु होगी जो उनके अन्दरसे निकलती है!

यह भी कहा जा सकता है (किन्तु यह बहुत नीचे स्तरकी बात है) कि वे वही हैं जो वे हैं और वे ठीक वही हैं जो वे होना चाहते हैं — यह कहनेके साथ कि "वे ठीक वही हैं जो होना चाहते हैं", हम बहुत-से पग नीचे उतर आते हैं! किन्तु यह तुम्हें पूर्णताका एक पक्ष बतानेके लिये है।

इसके अतिरिक्त, दिव्य पूर्णताका अर्थ असीमता और सनातनता भी है। दूसरे शब्दोंमें, सब वस्तुएं देश और कालसे बाहर अपना सह-अस्तित्व रखती हैं।

यह "पवित्रता"के शब्दकी तरह है। तुम भागवत पवित्रता और जिसे लोग "पवित्रता" कहते हैं उसके भेदपर अनेक भाषण दे सकते हो। भागवत पवित्रता, नखसे शिखतक, सिवाय दिव्य प्रभावके और किसी प्रभावको स्वीकार नहीं करती — निचले स्तरतक भी। किन्तु वह पहलेसे ही बहुत विकृत हो चुकी है। दिव्य पूर्णताका अर्थ यह है कि भगवान्के सिवाय

और किसी चीजका अस्तित्व नहीं है — वे पूर्ण रूपमें शुद्ध हैं, केवल भगवान् हैं, भगवान्के सिवाय और कुछ नहीं हैं।

और इसी प्रकार आगे भी।

७-७-६१

६६ — पाप वह वस्तु है जो एक समय अपने स्थानपर थी, वह अब भी बनी है इसलिये स्थानभ्रष्ट है। इसके सिवाय और कोई पाप नहीं है।

उदाहरणार्थ, क्या निष्ठुरताका भी कभी अपना स्थान था ?

बिलकुल ठीक, तुम्हारा प्रश्न मेरी दृष्टिके सामने आया था, क्योंकि मेरे सामने लोगोंके सभी प्रश्न आते हैं।

निष्ठुरतावश मारना? निष्ठुरतावश दूसरोंको कष्ट पहुंचाना? पर यह भी तो भगवान्की ही एक अभिव्यक्ति है, हम सदा वापिस उसी बात-पर पहुंच जाते हैं। यह अभिव्यक्ति प्रकट रूपमें विकृत है। क्या तुम मुझे बता सकते हो कि इस सबके पीछे क्या है?

क्रूरता उन चीजोंमेंसे एक है जिनसे श्रीअरविंद सबसे अधिक घृणा करते थे, किंतु वे सदा यह भी कहते थे कि यह तीव्रताका एक विकृत रूप है; यह भी कहा जा सकता है कि यह प्रेमकी तीव्रताका विकृत रूप है। एक ऐसी वस्तु है जो किसी मध्य मार्गसे संतुष्ट नहीं होती, जो चरम सीमाएं चाहती है, और यह भी न्यायसंगत।

मैं यह सदासे जानती थी कि परपीड़न-रतिकी भांति निर्दयता भी उग्र एवं अत्यधिक शक्तिशाली संवेदनकी आवश्यकता है जिससे तमस्की उस मोटी पर्तके अंदर प्रवेश किया जा सके जो कुछ भी अनुभव नहीं करती — तमस्को अनुभव कर सकनेके लिये अतिकी आवश्यकता पड़ती है, शायद इस दिशामें कुछ व्याख्या मिल सके।

किंतु मूल रूपमें यह समस्या सदा ही बनी रहती है और इसका अब-तक कोई समाधान नहीं मिला। यह ऐसा क्यों हुआ? यह विकृति कहांसे आयी? यह सब विकृत क्यों हो गया है? इसके पीछे सुंदर वस्तुएं भी हैं, जितना हम कह सकते हैं उससे कहीं अधिक तीव्र और असीम रूपमें ये शक्तिशाली हैं, आश्चर्यजनक वस्तुएं हैं ये! किंतु यह सब यहां इतना

भयावह क्यों हो गया है? जब मैंने इस सूत्रको पढ़ा तो तुरंत यह बात मेरे सामने आयी थी।

पापका विचार एक ऐसी वस्तु है जिसे मैं नहीं समझती और यह कभी मेरी समझमें नहीं आया। आदि पाप मुझे एक बड़ा राक्षसी विचार प्रतीत होता था, इससे अधिक बुरा विचार मनुष्यके मनमें नहीं आ सकता —पाप और मैं साथ-साथ नहीं चल सकते! तब, स्वभावतया, मैं श्री-अरविंदके साथ पूरी तरह सहमत हूं कि पापका अस्तित्व नहीं है। यह मानी हुई बात है, किंतु...

'निष्ठुरता" जैसी कुछ वस्तुओंको पाप कहा जा सकता है किंतु मैं इसकी यही व्याख्या देख पाती हूं कि यह एक रुचिकी या एक अत्यधिक शक्ति-शाली संवेदनकी आवश्यकताकी विकृति है। मैंने निष्ठुर व्यक्तियोंमें देखा है कि उन्हें ऐसे समय एक प्रकारका आनंद प्राप्त होता है; वे उसमें तीव्र प्रकारकी प्रसन्नता अनुभव करते हैं; यही इसका औचित्य है। यह केवल ऐसी विकृत अवस्थामें है कि घृणित हो उठता है।

वस्तुएं अपने स्थानपर नहीं हैं, इस विचारको तो मैंने उसी समय समझ लिया था जब कि मैं छोटी-सी लड़की थी। पर इसकी व्याख्या केवल बादमें एक व्यक्तिसे मिली जिनसे मैंने गुह्यविद्या सीखी थी, क्योंकि सृष्ट्युत्पत्तिकी अपनी प्रणालीमें उन्होंने विभिन्न विश्वोंके क्रमिक प्रलयोंकी विवेचना की थी और कहा था कि प्रत्येक विश्व उस सर्वोच्च सत्ताका एक पक्ष है जो अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही है, प्रत्येक विश्व सर्वोच्च सत्ताके एक पक्षपर आधारित है और फिर बारी-बारीसे सभी विश्व भगवान्की ओर लौट जाते हैं (उन्होंने उन सभी पक्षोंको जो क्रमसे अभिव्यक्त हो रहे थे गिनकर बड़े तर्कपूर्वक बताया था। यह सब असाधारण था—मैंने यह लिख रखा है, पता नहीं कहां)। और उन्होंने यह भी कहा कि इस बार यह (मुझे याद नहीं, क्रममें इसकी संख्या क्या थी) एक ऐसा विश्व होगा जो वापिस नहीं लौटेगा और एक अधिकाधिक उन्नत अभिव्यक्तिका अनुसरण करेगा जो प्रायः अनिश्चित कालतक चलेगी, वर्तमान विश्व एक संतुलित विश्व है (यह स्थिर अवस्थामें नहीं बल्कि उत्तरोत्तर संतुलित होनेकी अवस्थामें है), दूसरे शब्दोंमें, यहां प्रत्येक वस्तु अपने स्थानपर है, प्रत्येक स्पंदन, प्रत्येक क्रिया अपने स्थानपर है। और व्यक्ति जितना अधिक निम्न स्तरपर आता है उतना ही अधिक उसे प्रत्येक रूप, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक वस्तु, समष्टिके संबंधसे, अपने स्थानपर दिखायी देती है।

यह सब मुझे बड़ा मनोरंजक लगा, क्योंकि बादमें श्रीअरविंदने भी

यही बात कही है कि यहां ऐसी कोई चीज नहीं है जो बुरी हो, केवल वस्तुएं अपने स्थानपर नहीं हैं — देशमें ही नहीं, कालमें भी, वस्तुतः जगतों, नक्षत्रों आदिमें भी; प्रत्येक वस्तुका अपना ठीक स्थान है। और जब प्रत्येक वस्तु, बृहदाकार वस्तुसे लेकर अत्यधिक सूक्ष्म वस्तुतक, ठीक अपने स्थानपर होगी तभी समष्टि सर्वोच्च सत्ताको उत्तरोत्तर अभिव्यक्त करेगी। तब अपने-आपको दुबारा प्रकट करनेके लिये उसे पीछे लौटने या हटनेकी कोई आवश्यकता नहीं होगी। इसी आधारपर श्रीअरविंदने यह कहा है कि इसी सृष्टिमें, इसी विश्वमें एक दिव्य जगत्की पूर्णता अभिव्यक्त हो सकती है — इसे ही श्रीअरविन्द अतिमानसिक पूर्णता कहते हैं। संतुलन इस सृष्टिका मूल धर्म है और इसीलिये अभिव्यक्तिमें ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है।

> इस संबंधमें वे कौन-सी पहली वस्तुएं हैं जिन्हें अतिमानसिक सत्ता अपने स्थानसे च्युत करना चाहती है या करनेकी कोशिश कर रही है, ताकि प्रत्येक वस्तु व्यक्तिगत और विश्वगत रूपमें अपने स्थानपर रह सके?

च्युत करना? क्या वह किसीको अपने स्थानसे च्युत करेगी? यदि हम श्रीअरविन्दके विचारको स्वीकार करें तो वह प्रत्येक वस्तुको अपने स्थानपर स्थापित करेगी। बस।

एक चीज है जिसे अवश्य समाप्त होना चाहिये, वह है विकृति, दूसरे शब्दोंमें, सत्यपर असत्यका आवरण क्योंकि जो कुछ भी हम यहां देखते हैं उस सबके लिये वही उत्तरदायी है। यदि यह हटा दिया जाय, तो सभी वस्तुएं पूरी तरह बदल जायंगी, पूर्णतया बदल जायंगी। वे वैसी हो जायंगी जैसी कि हम उस समय अनुभव करते हैं जब हम उस चेतनासे बाहर निकल आते हैं। जब तुम उस चेतनासे बाहर निकलकर सत्यकी चेतनामें प्रवेश करते हो, तो तुम एक ऐसे स्थलपर जा पहुंचते हो जहां इस बातपर आश्चर्य होता है कि क्या दुःख, कष्ट, मृत्यु आदिके जैसी कोई वस्तु हो सकती है; आश्चर्य इस अर्थमें होता है कि व्यक्ति यह समझ नहीं पाता कि यह सब कैसे हो सकता है — यह तब होता है जब व्यक्ति दूसरी ओर चला जाता है। किन्तु यह अनुभूति साधारणतया जिस जगत्को हम जानते हैं उसकी असत्यताके अनुभवके साथ जुड़ी रहती है, जब कि श्रीअरविन्द यह कहते हैं कि अतिमानसिक चेतनामें निवास करनेके लिये संसारकी अवास्तविकताका यह बोध आवश्यक नहीं है

—यह केवल असत्यकी अवास्तविकता है, संसारकी नहीं। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है, कि संसारका अपना सत्य है, जो असत्यसे स्वतंत्र है।

मेरा ख्याल है कि यह अतिमानसिक सत्ताका पहला प्रभाव है, व्यक्तिमें भी यही पहला प्रभाव है, क्योंकि यह कार्य सबसे पहले व्यक्तिसे ही आरंभ होगा।

१८-७-६१

६७—मनुष्यमें कोई पाप नहीं है, बल्कि अत्यधिक मात्रामें रोग, अज्ञान और दुरुपयोग-वृत्ति है।

६८—पाप-भावनाका होना आवश्यक था ताकि मनुष्य अपनी निजी अपूर्णताओंसे उकता जाय। यह अहंकारका संशोधन करनेके लिये भगवान्‌का उपाय था। परन्तु मनुष्यका अहंकार स्वयं अपने पापोंके प्रति तो बहुत ही धीमे रूपमें और दूसरों-के पापोंके प्रति बहुत तीव्र रूपमें जाग्रत् रहकर भगवान्‌के इस उपायका सामना करता है।

अपने विकासकी किस अवस्थामें मनुष्य अहंकारसे मुक्त हो पायगा?

तब, जब मनुष्यको सचेतन व्यक्तित्व बनानेके लिये अहंकारकी आवश्यकता न रहेगी।

२७-७-६१

६९—भगवान् हमें पूर्णताकी ओर ले जानेका जो प्रयास करते हैं उसमें बाधा उत्पन्न करनेके लिये हम उनके साथ पाप और पुण्यका खेल खेलते हैं। पुण्यकी भावना हमें गुप्त रूपसे अपने पापोंका पोषण करनेमें सहायता प्रदान करती है।

ये सूत्र हमें अपने पाप-पुण्य-संबंधी विचारोंकी व्यर्थताको बताते हैं। आपने भी अपनी ३ फरवरी, १९५८ की अनु-

भूति[1] के निष्कर्षके बारेमें हमसे कहा था: "मैंने देखा कि जो चीज व्यक्तियोंकी अतिमानसिक बननेमें सहायता करती है या उन्हें रोकती है वह उस चीजसे बहुत भिन्न है जिसकी कल्पना हमारी सामान्य नैतिक धारणाएं करती हैं।" आपने आगे यह भी कहा था : "जो बात बहुत स्पष्ट है वह यह है कि 'दिव्य' या 'अदिव्य' के बारेमें हमारा मूल्यांकन ठीक नहीं है ...मुझे ऐसा लगा...कि इस लोक और दूसरे लोकका संबंध उस दृष्टिकोणको बिलकुल बदल देता है जिसके द्वारा वस्तुओंके बारेमें अनुमान लगाना या विवेचन करना चाहिये। इस दृष्टिकोणमें कुछ भी मानसिक नहीं था और इसने यह अनोखी आंतरिक भावना दी कि ऐसी बहुत-सी वस्तुएं, जिन्हें हम भली या बुरी समझते हैं, वास्तवमें वैसी नहीं हैं। यह बिलकुल स्पष्ट था कि सब कुछ वस्तुओंकी सामर्थ्यपर तथा अतिमानसिक जगत्को अनूदित करनेकी प्रवृत्ति या उसके साथ संबंध स्थापित करनेपर निर्भर है।"

यह अतिमानसिक "दृष्टिकोण" कैसा है ? यह "योग्यता" या अतिमानसिक ज्ञानको अनूदित करनेवाली और उसके साथ संबंध स्थापित करनेवाली "प्रवृत्ति" किसमें पायी जाती है ?

मैं इस बारेमें जंगलसे गुजरते हुए एक बारहसिंगेके प्रसंग[2] में कुछ कह चुकी हूं। वहां तुम्हें इसका कुछ संकेत मिलता है।

---

[1] इसकी व्याख्याके अन्तमें देखिये ३ फरवरी १९५८ की अनुभूति।

[2] प्रश्न: एक बारहसिंगा जंगलमेंसे होकर पानी पीनेके लिये जाता है, किन्तु इसे कौन प्रमाणित कर सकता है कि वह कहांसे गुजरा है। अधिकतर लोगोंको तो कोई संकेत मिलेगा ही नहीं, शायद वे यह भी नहीं जानते कि बारहसिंगा क्या होता है। जो उसे जानते हैं वे भी यह नहीं बता सकेंगे कि वह वहांसे गुजरा है। किन्तु जिसने शिकार करना या शिकारकी खोज करना सीखा है, उसे उसके स्पष्ट चिह्न मिल जायंगे। वह केवल इतना ही नहीं कहेगा कि कौन-सी किस्मका बारहसिंगा गुजरा है, बल्कि वह उसकी ऊंचाई, आयु, लिंग आदिका भी वर्णन कर देगा। इसी प्रकार ऐसे व्यक्ति भी होने चाहिये जिनको शिकारियोंके ज्ञानकी भांति आध्यात्मिक ज्ञान हो और जो यह बता सकते हों कि अमुक व्यक्तिका

तब मैंने अपने-आपको अतिमानसिक नौकाकी इस अनुभूतिके सम्पर्कमें रखा है। उस समयसे वस्तुओंके सम्बन्धमें मेरी दृष्टि नहीं बदली है। और मैंने देखा कि इस अनुभूतिका स्थितिपर एक निश्चयात्मक प्रभाव पड़ा है। इसने बड़े स्पष्ट, यथार्थ और निश्चित रूपसे आवश्यक शर्तोंको उत्पन्न कर दिया।

इसने एकबारगी केवल नैतिकता-सम्बन्धी सब सामान्य धारणाओंका ही नहीं बल्कि उन वस्तुओंका भी सफाया कर दिया जो यहां, भारतमें, आध्यात्मिक जीवनके लिये आवश्यक समझी जाती हैं। इस दृष्टिकोणसे यह अनुभूति बहुत शिक्षाप्रद थी। सबसे पहले, इस प्रकारकी तथाकथित वैराग्यमूलक पवित्रता। इस वैराग्यमूलक पवित्रताका अर्थ है बस, प्राणकी समस्त क्रियाओंका त्याग; इन्हें लेकर भगवान्‌की ओर मोड़ने, अर्थात्, इनमें परम सत्ताको देखने और परम सत्ताको स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने देनेके स्थानपर तुम उनसे कहते हो: "न, इससे तुम्हारा कुछ सम्बन्ध नहीं है।" भगवान्‌को वहां प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है।

रही बात भौतिक सत्ताकी! यह एक पुरानी बात है, सभी जानते हैं; सदासे ही वैरागियोंने इसका त्याग किया है परंतु इसके साथ प्राणको भी

संपर्क अतिमानसिक सत्ताके साथ है जब कि सामान्य मनुष्य, जिन्होंने अपने मनको शिक्षित नहीं किया है, यह बात नहीं देख सकेंगे। कहा जाता है कि अतिमानस पृथ्वीपर उतर आया है, वह अभिव्यक्त हो चुका है। जो कुछ इस विषयपर लिखा गया है वह मैंने सब पढ़ लिया है। किन्तु मैं उन अज्ञानियोंमेंसे एक हूं जो न कुछ देखते हैं, न अनुभव करते हैं। तो क्या कोई अधिक शिक्षित बोधशक्तिवाला व्यक्ति मुझे यह बता सकेगा कि मैं किन संकेतोंसे उस व्यक्तिको पहचान सकूंगा जो अतिमानसिक संपर्कमें आ चुका है?

उत्तर: ऐसे दो अकाटच चिह्न हैं जो यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्तिका अतिमानसके साथ संपर्क है:

१. एक पूर्ण और स्थायी समता।

२. भागवत ज्ञानमें अटूट विश्वास।

पूर्ण बननेके लिये समताको समस्त परिस्थितियों, घटनाओं और संपर्कोंके सामने — चाहे वे स्थूल हों या मनोवैज्ञानिक, चाहे उनका स्वरूप और प्रभाव कुछ भी हो — अपरिवर्तित और सहज होना चाहिये।

तादात्म्यद्वारा प्राप्त भ्रांतिरहित ज्ञानका पूर्ण और निर्विवाद निश्चय।

जोड़ दिया है। केवल कुछ शास्त्रीय वस्तुएं बच रहीं जो पवित्र समझी गयीं या जिन्हें धार्मिक परंपराने स्वीकार कर लिया, उदाहरणार्थ, ब्याहकी और कुछ ऐसी ही स्वीकृत वस्तुओंकी पवित्रता, किन्तु स्वतंत्र जीवन, ओह, यह समस्त चर्चा धार्मिक जीवनसे असंगत है!

अतएव, इस सबका एकबारगी पूरा-पूरा सफाया हो गया।

इसका यह मतलब नहीं कि जिस चीजकी मांग की गयी है वह अधिक सरल है। शायद यह बहुत कठिन है।

सबसे पहले, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे, जिस शर्तका मैंने बारहसिंगेकी बातमें जिक्र किया था, उसकी आवश्यकता है: वह पूर्ण समता है। यह एक अनिवार्य शर्त है। मैं सन् १९५६ से, बरसों देखती रही हूं कि एक भी अतिमानसिक स्पन्दन इस पूर्ण समताके बिना संचारित ही नहीं हो सकता। यदि इस समताका जरा-सा भी विरोध हो, अगर अहंभावकी जरा-सी भी क्रिया हो अथवा उसकी ओर रुचि प्रदर्शित हो, तो वह स्पन्दन उसमेंसे नहीं गुजरता, अर्थात्, वह संचारित नहीं होता। यह अपने-आपमें एक काफी बड़ी कठिनाई है।

इसके अतिरिक्त, उपलब्धिको पूर्ण बनानेके लिये दो शर्तें और भी हैं, और वे आसान नहीं हैं। यह बौद्धिक स्तरपर कठिन नहीं है (यहां मैं जिस-तिसकी बात नहीं कर रही, वरन् उन लोगोंकी बात कह रही हूं जो योग करते हैं और जिन्होंने किसी अनुशासनका पालन किया है)। इन लोगोंके लिये यह अपेक्षाकृत सरल है। मनोवैज्ञानिक स्तरपर भी, यदि इसके साथ समता जोड़ दी जाय तो, यह अधिक कठिन नहीं है। किन्तु ज्यों ही तुम जड़ प्रकृतिके स्तरपर, दूसरे शब्दोंमें, भौतिक और बादमें शारीरिक स्तरपर पहुंचते हो, त्यों ही वह चीज सरल नहीं रह जाती। ये दो शर्तें निम्न हैं: पहली है अपने-आपको विस्तृत और विशाल या यूं कहें, लगभग असीम बनानेकी शक्ति ताकि तुम अपने-आपको अतिमानसिक चेतनाके विस्तारतक फैला सको, जो समग्र चेतना है। अतिमानसिक चेतना समग्रतायुक्त भगवान्की चेतना है — जब मैं "समग्रतायुक्त" कहती हूं तो मेरा मतलब उनके 'अभिव्यक्त' पक्षसे है। स्वभावतया, उच्चतर दृष्टिकोणसे, सार-तत्त्वके दृष्टिकोणसे (उस वस्तुका सार-तत्त्व जो 'अभिव्यक्ति'में 'अतिमानसिक' बन जाती है), भगवान्के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करनेकी योग्यता भी होनी चाहिये, उनके 'अभिव्यक्त' पक्षमें ही नहीं, बल्कि उनके स्थिर अथवा निर्वाण-सम्बन्धी पक्षमें भी जो 'अभिव्यक्ति' से परे है और 'असत्' है। किन्तु इसके अतिरिक्त व्यक्तिमें भगवान्के 'संभवन' (बिकमिंग)के साथ ही तादात्म्य स्थापित करनेकी योग्यता भी

होनी चाहिये। इसका अभिप्राय दो वस्तुओंसे है : पहली — विस्तार, कम-से-कम एक असीम प्रकारका विस्तार; दूसरी — जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूं, इसके साथ ही एक पूर्ण सर्वांगीण नमनीयता ताकि भगवान्‌के 'संभवन'में भी उनका अनुसरण किया जा सके। किसी विशेष समय ही व्यक्तिको विश्व जितना विस्तृत नहीं होना है बल्कि उनके 'संभवन'में भी उसे अनिश्चित रूपसे विशाल बनना है। यही दो शर्तें हैं; इन्हें संभावित रूपमें अवश्य होना चाहिये।

जबतक भौतिक रूपान्तरका प्रश्न नहीं उठता तबतक मनोवैज्ञानिक और, बहुत हदतक, आभ्यंतरिक दृष्टिकोणसे काम चलता है और वह अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु जब 'जड़-पदार्थ'में मूर्त रूप लेनेकी बात आती है, जैसा कि इस संसारमें होता है, जहां प्रारंभ ही गलत है — यहां हम 'अचेतना' और 'अज्ञान'से आरंभ करते हैं — तब काम बहुत कठिन हो जाता है। कारण, यथार्थ बात यह है कि इस 'जड़-पदार्थ' को, ताकि यह अपनी पुरानी 'चेतना'को पुनः प्राप्त करनेके लिये आवश्यक व्यक्तिकरण तक पहुंच सके, एक ऐसी दृढ़ता प्रदान की गयी थी जो स्व-रूप को स्थिर रखने और व्यक्तित्वकी ठीक इसी संभावनाको बनाये रखने-के लिये अनिवार्य है। व्यक्तिको अतिमानसिक चेतनाको ग्रहण करनेके लिये जिस विस्तार, नमनीयता और लचीलेपनकी आवश्यकता पड़ती है उसके रास्तेमें यही मुख्य बाधा है। मैं सदा ही अपने-आपको इस समस्या-के सामने पाती हूं जो काफी ठोस और पूर्णतया भौतिक प्रकारकी समस्या है, जब हमें कोषाणुओंके साथ व्यवहार करना हो और कोषाणुओंको कोषाणु ही बने रहना हो। वे उड़कर ऐसी वास्तविकतामें नहीं बदल सकते जो अब भौतिक न रहे। और इसके साथ-साथ, उनमें कठोरताका अभाव और लचीलापन भी होना चाहिये जो उन्हें असीम रूपमें विस्तृत होनेके योग्य बना दे।

(मौन)

नौकाकी अनुभूति मुझे सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌में हुई थी। और जिन लोगोंको, कुछ धब्बे होनेके कारण, वापिस ले जाना आवश्यक हो गया था, उनमें इन दो क्रियाओंके लिये आवश्यक नमनीयताका अभाव था। किंतु यह 'संभवन'का अनुसरण करनेके लिये आगे बढ़नेवाली क्रियासे अधिक विस्तृत होनेकी क्रिया थी। यही नौकासे उतरनेवाले लोगोंका अगला कार्य प्रतीत होता था, किंतु नौकापर तैयारीका अर्थ था यह विस्तार प्राप्त करने-की योग्यता।

एक बात और भी थी जिसका मैंने अपनी अनुभूति सुनाते समय जिक्र नहीं किया था : नौकाको चलानेके लिये कोई यंत्र नहीं थे। वहां सब कुछ, सब कुछ इच्छा-शक्तिद्वारा चालित होता था — व्यक्ति और वस्तुएं भी (लोगोंके वस्त्र भी उनकी इच्छाके परिणाम थे)। इस बातने वस्तुओं और व्यक्तियोंके रूपको एक बहुत बड़ी नमनीयता प्रदान कर दी थी। कारण, व्यक्ति इस इच्छा-शक्तिके प्रति सचेतन था जो मानसिक इच्छा नहीं, बल्कि 'आत्मा' की इच्छा-शक्ति थी, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जो आध्यात्मिक इच्छा, अर्थात्, अंतरात्माकी इच्छा थी। किंतु इस बातको यहां भी उस समय अनुभव किया जा सकता है जब व्यक्ति पूर्ण सहजताके साथ कार्य करता है, दूसरे शब्दोंमें, जब कार्य — जैसे शब्द और क्रिया — मनके द्वारा निर्धारित नहीं होता (यहां मैं विचार और बुद्धिकी बात नहीं कर रही), उस मनके द्वारा भी नहीं जो सामान्यतया हमें कार्य करनेके लिये प्रेरित करता है। साधारणतया, जब हम कोई कार्य करते हैं, तो अपने अंदर उसे करनेके संकल्पको देखते हैं (जब हम चेतन हों और अपने-आपको कार्य करते हुए देखें तभी यह देखते हैं; कार्य करनेका संकल्प सदा रहता है — वह बहुत तेज हो सकता है)। उसमें मानसिक हस्तक्षेप, एक सामान्य हस्तक्षेप भी उपस्थित रहता है, इसी क्रममें चीजें होती हैं, जब कि अतिमानसिक कार्यका निश्चय मनको लांघकर होता है। यहां मनमें-से होकर गुजरनेकी आवश्यकता नहीं है, रास्ता सीधा है। कोई वस्तु प्राणिक केंद्रोंके साथ सीधा संपर्क प्राप्त कर लेती है और विचारमें गुजरे बिना, पूरी चेतनासे उन्हें क्रिया करनेको प्रेरित करती है। यहां चेतना सामान्य क्रमसे कार्य नहीं करती, वह सीधी आध्यात्मिक संकल्पके केंद्रसे 'जड़-पदार्थ' पर कार्य करती है।

जबतक व्यक्ति मनकी इस पूर्ण अचंचलताको सुरक्षित रख सकता है तबतक प्रेरणा पूर्णतया विशुद्ध रहती है, — वह विशुद्ध रूपमें ही आती है। यदि व्यक्ति इसे ग्रहण कर सके और बोलते समय इसे अपने पास ही रखे तो जो शब्द बाहर निकलेंगे वे मिश्रित नहीं होंगे, विशुद्ध ही होंगे।

यह एक बहुत सूक्ष्म क्रिया है, शायद इसीलिये कि यह प्रचलित नहीं है — एक जरा-सी गति, एक छोटे-से-छोटा मानसिक स्पन्दन समूची वस्तुको अस्त-व्यस्त कर देता है। लेकिन जबतक यह रहती है, पूरी तरह शुद्ध रहती है और यही अतिमानसिक जीवनकी **निरन्तर** अवस्था होनी चाहिये। मानसीकृत आध्यात्मिक संकल्पको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये; क्योंकि व्यक्तिके पास आध्यात्मिक संकल्प भली-भांति रह सकता है। व्यक्ति हमेशा आध्यात्मिक संकल्पको अभिव्यक्त करता रह सकता है (जो लोग

यह मानते हैं कि उनका पथप्रदर्शन उनके अंदर स्थित भगवान् कर रहे हैं उनके साथ ऐसा ही होता है), किंतु वह मानसिक प्रतिरूपमेंसे गुजरता है। और जबतक यह होता रहे तबतक अतिमानसिक जीवन नहीं होता। अतिमानसिक जीवन मनमेंसे **और नहीं** गुजरता। मन संचारके लिये गतिहीन क्षेत्र होता है। एक जरा-सी आवाज सब कुछ अस्त-व्यस्त करनेके लिये काफी होती है।

(मौन)

यह कहा जा सकता है कि 'अतिमानसिक सत्ता' के पार्थिव चेतनाके द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकनेके लिये जिस सतत अवस्थाकी आवश्यकता है वह पूर्ण समता है, ऐसी समता जो परम सत्ताके साथ आध्यात्मिक तादात्म्यसे आती है: पूर्ण समताकी अवस्थामें सभी कुछ परम बन जाता है। और यह आती भी अनायास ही है। यह ऐसी समता नहीं है जो चेतन संकल्प, बौद्धिक प्रयत्न या उस अवस्थासे पहले आनेवाले बोधसे प्राप्त होती है। यह ऐसी नहीं है। इसे अनायास, सहज भावमें आना चाहिये ताकि बाहरसे आनेवाली प्रत्येक वस्तुको प्रत्युत्तर देनेका ढंग ऐसा न हो मानों किसी बाह्य वस्तुको उत्तर दिया जा रहा हो। इस स्वतःचालित क्रिया और प्रत्युत्तरका स्थान एक सतत और, यदि यह कहा जा सके तो, एक वैसे ही बोधको ले लेना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आवश्यक रूपमें अपना विशेष प्रत्युत्तर चाहती है, परंतु — यदि ऐसा कहा जा सके — जो समस्त प्रतिक्रियासे मुक्त हो। यह भेद बाहरसे आकर तुम्हें प्रभावित करनेवाली वस्तु — जिसे तुम उत्तर भी देते हो — और उस वस्तुमें होता है जो चारों ओर घूमती है और जिसके साथ स्वभावतया ही सामान्य कर्मके लिये आवश्यक स्पन्दन भी रहते हैं। मुझे पता नहीं मैं अपनी बात भली-भांति समझा भी पा रही हूं या नहीं ...। यह भेद कर्मके **वैसे ही** क्षेत्रमें उपस्थित स्पन्दनशील क्रिया और एक ऐसी क्रियामें है जो बाहरसे आती है और जो बाहरसे स्पर्श करती है और प्रत्युत्तर पाती है (यह मानव चेतनाकी सामान्य अवस्था है)। दूसरी ओर, जब चेतना भगवान्के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है, तब क्रियाएं मानों अंदर ही होती हैं, अर्थात्, बाहरसे कुछ नहीं आता; केवल ये वस्तुएं चक्कर काटती रहती हैं, और स्वभावतया ही चक्करके दौरान इनमें सादृश्य और आवश्यकताके कारण कुछ स्पंदन भी होते हैं, अथवा ये संचारक माध्यममें स्पंदनोंको बदल भी देती हैं।

यह मेरे लिये बहुत परिचित चीज है, क्योंकि मेरी सतत रूपमें यही अवस्था है — मुझे ऐसा कभी नहीं लगा कि वस्तुएं बाहरसे आकर टकरा रही हैं, बल्कि मुझे उन आंतरिक क्रियाओंके विषयमें पता है जो अनेक और कभी-कभी विरोधी भी होती हैं; मुझे उस सतत संचारका भी पता है जो क्रियाके लिये आवश्यक आंतरिक परिवर्तनोंको अपने अंदर धारण किये रहता है।

यही अनिवार्य आधार है।

इसके बाद विस्तारकी क्रिया आप ही होती जाती है, साथ ही शरीर-में भी आवश्यक हेर-फेर हो जाते हैं, इस विषयको सुलझाना कठिन है। यह एक ऐसी समस्या है जिसमें मैं अभीतक डूबी हुई हूं।

और तब 'संभवन'की इस क्रियाके बाद नमनीयता आती है। नम-नीयताका अर्थ है कठोर रूपका त्याग कर सकनेकी योग्यता — जीवनका सारा, सारा समय ही मनुष्य अपने-आपको व्यक्तिगत रूप देनेमें बिता डालता है, यह एक चेतन और आग्रहपूर्ण रूपबद्धताका समय होता है, जिसे अंत-में मिटाना ही होगा। एक चेतन और वैयक्तिक सत्ता बननेका अर्थ है सभी वस्तुओंको सतत, सतत और कठोर रूप देना, जानते-बूझते हुए कठोर रूप देना। और बादमें व्यक्ति को इससे विपरीत क्रिया करनी पड़ती है, लगातार और पहले जितने या उससे भी बड़े संकल्पके साथ। साथ ही, मनुष्यने चेतनामें व्यक्तिकरणके द्वारा जो कुछ पाया है उसका लाभ उसे नहीं गंवाना चाहिये।

कहना पड़ेगा कि यह कठिन है।

विचारकी दृष्टिसे यह आरंभिक, बहुत सरल वस्तु है। भावनाओंकी दृष्टिसे भी यह कठिन नहीं है। हृदयके लिये, दूसरे शब्दोंमें, भावात्मक सत्ताके लिये परम सत्ताके आयाममें अपने-आपको विस्तृत करना भी अपेक्षाकृत सरल है; किंतु शरीर! यह बहुत कठिन है (कैसे कहा जाय?) शरीर अपने जमावके बिंदुको खोये बिना, आस-पासकी राशिमें घुले बिना — परम सत्ताके आयामतक विस्तृत हो जाय — यह बहुत कठिन है। एक बात और भी है, यदि व्यक्ति 'प्रकृति'के बीचमें हो, जहां पर्वत, वन, नदियां और बहुत-सा प्राकृतिक सौन्दर्य हो तथा बहुत-सा खुला स्थान हो, तब यह सब सुखदायी होगा, किन्तु भौतिक रूपमें, अपने शरीरसे बाहर निकलकर और इन दुःखदायी वस्तुओंके संपर्कमें आये बिना व्यक्ति एक पग भी आगे नहीं रख सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि तुम किसी ऐसे पदार्थके संपर्कमें आते हो जो सुखद, समस्वर एवं ऊष्मा लिये होता है तथा एक उच्चतर प्रकाशसे स्पन्दित रहता है। किन्तु ऐसा विरले ही

देखनेमें आता है। हां, फूल, कभी-कभी फूल भी होते हैं, पर कभी-कदास ही, सदा नहीं। परंतु यह जड़ जगत्, ओह! ...तुम्हें सब जगह आघात मिलते हैं — खरोंचें लगती हैं, नोचे जाते हो, कोड़े पड़ते हैं। तुम्हें आघात लगते हैं। जो वस्तुएं नहीं खुलतीं उन सबसे चपेटें लगती हैं — ओह! कितना कठिन है यह! यह मानव जीवन कैसे नहीं खिलता! यह उलझा पड़ा है, यह कठोर, प्रकाशरहित और ऊष्मारहित हो गया है! और मैं आनन्दकी तो बात ही नहीं कर रही।

किन्तु किसी समय, जब तुम बहते पानी और वृक्षोंपर सूर्यकी किरणें देखते हो, ओह, वे गाते हैं -- कण-कण गाता है और प्रसन्न होता है!

> किंतु यदि भौतिक रूपांतर इतना अधिक कठिन है, तो क्या गुह्य ढंगसे कार्य करना, अर्थात्, किसी चीजको मूर्त रूप देना, गुह्य प्रक्रियाओंद्वारा एक नये शरीरको उत्पन्न करना लाभकारी नहीं होगा?

इस विचारका अर्थ यह हुआ कि सबसे पहले तो ऐसी सत्ताएं होनी चाहिये जो यहां, भौतिक जगत्में ऐसी उपलब्धि पा चुकी हों जो उन्हें अति-मानसिक सत्ताको मूर्त्त रूप देनेकी शक्ति दे।

मैंने तुम्हें बताया था कि मैंने एक प्राणिक सत्ताको शरीर प्रदान किया था, किन्तु मेरे लिये उस शरीरको स्थूल रूप देना संभव नहीं हुआ: किसी चीजकी कमी थी, किसी चीजकी कमी थी। उसे दृश्य बना भी लिया जाय तो स्थायी रूप नहीं दिया जा सकता — पहला अवसर पाते ही वह भौतिक रूप छोड़ देता। अभीतक यह स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकी है।

हमने इस विषयमें श्रीअरविन्दसे विचार-विनिमय किया था (विचार-विनिमय — यह कहनेका एक ढंग है), उनसे बात की थी और उन्होंने भी इसे उसी रूपमें देखा था जैसा कि मैंने देखा और अनुभव किया था। अर्थात्, एक ऐसी शक्ति है जो किसीके पास नहीं है, यह 'पृथ्वी' पर स्वरूप-को बनाये रखनेकी शक्ति है। जिनमें स्थूल रूप देनेकी योग्यता है उनके साथ भी यही होता है, स्थूल रूप नहीं रहता, नहीं रह सकता, उसमें भौतिक वस्तुओंका गुण नहीं रहता।

अतएव, सृष्टिकी अविच्छिन्नता सुरक्षित नहीं रखी जा सकती, जबतक कि यहां कोई ऐसी चीज न हो जिसमें यह गुण मौजूद हो।

मैं समस्त गुह्य प्रक्रियाको विस्तारसे जानती थी, किन्तु मैं प्रयत्न करती,

तो भी वस्तुको अधिक स्थूल रूप न दे पाती; उसे दृश्य रूप दे सकती थी, पर केवल अस्थायी रूपमें, और वह अपना विकास करनेमें भी असमर्थ होता।

१२-१-६२

३ फरवरी, १९५८ की अनुभूति

अतिमानसिक जगत्‌की सत्ताओंमें और मनुष्योंमें वही अन्तर है जो मनुष्यों और पशुओंमें है। कुछ दिन पहले मुझे पशुओंके जीवनसे एकाकार हो जानेकी अनुभूति हुई थी, और यह एक तथ्य है कि जानवर हमें नहीं समझते, उनकी चेतना इस तरह बनी है कि हम उनकी पकड़से लगभग पूरी तरह बच निकलते हैं। फिर भी मैं कुछ पालतू जानवरोंको जानती थी —बिल्ली, कुत्ते —विशेषकर बिल्लियां, जो हमतक उठ आनेके लिये अपनी चेतनामें प्रायः यौगिक प्रयत्न करती थीं। पर साधारणतः, जब वे हमें, जीते और कार्य करते देखती हैं तो वे हमें नहीं समझती, वे हमें उस तरह नहीं देखतीं जैसे कि हम हैं, और हमारे कारण तकलीफ पाती हैं। हम सदा उनके लिये एक पहेली बने रहते हैं। उनकी चेतनाका एक बहुत छोटा-सा अंश ही हमारे साथ जुड़ा होता है। ठीक यही बात हमारे साथ होती है जब हम अतिमानसिक लोककी ओर देखनेका प्रयास करते हैं। जब चेतनाका नाता स्थापित हो जायगा तभी हम उसे देखेंगे, और तब भी हमारी सत्ताका केवल वही अंश उसे उसके यथार्थ रूपमें देख सकेगा जो इस तरह रूपान्तरणसे गुजर चुका होगा, नहीं तो दोनों जगत्, पशु और मानव जगत्‌की तरह, अलग-थलग रहेंगे।

मुझे ३ फरवरीको जो अनुभूति हुई वह इसका प्रमाण है। इसके पहले, अतिमानसिक जगत्‌के साथ, मेरा संपर्क व्यक्तिगत था, आत्मपरक था, जब कि ३ फरवरीको मैं वहां मूर्त रूपमें घूमी, वैसे ही मूर्त रूपमें जैसे पहले कभी पैरिसमें घूमा करती थी, सारी आत्मपरकतासे स्वतंत्र ऐसी एक दुनियामें जिसका अपना अलग अस्तित्व है।

यह दोनों लोकोंके बीच बनाये जानेवाले एक सेतुके समान है।

यह रही वह अनुभूति जो मैंने उसके तुरन्त बाद लिखवायी थी।

(मौन)

अतिमानस-लोक चिरस्थायी रूपमें विद्यमान है और मैं अति-

मानसिक शरीरमें वहां स्थायी रूपसे वर्तमान हूं। आज ही मुझे उसका प्रमाण मिला जब मेरी पार्थिव चेतना तीसरे पहरको दोसे तीन बजेके बीच सचेतन रूपमें वहां गयी और रही। अब मैं जानती हूं कि इन दोनों जगतोंको सतत और सचेतन सम्बन्धमें जोड़नेके लिये जिस चीज-की कमी है वह है वर्तमान स्थितिमें भौतिक जगत् और वर्तमान स्थितिमें अतिमानसिक जगत्के बीचका प्रदेश। इसी प्रदेशका निर्माण व्यक्तिगत चेतना और व्यक्ति निरपेक्ष जगत्में बाकी है। और वह निर्मित हो रहा है। पहले मैं उस नयी सृष्टिकी बात किया करती थी, जो बन रही है, वह इसी मध्यस्थ प्रदेशकी बात थी। इसी तरह जब मैं इस तरफ होती हूं, यानी, भौतिक चेतनाके क्षेत्रमें, और जब मैं अतिमानसिक शक्तिको, अतिमानसिक ज्योति और तत्त्वको जड़-तत्त्वमें निरन्तर पैठते देखती हूं तो वह इसी प्रदेशका निर्माण-कार्य होता है जिसे मैं देखती हूं और जिसमें मैं भाग लेती हूं।

मैंने अपने-आपको एक विशाल जहाजमें पाया, जो उस जगहका प्रतीकात्मक प्रतिरूप था जहां यह कार्य चल रहा है। एक शहर जितना बड़ा यह जहाज पूर्णतया व्यवस्थित था। निश्चय ही वह कुछ समयसे कार्यरत था, क्योंकि उसकी व्यवस्था पूर्ण थी। यह वह जगह है जहां उन लोगोंको आकार दिया जाता है जो अतिमानसिक जीवनके लिये नियत हैं। ये लोग (या कम-से-कम उनकी सत्ताका एक अंश) पहले ही अतिमानसिक रूपान्तरमेंसे गुजर चुके थे, क्योंकि खुद वह जहाज और जो उसमें सवार थे वे सब न तो भौतिक जगत्के थे न सूक्ष्म-भौतिक जगत्के, न प्राणिक जगत्के और न मानसिक जगत्के — वह एक अतिमानसिक तत्त्व था। स्वयं वह तत्त्व ठोस अतिमानसका था, ऐसा अतिमानसिक तत्व जो भौतिक जगत्के सबसे निकट है और जिसकी अभि-व्यक्ति सबसे पहले होगी। वहांका प्रकाश सुनहली और लाल ज्योतिका मिश्रण था जिससे जगमगाते नारंगी रंगका एक रूप-पदार्थ बना था। सब कुछ ऐसा ही था — ज्योति ऐसी थी, लोग ऐसे थे, सूक्ष्म छटा भेदके साथ सभी इसी रंगमें रंगे थे और इसी भेदके कारण एक चीज दूसरी चीजसे अलग पहचानी जा सकती थी। सामान्य छाप एक छायाविहीन जगत्की पड़ती थी, वहां सूक्ष्म अन्तर तो थे पर छायाएं नहीं थीं। वायु-मण्डल आनन्द, शान्ति और व्यवस्थासे परिपूर्ण था; वहां सब काम निय-मित रूपसे चुपचाप चल रहा था। पर साथ ही वहां शिक्षण, और सब क्षेत्रोंमें प्रशिक्षणकी बारीकियां देखी जा सकती थीं जिनके द्वारा नावके लोगोंको तैयार किया जा रहा था।

वह विशाल तरी अभी-अभी अतिमानसके तटसे आ लगी थी, और यहीं

उन लोगोंके पहले दलको उतरना था जिन्हें अतिमानसिक जगत्का भावी निवासी बनना था। इस पहली उतराईकी पूरी तैयारी हो चुकी थी। घाटपर कुछ विशालकाय सत्ताएं तैनात थीं। ये लोग मनुष्य नहीं थे और न पहले कभी मानव रहे थे, और न ही वे अतिमानसिक जगत्के स्थायी निवासी थे। उन्हें तो ऊर्ध्व लोकसे वहां भेजा गया था ताकि वे उतराई-की चौकसी कर सकें और उसपर नियंत्रण रख सकें। शुरूसे ही सारे समय उस पूरे समूहका परिचालन मेरे हाथोंमें था। स्वयं मैंने सब दल तैयार किये थे। मैं नावकी सीढ़ीकी उपरली पैड़ी पर खड़ी थी और एक-एक करके दलोंको बुलाकर नीचे घाटपर भेज रही थी। वे दीर्घ-काय सत्ताएं जो वहां तैनात थीं मानों उतरनेवालोंका निरीक्षण कर रही थीं, जो तैयार थे उन्हें अनुमति दे रही थीं और जो तैयार नहीं थे उन्हें वापस नावमें भेज रही थीं जहां उन्हें प्रशिक्षण जारी रखना था। वहां खड़ी-खड़ी जब मैं उन्हें देख रही थी तो मेरी चेतनाका वह अंश जो यहांसे गया था उनमें बड़ी रुचि लेने लगा, वह सभीको देखना और पहचानना चाहता था। वह देखना चाहता था कि वे किस तरह बदल गये थे और उन्हें परखना चाहता था जो तुरत ले लिये गये और जिन्हें वहीं रहकर अभी प्रशिक्षण जारी रखना था। कुछ देर बाद, जब मैं वहां खड़ी-खड़ी देख रही थी तो मुझे ऐसा लगा कि मुझे कोई चेतना या यहांका कोई व्यक्ति — पीछेकी ओर खींच रहा है ताकि मेरा शरीर जाग सके — और अपनी चेतनामें मैंने प्रतिवाद किया: "नहीं, नहीं, अभी नहीं! अभी नहीं, मैं लोगोंको देखना चाहती हूं।" मैं देख रही थी और बड़े चावसे ध्यानपूर्वक देख रही थी...। यह तबतक होता रहा जब-तक कि सहसा, यहां इस दीवार-घड़ीने तीन बजाने शुरू कर दिये, वह मुझे जबरदस्ती वापिस धरतीपर ले आयी। मुझे अपने शरीरमें अचानक आ गिरनेका अनुभव हुआ। मैं एक झटकेके साथ नीचे उतरी थी पर मेरी स्मृति सही-सलामत थी, यद्यपि एकदम अचानक मुझे वापिस बुला लिया गया था। बिना हिले-डुले मैं तबतक शान्त बनी रही जबतक कि मैंने पूरी अनुभूतिको पुनः याद करके सुरक्षित नहीं कर लिया।

उस नावपर चीजोंके स्वभाव और स्वरूप वैसे नहीं थे जैसे हम पृथ्वीपर देखते हैं। उदाहरणार्थ, उनकी पोशाकें कपड़ेसे नहीं बनी थीं, और वह चीज जो कपड़े जैसी लगती थी कपड़ेकी तरह नहीं बुनी गयी थी; वह उनके शरीरका ही एक अंग थी, वे उसी तत्त्वसे बनी थीं जो तरह-तरहके रूप धर लेता था। उसमें एक तरहकी नमनीयता थी। जब किसी परिवर्तन की आवश्यकता होती तो वह हो जाता था पर किसी

बनावटी या बाह्य तरीकेसे नहीं, बल्कि एक आंतरिक क्रियाद्वारा, वह चेतनाकी क्रियाद्वारा होता था जो उस तत्त्वको रूप या आकृति देती थी। जीवन अपने आकार आप रच लेता था। वहां सब चीजोंमें **एक ही तत्त्व** था: वह आवश्यकता और उपयोगिताके अनुसार अपने स्पन्दनके गुणको बदल लेता था।

जिन्हें नये प्रशिक्षणके लिये लौटा दिया गया था उनका रंग एक-सा नहीं था, लगता था कि उनके शरीरपर ऐसे तत्त्वके गहरे घूसर धब्बे थे जो धरतीके तत्त्वसे मिलते-जुलते थे; वे धूमिल लगते थे, मानों ज्योति द्वारा वे न तो पूरी तरह ओत-प्रोत हुए थे न रूपान्तरित। ऐसा सब जगह नहीं था, बस कहीं-कहीं।

घाटपर जो दीर्घकाय सत्ताएं थीं वे उसी रंगकी नहीं थीं, कम-से-कम उनमें वह नारंगी आभा नहीं थी, वे अधिक पाण्डुर और पारदर्शी थीं। उनके शरीरके एक भागको छोड़कर बाकीका खाका ही दीखता था। वे बहुत लम्बी थीं, उनके शरीरमें मानों हड्डियां तो थीं ही नहीं, वे आवश्यकतानुसार कोई भी आकार ले सकती थीं। कमरसे पांवतक ही स्थायी घनत्व था जो शरीरके बाकी भागोंमें महसूस नहीं होता था, उनका रंग अधिक पीला था, बहुत थोड़ी-सी लालिमा लिये, वह अधिक सुनहला था, शायद सफेदके अधिक पास। धवल-से प्रकाशसे आलोकित अंश पारभासी थे; वे नितान्त पारदर्शी नहीं थे, फिर भी नारंगी तत्त्वसे कम ठोस और अधिक सूक्ष्म थे।

जब मैं वापिस बुलायी गयी और उस घड़ी जब मैं "अभी नहीं" कह रही थी, दोनों बार मैंने अपने-आपको एक उड़ती निगाहसे देखा, अर्थात्, अतिमानसिक जगत्‌में अपने रूपको देखा। मैं उन दीर्घकाय सत्ताओं और नावपरके लोगोंका एक मिश्रण थी। मेरा ऊपरी भाग, खासकर सिर एक रेखाचित्र था, जिसकी अन्तर्वस्तु श्वेत थी और कोर नारंगी। पांवकी ओर जाते-जाते उसका वर्ण नावके लोगोंकी तरह होता जाता था, यानी, वह नारंगी था; दुबारा सिरकी ओर आते-आते वह अधिकाधिक पारभासक और श्वेत होता जाता था, और लाली घट जाती थी। सिर केवल एक रेखा चित्र-सा था जिसके अन्दर भास्वर सूर्य था, इसमेंसे ज्योतिकी किरणें निकल रही थीं जो संकल्प-शक्तिकी क्रिया थी।

जिन्हें मैंने जहाजमें देखा था उन सबको मैं पहचानती थी। उनमेंसे कुछ तो यहां, आश्रमके थे, कुछ और जगहोंसे आये थे, पर मैं उन्हें भी जानती थी। वहां मैंने सभी को देखा। लेकिन चूंकि मैं जानती थी कि जब मैं लौटूंगी तो मुझे कुछ भी याद न रहेगा, मैंने कोई भी नाम न देने-

का निश्चय किया। और फिर इसकी कोई जरूरत भी नहीं। तीन-चार चेहरे बहुत स्पष्ट दिखायी देते थे, और जब मैंने उन्हें देखा तो मैं अपनी उस भावनाको समझ पायी जो यहां पृथ्वीपर उनकी आंखोंमें देखते समय पैदा हुई थी: कितना अनूठा उल्लास था उनमें...। वे अधिकतर युवक थे, बच्चे बहुत कम थे और उनकी उम्र चौदह-पन्द्रहके बीच थी। निश्चय ही, वे दस-बारह वर्षसे कमके न थे (मैं वहां इतने काफी समयतक नहीं ठहरी कि इन सब बारीकियोंको देख सकती)। कुछ एकको छोड़कर वृद्धोंकी संख्या नहीं के बराबर थी। तटपर उतरनेवालोंमें कुछको छोड़कर अधिकतर अधेड़ आयुवाले थे। इस अनुभूतिके पहले ही कुछ व्यक्ति उस जगह कई बार जांचे जा चुके थे, जहां अतिमानसिक बननेकी योग्यतावाले व्यक्तियोंकी परीक्षा होती थी। तब मैंने कई आश्चर्यजनक बातें देखीं और उन्हें अंकित कर लिया; कुछको तो मैंने इसके बारेमें बताया भी था। लेकिन मैंने आज जिन्हें तटपर उतारा है उन्हें मैंने बड़ी अच्छी तरह देखा है; वे बीचकी आयुवाले थे, न छोटे बच्चे थे न बूढ़े, कुछ विरल अपवाद अवश्य थे। और यह काफी कुछ मेरी आशासे मेल खाता था। मैंने कुछ न कहने और नाम न बतानेका निश्चय किया। चूंकि मैं अंततक नहीं रुकी अतः ठीक-ठीक चित्र पाना मेरे लिये संभव न था। वह चित्र न तो पूरी तरह स्पष्ट था न पूर्ण। मैं यह भी नहीं चाहती कि कुछको उसके बारेमें बताऊं और कुछको नहीं।

मैं इतना ही कह सकती हूं कि यह दृष्टिकोण या फैसला केवल उस तत्त्वपर आधारित था जिससे लोगोंका निर्माण हुआ था, अर्थात्, क्या वे पूर्णतः अतिमानसिक जगत्के प्राणी थे? क्या वे उसी विशिष्ट तत्त्वके बने थे जो दृष्टिकोण अपनाया गया था? वह न तो नैतिक था न मनोवैज्ञानिक। यह हो सकता है कि जिस तत्त्वसे उनके शरीर बने थे वह किसी आन्तरिक विधान या आन्तरिक क्रियाका परिणाम हो, पर उस समय तो उसका प्रश्न नहीं था। कम-से-कम इतना तो स्पष्ट है कि वहांके मूल्य कुछ और हैं।

जब मैं लौट आयी तो अनुभूतिकी यादके साथ-ही-साथ मैं यह भी जानती थी कि अतिमानसिक जगत् स्थायी था, वहां मेरी उपस्थिति भी स्थायी थी, सिर्फ कमी थी तो एक कड़ीकी जो चेतना और तत्त्वके बीच सम्बन्ध जोड़ सके। और वह कड़ी गढ़ी जा रही है। उस समय मुझे एक चरम सापेक्षकी अनुभूति हुई (वह अनुभूति काफी देरतक, लगभग दिनभर बनी रही) — नहीं, ठीक ऐसा भी नहीं: वह अनुभूति यह थी

कि इस जगत् और उस जगत्के सम्बन्धने उस दृष्टिकोणको नितान्त बदल दिया जिसके अनुसार चीजोंका मूल्यांकन और विवेचन होना चाहिये। इस दृष्टिकोणमें कोई मानसिक तत्त्व न था, बल्कि इसने ऐसी विलक्षण आंतरिक भावना जगायी कि बहुत-सी चीजें जिन्हें हम अच्छा या बुरा मानते हैं सचमुच वैसी नहीं हैं। यह बिलकुल स्पष्ट है कि सब कुछ निर्भर है चीजोंकी क्षमतापर, अतिमानसिक जगत्को रूपायित करनेकी स्वाभाविक योग्यतापर या फिर उसके साथ नाता जोड़नेपर। यह हमारी साधारण गुणविवेचनाओंसे बहुत अधिक भिन्न है, कभी-कभी तो विपरीत भी। मुझे एक छोटी-सी चीज याद आ रही है, जिसे अक्सर हम बहुत खराब मानते हैं, कितना अजीब लगा यह देखकर कि वास्तवमें वह बहुत बढ़िया थी! कुछ और चीजें जिन्हें हम बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं, वास्तवमें कोई महत्त्व नहीं रखतीं: अमुक चीज ऐसी है या अमुक वैसी, इसका कोई महत्त्व नहीं। यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि दिव्य और अदिव्यकी हमारी विवेचना ही ठीक नहीं होती। कुछ चीजोंपर तो मैं हंस पड़ी...। भगवद्विरोधी क्या है इसकी हमारी सामान्य भावना कृत्रिम प्रतीत होती है, वह ऐसी चीजपर आधारित लगती है जो सत्य और सजीव नहीं है (और फिर जिसे हम यहां जीवन कहते हैं, उस जगत्की तुलनामें वह जीवंत नहीं लगा), जो भी हो, यह भाव आधारित होना चाहिये दोनों जगतोंके बीचके हमारे संबंधपर और इस बातपर कि अपने संबंधको और भी सरल या कठिन कैसे बनाती हैं। तब इस बातकी विवेचनामें बहुत अंतर पड़ जायगा कि कौन-सी चीज हमें भगवान्के निकट ले जाती है और कौन-सी दूर। मनुष्यों-में भी मैंने देखा कि जो चीज उन्हें अतिमानसिक बननेमें मदद देती है या बाधा डालती है वह उससे बहुत भिन्न है जिसकी कल्पना हमारी नैतिक धारणाएं करती हैं। मुझे लगता है कि हम कितने . . . हास्यास्पद हैं।

१२-१-६२

७० — बिना दया दिखाये अपनी जांच करो, तब तुम दूसरोंके प्रति अधिक उदार और अधिक दयालु होगे।

बहुत अच्छा!

यह बहुत अच्छा है, यह सबके लिये बहुत अच्छा है, विशेषतया उन लोगोंके लिये जो अपने-आपको बड़ा और बहुत श्रेष्ठ समझते हैं।

किंतु सचमुच इसका संबंध किसी गहरी बातसे है।

ठीक यही अनुभूति मुझे कुछ समयसे हो रही है। यह कुछ-कुछ पहली वृत्तिसे उलटी है।

अपने अंतरतम हृदयमें मनुष्य अपने-आपको विरोधी शक्तियोंद्वारा सताया हुआ और उत्पीड़ित समझता है। जो लोग साहसी होते हैं वे संघर्ष करते हैं, दूसरे रोते हैं। सृष्टिमें इन विरोधी शक्तियोंकी भूमिकाके बारेमें, अर्थात्, उनकी अनिवार्य आवश्यकताके बारेमें मेरी अंतर्दृष्टि अधिकाधिक मूर्त रूप धारण कर रही है, ताकि विकास हो और सृष्टि फिरसे अपना 'स्रोत' बन जाय। यह अंतर्दृष्टि इतनी स्पष्ट है कि व्यक्तिको विरोधी शक्तियोंके रूपांतर या नाशकी मांग करनेके स्थानपर अपना रूपांतर साधित करना चाहिये, यही वह चीज है जिसके लिये उसे प्रार्थना करनी चाहिये, यही वह चीज है जो उसे चरितार्थ करनी चाहिये। यह बात पार्थिव दृष्टिसे कही गयी है, मैं अपने-आपको व्यक्तिगत दृष्टिकोणपर नहीं ला रही। व्यक्तिगत दृष्टिकोणको तो लोग जानते हैं; मैं पार्थिव दृष्टि-कोणसे बात कर रही हूं। यह अंतर्दृष्टि है जो अचानक ही आ गयी, समस्त भ्रांति, समस्त नासमझी, समस्त अज्ञान और समस्त अंधकारकी दृष्टि और उससे भी बुरी बात, यह कि पार्थिव चेतनाकी समस्त अशुभ इच्छाकी दृष्टि जो इन विरोधी सत्ताओं और शक्तियोंके अधिक लंबे समय-तक चलते रहनेके लिये उत्तरदायी है, जो इन्हें एक महान् अभीप्सा — अभीप्सासे भी बड़ी — आहुतिके रूपमें समर्पित कर देती है ताकि ये विलीन हो जायं, इनके अस्तित्वका कोई कारण न रहे, जिस वस्तुको बदलना है उसके सूचकके रूपमें ये वहां उपस्थित न रहें।

ये अनिवार्य उन वस्तुओंके कारण बन गयीं जो दिव्य जीवनका निषेध थीं। सर्वोच्च सत्ताके प्रति पार्थिव चेतनाका अत्यन्त तीव्र रूपसे किया गया यह समर्पण एक प्रकारका मुक्तिका मूल्य है जो विरोधी शक्तियोंको समाप्त करनेके लिये चुकाना पड़ता है।

यह एक बड़ी तीव्र अनुभूति थी। इसने अपने-आपको यूं अनूदित किया: "जो भी अपराध मैंने किये हैं उन सबको तुम ले लो, उन्हें स्वी-कार करो, उन्हें पोंछ डालो ताकि ये शक्तियां लुप्त हो जायं।"

दूसरे छोरसे यह सूत्र ठीक यही है, अपने सार-तत्त्वमें यही है। जबतक एक भी मानव चेतनामें अनुभव करने, कर्म करने, या सोचनेकी अथवा महान्, दिव्य अभिव्यक्तिका विरोध करनेकी संभावना है, तबतक किसी औरको दोष देना असंभव है; उन विरोधी शक्तियोंको दोष नहीं दिया जा सकता जो सृष्टिमें इसलिये रखी जाती हैं कि वे तुम्हें यह रास्ता दिखा

और उसका अनुभव करा सकें जिसपर तुम्हें चलना है।

(मौन)

"जिस अवस्थामें मैंने अपने-आपको पाया वह मानों सर्वोच्च प्रेमकी एक ऐसी 'चेतना' की स्मृति थी — ऐसी स्मृति जो सदा उपस्थित रहती है — जिसे भगवान्ने 'पृथ्वी'पर, 'पृथ्वी'में — 'पृथ्वी'में — आविर्भूत किया है जिससे कि वह उनकी ओर वापिस लौट जाय। कारण, इसका मतलब सचमुच ही संपूर्ण भागवत 'निषेध'की अवस्थामें उतरना था, यह दिव्य प्रकृतिके सार-तत्त्वका ही निषेध था, अतएव यह दिव्य अवस्थाको छोड़ना था ताकि 'पृथ्वी' के अंधकारको स्वीकार करके उसे पुनः दिव्य अवस्थामें ले जाया जा सके। और, जबतक यह सर्वोच्च प्रेम सर्वशक्तिशाली रूपमें, यहां, इस 'पृथ्वी' पर, चेतन न हो जाय, यह वापिसी कभी भी पूरी तरहसे सुनिश्चित नहीं हो सकती।

यह अनुभूति उस महान् दिव्य संभूति[1]की अंतर्दृष्टिके बाद आयी और मैंने अपने-आपसे पूछा: "क्योंकि यह जगत् विकसनशील है और क्योंकि यह अधिकाधिक दिव्य बन रहा है, क्या अदिव्य वस्तुकी इतनी गहरी कष्टदायक भावना और उस अवस्थाकी भावना जो उस अवस्थाकी तुलनामें, जिसे अभी अभिव्यक्त होना है, दिव्य नहीं है, सदा नहीं बनी रहेगी? क्या वे शक्तियां, जिन्हें हम "विरोधी शक्तियां" कहते हैं सदा नहीं बनी रहेंगी, अर्थात्, वह चीज, जो गतिका सामंजस्यपूर्ण ढंगसे अनुसरण नहीं करती, नहीं बनी रहेगी?" तब उत्तर मिला, अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई: न, यही वह समय है जब ऐसा होनेकी संभावना पास आ गयी है, पूर्ण प्रेमके उस सार-तत्त्वकी अभिव्यक्तिका समय आ गया है जो इस अचेतनाको, इस अज्ञानको और इसके फलस्वरूप उत्पन्न अशुभ इच्छाको पूर्णता और समग्र बोधके इच्छुक ज्योतिर्मय और आनंदपूर्ण विकासमें रूपांतरित कर सकता है।

यह एक मूर्त तथ्य है।

और इसका अर्थ है वह अवस्था जिसमें व्यक्ति उस सबके साथ इतने **पूर्ण रूपसे** तादात्म्य स्थापित कर लेता है जिसका अस्तित्व है, और वह सब कुछ बन जाता है जो प्रत्यक्ष रूपमें भगवद्विरोधी है। तब व्यक्ति इस विरोधी तत्त्वको भगवान्के प्रति समर्पित कर सकता है, और इस समर्पणके द्वारा उसे सचमुच रूपांतरित कर सकता है।

---

[1]सूत्र संख्या ७३, ७४, ७५ की व्याख्या देखो।

आधाररूपमें, पवित्रताके लिये, मनुष्योंमें स्थित 'शुभ' के लिये इस प्रकार-का संकल्प ही (यह सामान्य मानव मनमें धर्मात्मा बननेकी आवश्यकताके द्वारा अनूदित होता है) सच्चे आत्मदानके रास्तेमें सबसे बड़ी बाधा है। यही 'मिथ्यात्व' के और विशेष रूपसे पाखण्डके मूलमें विद्यमान है, दूसरे शब्दोंमें, व्यक्ति कठिनाइयोंके बोझके अपने हिस्सेको अपने ऊपर लेना अस्वीकार कर देता है। श्रीअरविंदने इसी बातको इस सूत्रमें बड़े सरल और सीधे ढंगसे छुआ है।

धर्मात्मा बननेका स्वांग भरनेकी कोशिश मत करो। यह देखो कि तुम किस हदतक समस्त भगवद्विरोधी तत्त्वके साथ युक्त हो गये हो, उसके साथ एक हो गये हो। बोझका अपना हिस्सा अपने ऊपर ले लो, यह स्वीकार कर लो कि तुम स्वयं अपवित्र और झूठे हो। इस प्रकार तुम इस 'काली छाया' को लेकर समर्पित कर सकते हो और जिस हदतक तुम इसे लेकर समर्पित कर सकोगे उसी हदतक वस्तुएं भी बदल जायेंगी।

पवित्र व्यक्तियोंकी सूचीमें अपने-आपको रखनेकी चेष्टा मत करो। जो अंधकारमें निवास करते हैं उनके साथ रहना स्वीकार करो और फिर समग्र प्रेमसहित सब कुछ भगवान्‌को सौंप दो।

२१-१-६२

७१ — विचार सत्यको लक्ष्य करके छोड़ा हुआ एक तीर है; वह एक बिन्दुपर तो लग सकता है पर समूचे लक्ष्यको आवृत नहीं कर सकता। परन्तु धनुर्धर अपनी सफलतासे इतना संतुष्ट हो जाता है कि उससे अधिक कुछ नहीं चाहता।

किंतु यह तो स्पष्ट है, यह हमारे लिये कितना स्पष्ट है!

हां, किंतु पूरे लक्ष्यको बेधनेके लिये क्या करना चाहिये?

धनुर्धारी न बने रहो।

यह रूपक सुन्दर है। यह उन लोगोंके लिये अच्छा है जो ठीक उसी अवस्थामें हैं, जिसमें वे कल्पना करते हैं कि उन्होंने सत्य ढूंढ लिया है!

यह उन लोगोंके लिये कहना अच्छा है जो यह सोचते हैं कि चूंकि

उन्होंने एक बिन्दुको छू लिया है, इसलिये उन्होंने सत्य ढूंढ लिया है। किंतु हमने बहुत बार दूसरी बातें भी कही हैं।

यह पूछा जा सकता है कि किस हदतक उस दिनसे ही कार्य करना संभव है, जब व्यक्ति पूरे लक्ष्यको बेधनेमें समर्थ हो जाय, दूसरे शब्दोंमें, वह सब दृष्टिकोणोंको, प्रत्येक वस्तु-की उपयोगिताको जान सके, क्योंकि तब वह देखता है कि प्रत्येक वस्तु उपयोगी है, प्रत्येक वस्तु अपने स्थानपर है। किंतु कार्य करनेके लिये उसे एक प्रकारसे एक ही बिंदुपर एकाग्र होना एवं संघर्ष करना पड़ता है?

क्या तुम उस दार्शनिककी कहानी जानते हो जो दक्षिण फ्रांसमें रहता था? मुझे उसका नाम अब याद नहीं, पर वह एक बड़ा प्रसिद्ध आदमी था, मौपलियेके विश्वविद्यालयमें वह प्राध्यापक था। उसका मकान शहर-के बाहरी छोरपर था। कई सड़कें उसके घरकी ओर जाती थीं। प्रति-दिन वह व्यक्ति अपने विश्वविद्यालयसे निकलता और उस चौराहेपर पहुंचता जहांसे कई सड़कें भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जाती थीं। पर वे सब उसके घरकी ओर जाती थीं, एक एक रास्तेसे तो दूसरी दूसरे रास्तेसे और तीसरी एक और रास्तेसे। प्रतिदिन वह चौराहेपर ठहरता और अपने-आपसे पूछता: "किस सड़कपर चला जाय?" प्रत्येक सड़कके अपने लाभ और हानियां थीं। यह सब उसके मस्तिष्कमें चलता रहता, कभी लाभ और कभी हानियां, कभी यह, कभी वह और वह प्रतिदिन अपने घरका रास्ता चुननेमें आध घंटा नष्ट करता।

वह खुद इसे कार्यके लिये विचारकी अक्षमताके उदाहरणके रूपमें दिया करता था। यदि व्यक्ति सोचना शुरू कर दे तो वह कार्य नहीं कर सकता।

यहां, नीचे, इस स्तरपर, जबतक व्यक्ति धनुर्धारी है और केवल एक बिन्दुको ही छूता है, यह सब बहुत अच्छा है। किंतु ऊपर जानेपर यह बात सत्य नहीं रहती, बिलकुल उलटी हो जाती है! नीचेके स्तरकी सारी बुद्धि ही ऐसी होती है, वह सब प्रकारकी वस्तुएं देखती है, और क्योंकि वह सभी प्रकारकी चीजें देखती है, वह कर्म करनेके लिये चुनाव नहीं कर सकती। किंतु पूरे लक्ष्यको देखनेके लिये, समग्र सत्यको देखनेके लिये व्यक्तिको दूसरे छोरतक जाना होगा। और जब तुम वहां पहुंचते हो, तो तुम अनेक सत्योंका कुल-जोड़ नहीं देखते। अब वह एकके साथ एक जुड़े सत्योंकी अनगिनत संख्याका जोड़ नहीं रहता, जिसे तुम एक-के-बाद-

एक देखते हो और "समग्र" को एक साथ नहीं पकड़ पाते। जब तुम ऊपर, ऊंचाईपर चले जाते हो तो पहले "समग्र" को देखते हो, "समग्र" एकबारगी तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाता है, इकट्ठा, पूरा, बिना विभाजनके। और तब, व्यक्तिको चुनाव नहीं करना होता, उसे तब एक अंतर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है और यही चीज करने योग्य है। यह इस या उसमें चुनाव नहीं है — यह या वह नहीं है — क्योंकि बात ऐसी नहीं रही। ये वस्तुएं क्रममें नहीं रहीं, जिन्हें तुम एक-के-बाद-एक देखते हो। यहां समग्रताकी एक साथ ही अनुभूति होती है जो एकताके समान ही अपना अस्तित्व रखती है। चुनावका रूप तब केवल अंतर्दृष्टिका ही होता है।

किंतु जबतक तुम दूसरी अवस्थामें रहते हो, धनुर्धारीके समान, तुम "समग्र" को नहीं देख सकते — तुम क्रमिक रूपमें "समग्र" को नहीं देख सकते। तुम एक सत्यको दूसरेके साथ जोड़ते हुए भी "समग्र" को नहीं देख सकते। यही मनकी अक्षमता है। मन नहीं देख सकता। वह सदा क्रमिक रूपमें देखेगा, जिसका अर्थ होगा सदा सत्योंको जोड़ना। और यह ऐसा नहीं है — इसमें कुछ-न-कुछ सदा छूट जायगा, सत्यका अर्थ ही छूट जायगा।

जब व्यक्तिको एकत्वमें समग्रताका सार्वभौम और युगपत् बोध होता है, केवल तभी सत्यको उसकी समग्रतामें देखा जा सकता है।

और तब कार्य एक चुनाव मात्र नहीं रह जाता जिसमें भूल हो सकती है, शुद्धि और विवादकी आवश्यकता पड़ सकती है, तब वह जो कुछ करना है, उसका स्पष्ट दर्शन बन जाता है और अचूक होता है।

३-२-६२

७२ — ज्ञानके उदय होनेका लक्षण है यह अनुभव करना कि अभी मैं न के बराबर या कुछ नहीं जानता; और फिर भी, यदि मैं केवल अपने ज्ञानको ही जान पाता तो इसका अर्थ होता कि मैं सब कुछ पा चुका हूं।

नींदमें कई बार ऐसा लगता है कि व्यक्तिको भविष्यके बारेमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो गया है। इस ज्ञानमें सब भौतिक बारीकियां तो निहित होती ही हैं, साथ ही यह असाधारण रूपसे यथार्थ भी होता है, मानों वहां, गुह्य स्तरपर, सब कुछ ब्योरेवार पहले ही संपन्न हो चुका हो। क्या यह ज्ञान यथार्थ

> होता है? ज्ञानका यह स्तर कौन-सा है? क्या यह एक ही है या एकसे अधिक? जाग्रत् अवस्थामें, चेतन रूपमें, इसतक पहुंचनेके लिये क्या किया जाय? और इसका क्या कारण है कि गंभीर व्यक्ति, जिन्होंने भगवत्प्राप्ति कर ली है, अपनी भविष्यवाणियोंमें कभी-कभी मोटी भूलें कर जाते हैं?

किंतु यह तो एक पूरे-का-पूरा जगत् है! यहां एक प्रश्न नहीं, बीसियों प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

पूर्वसूचक स्वप्न कई प्रकारके होते हैं, इनमेंसे कई पूर्वसूचक स्वप्न तो तत्काल ही फलीभूत हो जाते हैं, दूसरे शब्दोंमें, रात्रिका स्वप्न अगले दिन ही चरितार्थ हो जाता है, और कुछ पूर्वसूचक स्वप्न ऐसे होते हैं जिनके पूरा होनेमें थोड़ा-बहुत समय लगता है। और अपनी समय-संबंधी स्थितिके अनुसार ये स्वप्न विभिन्न क्षेत्रोंमें देखे जाते हैं।

जितना अधिक व्यक्ति पूर्ण निश्चयताके निकट पहुंचता है उतनी अधिक ही दूरी बढ़ जाती है, क्योंकि ये अंतर्दर्शन (Vision) एक ऐसे जगत्में प्राप्त होते हैं जो 'मूलस्रोत' के बहुत निकट है। जो कुछ होनेवाला है उसके साक्षात्कार और उसकी चरितार्थताके बीचका समय बहुत लम्बा हो सकता है। किंतु साक्षात्कार निश्चयात्मक है, क्योंकि वह 'मूलस्रोत'के अत्यन्त निकट है। एक ऐसा स्थान है जहां व्यक्ति सर्वोच्च सत्ताके साथ एक हो जाता है, जहां व्यक्ति भूत, भविष्य और वर्तमानके बारेमें सर्वत्र सब कुछ जानता है। किंतु साधारणतया होता यह है कि लोग वहां जाते हैं पर लौटनेपर, जो देखा था वह भूल जाते हैं। उसे याद रखनेके लिये एक विशेष प्रकारके कठोर अनुशासनकी आवश्यकता है। और यही वह एकमात्र स्थान है जहां व्यक्ति गलती नहीं कर सकता।

किंतु जोड़नेवाले टांके या कड़ियां सदा पूरे नहीं होते, इसलिये व्यक्ति कभी-कदास ही याद रख सकता है।

हां, तो मैं यह कह रही थी कि जिस स्तरपर व्यक्ति यह सब देखता है, उसके अनुसार वह स्वप्नकी चरितार्थताके समयके बारेमें अनुमान लगा सकता है। तात्कालिक वस्तुएं तो पहलेसे ही हो चुकती हैं, इनका अस्तित्व सूक्ष्म-भौतिक जगत्में पहलेसे होता है और इन्हें वहां देखा जा सकता है — बस, ये वहां हैं, इनका वहां अस्तित्व है — ये केवल स्थूल जगत्की प्रतिमूर्तिके प्रतिबिम्ब (केवल प्रतिलिपि नहीं) अथवा प्रतिच्छायाएं होती हैं जो अगले दिन या कुछ घंटोंके बाद घटेंगी। वहां तुम वस्तुको यथार्थ रूपमें उसकी सब बारीकियों सहित देखते हो, क्योंकि वह वहां

पहलेसे ही होती है। सब कुछ स्वप्न, उसकी यथार्थता और उसकी शक्तिपर निर्भर करता है। यदि तुममें स्वप्नगत सूक्ष्म-दर्शनकी प्रत्यक्ष और सच्ची शक्ति है तो तुम वस्तुको यथार्थ रूपमें देख लोगे; पर यदि तुम इसके साथ अपनी भावनाएं और धारणाएं जोड़ दोगे तो वह अंतर्दर्शन इनसे प्रभावित हो जायगा। अतएव, सूक्ष्म-भौतिक जगत्में यथार्थता पूर्णतया यंत्रपर निर्भर करती है, अर्थात्, स्वप्नद्रष्टा-पर।

किंतु ज्यों ही तुम एक अधिक सूक्ष्म क्षेत्रमें प्रवेश करते हो, उदाहरणार्थ, प्राणके क्षेत्रमें या मनके क्षेत्रमें जाते हो जो और भी अधिक सूक्ष्म है, तो वहां — मन ही नहीं, प्राणके क्षेत्रमें भी — संभावनाओंकी गुंजायश पैदा हो जाती है। तब तुम स्थूल रूपमें यह जान सकते हो कि आगे क्या होनेवाला है, पर ब्योरेमें फर्क पड़ सकता है : यहां इच्छाएं और प्रभाव हस्तक्षेप करके विभेद उत्पन्न कर सकते हैं।

और इसका कारण यह है कि मूल 'संकल्प-शक्ति' विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रतिबिंबित होती है और प्रत्येक क्षेत्र उन प्रतिमूर्तियोंकी व्यवस्था और संबंधको बदल देता है। यह जगत् जिसमें हम रहते हैं प्रतिमूर्तियोंका जगत् है। यह अपने सार रूपमें वह वस्तु नहीं, बल्कि वस्तुका प्रतिबिम्ब है। यह कहा जा सकता है कि हम, अपने भौतिक जीवनमें, केवल एक प्रतिबिम्ब हैं, अर्थात्, जो कुछ हम अपनी मूल वास्तविकतामें हैं, उसकी प्रतिमूर्ति हैं और इन प्रतिबिम्बोंके ढंग ही भूलों और असत्यताको उत्पन्न करते हैं — जो कुछ तुम सार रूपमें देखते हो वह पूर्णतया सत्य और विशुद्ध होता है तथा सनातन कालतक रहता है, प्रतिमूर्तियां तत्त्वतः बदलती रहती हैं। और स्पंदनोंमें असत्यता जितनी अधिक होती है विकृति और परिवर्तन भी उतने ही अधिक हो जाते हैं। हम कह सकते हैं कि प्रत्येक परिस्थितिका, प्रत्येक घटना और प्रत्येक वस्तुका एक विशुद्ध अस्तित्व होता है, जो कि उसका सच्चा अस्तित्व है, पर उसी वस्तुकी सत्ताके विभिन्न क्षेत्रोंमें बहुत-से अशुद्ध या विकृत अस्तित्व भी होते हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धिक क्षेत्रमें विकृति शुरू हो जाती है, मानसिक क्षेत्रमें भी बहुत-सी विकृतियां आ जाती हैं और जब आवेगों और वेदनोंके क्षेत्र हस्तक्षेप करते हैं तो इनकी संख्या और भी बढ़ जाती है। और भौतिक स्तरपर पहुंचते-न-पहुंचते तो प्रायः इन्हें पहचाना भी नहीं जा सकता, वे बिलकुल ही विकृत हो जाते हैं, इस हदतक कि कभी-कभी यह जानना कठिन हो जाता है कि यह उसीकी स्थूल अभिव्यक्ति है — उनमें अधिक समानता नहीं होती।

समस्याको सुलझानेका यह एक नया ढंग है और यह कई अन्य वस्तुओं-को समझनेके लिये कुंजी प्रदान कर सकता है।

अतएव, जब तुम एक व्यक्तिको भली-भांति जानते हो, और तुम्हें उसे भौतिक रूपमें देखनेका अभ्यास है, यदि तुम उससे सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌में मिलो तो तुम्हें उसके बारेमें कई और वस्तुओंका पता लगेगा जो अधिक सुनिश्चित, प्रत्यक्ष और महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें तुमने भौतिक रूपमें पहले नहीं देखा था, क्योंकि स्थूल जगत्‌की धूमिलतामें वे उसी स्तरपर दूसरी वस्तुओं-के समान ही प्रतीत हुई थीं। कुछ ऐसे चरित्र या चरित्रके व्यक्त रूप होते हैं जो इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं कि भली-भांति देखे जा सकते हैं, पर वे भौतिक रूपमें प्रकट नहीं हुए। जब तुम इसी व्यक्तिको भौतिक रूपमें देखते हो तो तुम उसके वर्णको, उसके नाक-नक्शेको, उसके मुखके भावको देखते हो। उसी समय यदि तुम उसे सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌में देखो तो तुम्हें अचानक दिखायी देगा कि उसके शरीरके एक भागका एक रंग है और दूसरेका दूसरा, उसकी आंखोंमें एक ऐसा भाव है, ऐसी ज्योति है जो पहले बिलकुल दिखायी नहीं देती थी, और सबसे बढ़कर, समस्त आकृति एक भिन्न वस्तुका आभास देती है, एक ऐसी वस्तुका जो हमारी भौतिक आंखोंको व्यर्थ प्रतीत होगी पर जो सूक्ष्म दृष्टिके लिये बड़ी स्पष्ट और स्वभावको प्रकट करने-वाली होगी। वह उन प्रभावोंको भी व्यक्त कर देगी जिनके अधीन व्यक्ति रहता है (जो कुछ मैं यहां कह रही हूं वह अभी कुछ दिन पहले मेरे अपने अनुभवमें आया था)।

अतएव, जिस हदतक तुम चेतन होते हो और जिस स्तरसे तुम देखते हो उसीके अनुसार तुम प्रतिमूर्तियों और घटनाओंको थोड़ा-बहुत निकटसे और थोड़ा-बहुत यथार्थ रूपमें देखते हो। केवल एक ही दृष्टि सच्ची और सुनिश्चित है और वह भागवत चेतनाकी दृष्टि है। अब समस्या है इस भागवत चेतनाके प्रति सचेतन होनेकी और इस चेतनाको सर्वदा, समस्त बारीकियोंमें बनाये रखनेकी।

यहांसे वहांतक, संकेतोंको प्राप्त करनेके कई ढंग हैं। यथार्थ और निश्चित दृष्टिके, जिससे कुछ लोग परिचित हैं, कितने ही स्रोत हो सकते हैं। जब व्यक्तिको अपनी परिस्थितियोंके प्रति सचेतन रहनेका अभ्यास हो जाता है तो उसे यह दृष्टि परिस्थितियों और वस्तुओंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेपर प्राप्त हो सकती है। यह संकेत अदृश्य जगत्‌के उस वाचाल प्राणीके द्वारा दिया जा सकता है जिसे भविष्यमें होनेवाली वस्तु-की पूर्व सूचना देनेमें आनन्द आता है — ऐसा अधिकतर होता है। ऐसी

अवस्थामें सब कुछ "घोषणा करनेवाले"के नैतिक गुणपर निर्भर करता है। यदि उसे तुम्हें छकाकर सुख मिलता है तो वह तुम्हें सब प्रकारकी कहानियां सुनायेगा — जो लोग इन सत्ताओंसे सूचनाएं प्राप्त करते हैं उनके साथ प्रायः ऐसा ही होता है। वे लोगोंको फंसानेके लिये पहले तो भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके बारेमें बताते हैं, क्योंकि उन्हें प्राण या मनके किसी क्षेत्रकी व्यापक दृष्टि प्राप्त है, और जब उन्हें यह पक्का निश्चय हो जाता है कि तुम उनमें विश्वास करते हो, तो वे तुम्हें काल्पनिक कहानियां भी सुनाना आरंभ कर सकते हैं, दूसरे शब्दोंमें, तुम मूर्ख बनाये जाते हो। ऐसा प्रायः होता है। अपनी ओरसे तुम्हें इन प्राणियों अथवा सत्ताओंकी चेतनासे — जिन्हें छोटे देवता भी कहा जाता है — अधिक उच्च चेतनामें निवास करना चाहिये तथा इनकी घोषणाओंके मूल्यको ऊपरसे नियंत्रित कर सकना चाहिये।

यदि तुममें वैश्व मानसिक दृष्टि है तो तुम समस्त मानसिक रचनाओंको देख सकते हो; तुम देखते हो — और यह बड़ा मनोरंजक होता है — कि किस प्रकार मानसिक जगत् भौतिक स्तरपर चरितार्थ होनेके लिये अपने-आपको संगठित करता है। तुम कई विभिन्न रचनाओंको देखते हो, इनके एक-दूसरेके निकट आने, संघर्ष करने, संयुक्त होने तथा अपने-आपको संगठित करनेके ढंगको भी देखते हो; उन रचनाओंको भी जो सबल होती हैं और अपना प्रभाव डालती हैं तथा जिन्हें अधिक पूर्ण चरितार्थता भी प्राप्त हो जाती है। अब यदि तुम सचमुच उच्चतर दृष्टि प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें इस मानसिक जगत्से बाहर निकलकर उन मूल संकल्पशक्तियोंको देखना पड़ेगा जो अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके लिये ही नीचे उतरती हैं। इस अवस्थामें, तुम्हें सब ब्योरेका पता न भी लगे, पर मुख्य तथ्य, अर्थात्, तथ्यका केन्द्रीय सत्य अवश्य ही निर्विवाद, सत्य एवं पूर्णतया ठीक होता है।

ऐसे लोग भी होते हैं जिनमें उन चीजोंके बारेमें भविष्यवाणी करनेकी शक्ति है जिनका पृथ्वीपर अस्तित्व है पर जो दूर, बहुत दूर, भौतिक आंखोंसे बहुत दूर हैं — साधारणतया, इन लोगोंमें अपनी चेतनाको बढ़ाने और विस्तारित करनेकी योग्यता होती है। इनमें भौतिक दृष्टि तो होती है, पर वह जरा अधिक सूक्ष्म होती है जो विशुद्ध भौतिक इन्द्रियसे अधिक सूक्ष्म इन्द्रियपर निर्भर करती है (इसे इस अंगकी जीवन-शक्ति भी कहा जा सकता है)। और तब व्यक्ति इस चेतनाको विस्तारित करके तथा देखनेका संकल्प करके भली-भांति देख सकता है, वह वस्तुओंको देखता है — वे पहलेसे ही वस्तुतः वहां होती हैं, केवल वे हमारी

सामान्य दृष्टिके क्षेत्रमें नहीं होतीं। जिन लोगोंमें यह क्षमता होती है, और जो लोग वही कहते हैं जो कुछ देखते हैं, अर्थात्, जो सच्चे होते हैं, गप्पें नहीं हांकते, वे पूर्णतया यथार्थ और ठीक ढंगसे देखते हैं।

मूलतया तो, इन भविष्यद्रष्टाओं या भविष्यवक्ताओंमें एक बड़ी बात होनी चाहिये और वह है उनकी पूर्ण सच्चाई। किन्तु दुर्भाग्यसे, लोगोंकी उत्सुकता, उनके आग्रह और दबावके कारण — जिसका बहुत कम लोग सामना कर सकते हैं — होता यह है कि यदि किसी वस्तुको वे यथार्थ और निश्चित रूपमें नहीं देखते तो उनकी आन्तरिक कल्पना-शक्ति जो प्रायः ही उनकी इच्छाके बिना भी वहां उपस्थित हो जाती है, किसी छोटे तत्त्वको वहां जोड़ देती है जिसकी कमी थी। यही चीज भविष्यवाणियों-में त्रुटियां पैदा करती है। बहुत कम लोगोंमें यह कहनेका साहस होता है : "ओह, नहीं, यह मैं नहीं जानता, मुझे इसका पता नहीं है" — इतना ही नहीं, उनमें अपने-आपसे भी यह कह सकनेका साहस नहीं होता। और तब जरा-सी कल्पना-शक्तिका प्रयोग कर, जो प्रायः अवचेतन रूपमें ही कार्य करती है, वे बोधको, सूचनाको पूरा कर देते हैं — तब कुछ भी हो सकता है। बहुत कम इसका प्रतिरोध कर सकते हैं। मैं बहुत, बहुत-से ऐसे सिद्ध पुरुषोंको जानती थी, मैं इस अद्‌भुत प्रतिभासे संपन्न बहुत-से लोगोंको जानती थी; पर उनमें ऐसे बहुत कम थे जो ठीक वहीं रुक जाना जानते थे जहां उनका ज्ञान समाप्त होता है। तो हां, जब ब्योरे-का प्रश्न उठता है, वे कुछ जोड़ देते हैं। यही चीज इन शक्तियोंको एक संदिग्धताका गुण प्रदान कर देती है। व्यक्तिको सचमुचमें सन्त होना चाहिये — एक महान् सन्त, एक महान् ऋषि — और पूर्णतथा स्वतंत्र होना चाहिये, उसे लोगोंके प्रभावमें किसी प्रकार भी नहीं आना चाहिये (स्वभावतः ही मैं यहां उन लोगोंकी बात नहीं कर रही जो दुनियामें यश और नाम चाहते हैं, क्योंकि, उस अवस्थामें वे सबसे स्थूल जालोंमें जा फंसते हैं)। फिर भी, यदि तुम सद्‌भावनावश लोगोंको सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करना चाहते हो, उनकी सहायता करना चाहते हो, तो यही वस्तुओंको विकृत करनेके लिये काफी है।

> जब सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌में घटनाएं तैयार हो जाती हैं और हमें इसे जाननेकी दृष्टि भी प्राप्त हो जाती है तो क्या वस्तुओंको बदलनेका समय निकल जाता है? या तब भी व्यक्ति उनपर क्रिया कर सकता है?

मैं यहां एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण देती हूं। एक बार एक दैनिक पत्र 'ल मातें' (Le Matin) में (बहुत समय पहले जब कि तुम बहुत छोटे-से होगे) रोज एक छोटा-सा स्केच निकलता था जिसमें एक लड़का किसी वस्तुकी ओर उंगलीसे संकेत करता था (वह साईस अथवा होटलके लड़केके वेशमें होता था), वह हमेशा तारीख दिखाता था या मुझे नहीं मालूम क्या दिखाता था — वह एक छोटा-सा स्केच होता था। वस्तुतः जिस व्यक्तिसे यह कहानी सम्बन्धित है वह एक यात्री था और एक बड़े होटलमें ठहरा था, किस शहरमें यह मुझे याद नहीं। हां, तो एक रात या सवेरे, बहुत सवेरे उसे एक स्वप्न आया। उसने देखा कि यह लड़का, यह साईस उसकी मुर्दागाड़ीकी ओर संकेत कर रहा है (जिसमें मृत व्यक्ति यूरोपमें कब्रिस्तानतक ले जाये जाते हैं), और उसे उसके अन्दर बैठनेके लिये कह रहा है। उसने यह देखा और फिर प्रातःकाल जब वह तैयार हुआ और अपने कमरेसे बाहर निकला जो कि बहुत ऊंची मंजिलपर था, तो उसने देखा वहां वही लड़का, उसी वेशमें, उसे नीचे जानेके लिये लिफ्टमें आनेका संकेत दे रहा है। यह देखकर उसे एक धक्का-सा लगा। उसने मना कर दिया और वह बोला: "न धन्यवाद!" वह लिफ्ट बीचमें ही गिरा और टूट गया और जितने आदमी उसके अन्दर थे वे सब मर गये।

इस व्यक्तिने मुझे स्वयं कहा था कि इसके बादसे वह स्वप्नोंमें विश्वास करने लगा!

यह एक पूर्वबोध था। उसने उस लड़केको देखा, किन्तु लड़केने लिफ्टकी जगह उसे मुर्दागाड़ी दिखायी। और जब उसने स्केचके अनुसार उसी लड़के और उसी संकेतको देखा, तो उसने कह दिया: "न, धन्यवाद। मैं पैदल ही नीचे उतरूंगा।" और वह लिफ्ट (जो जलशक्तिसे चलता था) रास्तेमें ही टूटकर ढेर हो गया। यह सब ऊपर ही हुआ, वह वहीं चूर-चूर हो गया।

मैं इसकी व्याख्या यों करती हूं कि किसी सत्ताने उसे पूर्व चेतावनी दे दी थी; उस होटलके लड़केकी प्रतिमूर्ति यह सोचनेको उकसाती है कि वहां बुद्धिने, चेतनाने हस्तक्षेप किया था, यह उसकी अवचेतना नहीं थी, अथवा यह भी हो सकता है कि उसकी अवचेतनाने सूक्ष्म-भौतिक जगत्में यह बात जान या देख ली थी कि आगे क्या होनेवाला है। किन्तु उसकी अवचेतनाने ऐसी प्रतिमूर्ति क्यों गढ़ी? मुझे पता नहीं। शायद अवचेतनाकी कोई चीज इसके बारेमें जानती थी, क्योंकि यह बात पहलेसे वहां, सूक्ष्म-भौतिक जगत्में मौजूद थी। यह दुर्घटना अपने घटित होनेके पहले ही वहां थी — यह दुर्घटनाका नियम है।

स्पष्ट ही, प्रत्येक दशामें, सदा ही, कभी कुछ घंटोंका (बस यही अधिक-से-अधिक है), तो कभी कुछ सेकंडका फर्क होता है। और अधिकतर तो वस्तुएं तुम्हें बता देती हैं कि वे वहां उपस्थित हैं, और तब उन्हें तुम्हारी चेतनाके साथ सम्बन्धमें आनेमें कभी कुछ मिनट लगते हैं तो कभी कुछ सैकंड। मैं लगातार, लगातार यह जानती हूं कि आगे क्या होनेवाला है, उन वस्तुओंके बारेमें भी जिनमें मुझे कोई रुचि नहीं है। पहलेसे वस्तुओंके बारेमें जाननेका कुछ विशेष प्रयोजन नहीं है, क्योंकि इससे कुछ बदलता नहीं। किन्तु इनका अस्तित्व है, ये तुम्हारे चारों ओर मौजूद हैं — यदि तुम्हारी चेतना काफी विस्तृत है, तुम यह सब जान जाते हो, उदाहरणार्थ, अमुक व्यक्ति कोई वस्तु लायगा, ऐसे और भी उदाहरण हैं। और प्रतिदिन ऐसा होता है, या फिर अमुक आदमी आनेवाला है। इसका कारण यह है कि हमारी चेतना विस्तृत होकर चीजोंके साथ संपर्क प्राप्त कर लेती है।

किन्तु उस अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्वसूचना देती है। क्योंकि वह वस्तु तो वहां पहलेसे मौजूद होती है, केवल उसे हमारी इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क स्थापित करनेमें कुछ समय लगता है क्योंकि वहां कोई ऐसा दरवाजा या दीवार या कोई और चीज है जो देखनेसे रोकती है।

किन्तु मुझे कई बार ऐसे अनुभव हुए हैं। उदाहरणार्थ : मैं एक बार पर्वतीय प्रदेशमें घूम रही थी, मैं एक ऐसे रास्तेपर चल रही थी जहां केवल एक ही आदमीके चलने लायक स्थान था — एक ओर ऊंचा पहाड़ तो दूसरी ओर एक सीधी चट्टान। मेरे पीछे तीन बच्चे थे और उनके पीछे एक अन्य व्यक्ति था। मैं सबसे आगे थी। मार्ग चट्टानोंमेंसे हो-कर जा रहा था और वह किधर जा रहा है यह देखना संभव नहीं था (साथ ही वह बड़ा संकटपूर्ण भी था, यदि पैर फिसल जाय, तो आदमी सीधा खन्दकमें जा गिरे)। मैं सबके आगे थी, अचानक ही मैंने देखा, इन आंखोंसे नहीं, दूसरी आंखोंसे (यद्यपि मैं बड़े ध्यानसे अपने पैरोंकी ओर देख रही थी), मैंने वहां, चट्टानके दूसरे सिरेपर एक सांप देखा। मैंने धीरे-से एक पग आगे बढ़ाया और सचमुच ही दूसरी ओर एक सांप था। इससे मैं आश्चर्यके पहले धक्केसे बच गयी क्योंकि मैंने उसे पहले-से ही देख लिया था और सावधानीसे आगे बढ़ी थी। और क्योंकि मुझे यह धक्का नहीं लगा, मैं बच्चोंको भी बिना आघात पहुंचाये यह बता सकी : "ठहरो, चुप रहो, हिलो मत।" यदि यह आघात लगता तो कुछ भी हो सकता था। सांपने शोर सुन लिया था। वह कुंडली मारकर

अपने बिलके आगे अपने बचावके लिये तैयार बैठा था, उसका सिर झूम रहा था — वह एक बड़ा विषैला सांप था। यह घटना फ्रांसमें घटी थी। उस दिन कुछ नहीं हुआ। पर यदि कुछ गड़बड़ या हो-हल्ला होता तो पता नहीं क्या कुछ हो जाता।

इस प्रकारकी बातें मेरे साथ बहुत, बहुत बार हो चुकी हैं (सांपके सम्बन्धमें ऐसा मेरे साथ चार बार हो चुका है)। एक बार, रात्रिका समय था, ऐसा यहीं, अरियन कुप्पम् नामक एक मछुओंके गांवमें हुआ था। यह घटना नदीके पास हुई, ठीक उस स्थानपर जहां वह समुद्रमें गिरती है। रात्रिका समय था। सूर्यास्त शीघ्र होनेसे बहुत जल्दी रात हो गयी थी। हम सड़कपर चल रहे थे और ठीक उस समय जब कि मैं अपना पैर रखने ही वाली थी — बल्कि मैंने पैर उठा लिया था और उसे नीचे रखने ही वाली थी — मैंने अपने कानमें एक स्पष्ट आवाज सुनी: "सावधान"! हालांकि उस समय कोई भी बोला नहीं था। तब मैंने सिर उठाया और ठीक उस समय जब कि मेरा पैर जमीनको छूने वाला था मैंने एक बड़ा काला नाग देखा, मैं उसके ऊपर बड़े आरामसे पैर रख सकती थी — ये ऐसे जीव हैं जो इसे पसन्द नहीं करते। वह सरककर नदी पार कर गया। मेरे बच्चे, कितना सुन्दर था वह! उसका फन फैला था, सिर ऊंचा किये राजसी ढंगसे वह नदी पार कर गया। यह सब बाह्य रूपसे हुआ। स्पष्ट ही उस दिन मुझे अपनी अशिष्टताका दण्ड मिल गया होता।

ऐसी सैकड़ों बातें मेरे साथ हो चुकी हैं, ठीक एक सेकण्ड पहले, उससे जल्दी नहीं, मुझे सूचना मिल जाती थी, और बहुत भिन्न परिस्थितियोंमें। एक बार पेरिसमें मैं सैंट मिशल बुलवार (Boulaward) को पार कर रही थी (यह पिछले सप्ताहोंकी बात थी; मैंने यह निश्चय कर दिया था कि इतने महीनोंमें मुझे अन्तरात्म-सत्ताके साथ, आन्तरिक भागवत सत्ताके साथ संयुक्त हो जाना है और मैं केवल उसीकी बात सोच रही थी, मेरा इसके अतिरिक्त और किसी चीजसे कोई सरोकार न था)। मैं उस समय लक्समबर्गके पास रहती थी और शामको रोज लक्समबर्ग घूमनेके लिये जाती थी, पर मैं सदा अन्तर्मुख ही रहती थी। वहां एक चौराहा-सा था और अन्तर्मुख रहते हुए पार करनेके उपयुक्त वह स्थान नहीं था, यह बहुत बुद्धिसंगत भी नहीं था। इस प्रकार एक दिन जब मैं उसी अवस्थामें चल रही थी, अचानक मुझे एक धक्का-सा लगा, मानों किसीने मेरे ऊपर चोट की हो। मैं स्वभावतया पीछेकी ओर कूदी और ज्यों ही मैं पीछे कूदी एक ट्रामकार वहांसे निकल गयी — इस ट्रामकारकी

उपस्थितिको मैंने एक हाथकी दूरीसे अनुभव कर लिया था। इसने मेरे घेरेको, मेरे सुरक्षाके घेरेको छू लिया था (वह उस समय बहुत सशक्त था, वह गुह्य शक्तिसे भरपूर था, और मैं उस शक्तिको रखना जानती थी), सुरक्षाके इस ज्योतिमण्डलको उसका स्पर्श प्राप्त हो गया था और उसने सचमुच मुझे पीछेकी ओर फेंक दिया, मानों मुझे कोई भौतिक आघात लगा हो। साथ ही मुझे चालककी गालियां भी सुननी पड़ीं, मैं पीछेकी ओर कूदी और ट्रामकार ऐन समयपर निकल गयी।

मुझे अधिक याद नहीं पर तो भी ऐसे बीसियों प्रसंग मैं तुम्हें सुना सकती हूं।

इसके कारण बहुत विभिन्न हो सकते हैं। प्रायः तो ऐसा होता था कि कोई मुझे सूचना दे देता था: एक छोटी-सी सत्ता, कोई प्राणी। और कभी-कभी यह सुरक्षाका घेरा ही रक्षा करता था, सब प्रकारकी वस्तुओंसे। दूसरे शब्दोंमें, जीवन केवल भौतिक शरीरतक ही सीमित नहीं था — ऐसा होना सुविधाजनक था, अच्छा था। यह आवश्यक भी है, यह तुम्हारी योग्यताओंको बढ़ाता है। यही बात उस समय मुझे एक व्यक्तिने कही थी जो मुझे गुह्य विद्या सिखाता था: "तुम अपनी इंद्रियोंसे, जो बड़ी उपयोगी वस्तुएं हैं, काम नहीं लेतीं, **अति सामान्य जीवनके लिये भी नहीं**।" यह सच है, बिलकुल सच है। जितना कि हम सामान्यतया जानते हैं उससे अनंतगुना अधिक हम अपने इंद्रियज्ञानका उपयोग करके जान सकते हैं, केवल मानसिक दृष्टिकोणसे ही नहीं, प्राणिक और भौतिक दृष्टिकोणसे भी।

किंतु इसकी विधि क्या है?

ओह! विधि बड़ी सरल है। इसके लिये कुछ अभ्यास हैं। यह उसपर निर्भर करता है जो व्यक्ति करना चाहता हो।

यह कई बातोंपर अवलंबित है, प्रत्येक वस्तुकी अपनी विधि होती है। पहली विधि है — सबसे पहले इसे चाहना, अर्थात्, इसके लिये निश्चय करना। तब तुम्हें इन इंद्रियों तथा इनके कार्य करनेके ढंगके विषयमें बताया जायगा — एक लंबा कार्य है। तुम एक या अधिक इंद्रियोंको लो, या उसे लो जिससे तुम अधिक सुगमताके साथ आरंभ कर सकते हो और तब अपना निश्चय बना लो और नियमोंका पालन करो। ये भी उसी प्रकारके व्यायाम हैं जिन्हें तुम अपनी मांसपेशियोंके विकासके लिये करते हो। तुम इस प्रकार अपने अंदर संकल्प-शक्ति भी पैदा कर सकते हो।

किंतु अधिक सूक्ष्म वस्तुओंके लिये विधि यह है कि जो कुछ व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है उसकी यथार्थ प्रतिमूर्ति गढ़ ले, उसके अनुरूप स्पंदनोंका संपर्क प्राप्त कर ले और तब एकाग्र होकर अभ्यास करे — ये अभ्यास होंगे किसी वस्तुके पार देखना या किसी आवाजके पार सुनना[1], या दूरीसे देख लेना। उदाहरणार्थ, एक बार मैं बहुत समयतक, कई महीनों बीमार होकर बिस्तरमें ही रही और बहुत उकता गयी — मैं कुछ देखना चाहती थी। मैं एक कमरेमें थी जिसके दूसरी ओर एक और छोटा-सा कमरा था। उस छोटे कमरेके अंतमें एक तालाब जैसा था जो कि बगीचेके बीचमें एक जीनेमें बदल गया; यह जीना किसी बहुत बड़ी और सुन्दर शिल्पशालामें जाता था जो बगीचेके बीचोंबीच बनी थी। क्योंकि मैं कमरेमें लेटे-लेटे तंग आ गयी थी, मैं यह देखना चाहती थी कि उस शिल्पशालामें क्या हो रहा है। फिर मैंने पूर्णतया शांत होकर अपनी आंखें बंद कर लीं और अपनी चेतनाको थोड़ा-थोड़ा करके, थोड़ा-थोड़ा करके बाहरकी ओर भेजना आरंभ किया। रोज-रोज, एक निश्चित समयपर, नियमसे मैं यह अभ्यास करने लगी। पहले तो तुम अपनी कल्पनाका प्रयोग करते हो, पर पीछे वह एक तथ्य बन जाता है। कुछ समयके बाद, मुझे भौतिक रूपसे यह अनुभव होने लगा कि मेरी दृष्टिका स्थानांतर हो रहा है: मैं उसका अनुसरण करती रही और तब मैं वहां, नीचेकी वस्तुओंको देखने लगी जिनके बारेमें मैं कुछ भी नहीं जानती थी। बादमें मैंने जांचकर देखा। शामको मैं पूछा करती थी: "क्या यह ऐसा है, क्या वह वैसा था? क्या वह वस्तु ऐसी थी ?"

किंतु इनमेंसे हर चीजके लिये तुम्हें महीनों धैर्य और एक प्रकारके आग्रहके साथ कार्य करना पड़ेगा। एक-एक इंद्रियको, आंख, कानको लो, यहांतक कि तुम स्वाद, सुगंध और स्पर्शके सूक्ष्म ज्ञानको प्राप्त करनेमें भी सफल हो सकते हो।

---

[1]माताजीने इसे अधिक सुस्पष्ट करके यों कहा: "आवाजके पीछेसे सुन लेना, किसी भौतिक तथ्यके, किसी शब्द, आवाज, उदाहरणार्थ, संगीत-के पीछे स्थित सूक्ष्म सत्ताके संपर्कमें आना। व्यक्ति एकाग्र होकर इन चीजोंके पीछेकी आवाज सुन लेता है। ऐसा तब होता है जब वह अपने-आपको उस प्राणिक सत्ताके संपर्कमें ले आता है जो बाह्य प्रतीतियों-के पीछे होती है (यह मानसिक सत्ता भी हो सकती है, किंतु साधारण-तया जो सत्ता भौतिक आवाजके पीछे होती है वह प्राणिक सत्ता ही होती है)।"

मानसिक दृष्टिकोणसे यह अधिक सरल है, क्योंकि वहां तुम्हें एकाग्र होनेका अभ्यास है। अनुमानोंके द्वारा किसी समस्याका हल निकालनेके स्थानपर जब तुम सोच-विचारकर उसका समाधान ढूंढ़ना चाहते हो तो तुम सब कुछ बंद करके एकाग्र, केवल एकाग्र होनेकी कोशिश करते हो, समस्याके केंद्रको तीव्र बनाते हो — तुम सब कुछ बंद करके प्रतीक्षा करते हो, जबतक कि एकाग्रताकी शक्तिके फलस्वरूप तुम्हें उत्तर नहीं मिल जाता। पर इसमें भी थोड़ा समय लगता है। किंतु यदि तुम अच्छे विद्यार्थी हो तो तुम्हें इस बातको करनेका अभ्यास होगा, और यह बहुत कठिन नहीं है।

भौतिक इन्द्रियोंको एक प्रकारसे विस्तारित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रेड इण्डियन लोगोंकी सुनने और सूंघनेकी शक्ति हमारी इस प्रकारकी शक्तिसे कहीं अधिक होती है — और कुत्तोंकी ! मैं एक रेड इण्यिनको जानती थी (जब मैं आठ या दस वर्षकी बच्ची ही थी, वह मेरा मित्र था, वह बफेलोबिल नामक व्यक्तिके साथ आया था। वह हिपोड्रोम (Hippodrome) सरकसका समय था। यह बहुत दिनोंकी बात है, हां, मैं उस समय आठ वर्षकी थी)। वह इतना होशियार था कि जमीनके साथ अपना कान लगाकर और इस प्रकार स्पंदनोंकी तीव्रता पहचानकर दूरीको जान लेता था। उसे यह पता लग जाता था कि किस दूरीसे आदमीके चलनेकी आवाज आ रही है। इसके बाद सभी बच्चे कहने लगे : "मैं भी जानना चाहता हूं।" और तब तुम प्रयत्न करते हो और इसी प्रकार तुम अपने-आपको तैयार कर लेते हो। तुम सोचते हो तुम खेल रहे हो पर इसमें तुम आगेके लिये तैयारी कर रहे होते हो।

२६-२-६२

७३ — जब प्रज्ञा आती है तो उसका सबसे पहला पाठ होता है : "ज्ञान जैसी कोई चीज नहीं है; हैं केवल अनंत परमदेवकी झांकियां।"

यह ठीक है।

प्रश्नकी आवश्यकता नहीं है।

७४ — व्यावहारिक ज्ञान एक दूसरी ही वस्तु है; वह सच्चा

और उपयोगी होता है, परंतु वह कभी पूर्ण नहीं होता। अतएव उसे व्यवस्थित और विधिबद्ध करना आवश्यक पर नाश-कारी होता है।

७५ — व्यवस्थित तो हमें करना ही होगा, पर व्यवस्था बनाते और मानते समय भी हमें सर्वदा इस सत्यको दृढ़ता-पूर्वक पकड़े रहना होगा कि सभी व्यवस्थाएं अपने स्वभावमें क्षणस्थायी और अपूर्ण होती हैं।

मैंने यह बहुत बार देखा है। एक ऐसा भी समय था जब मैं सोचती थी कि यदि व्यक्ति भौतिक प्रकृतिकी संपूर्ण क्रियाके, जैसा कि हम उसे 'अज्ञान'के जगत्में देखते हैं, समग्र, पूर्ण और सर्वांगीण ज्ञानको प्राप्त कर ले, तो शायद इससे हम वस्तुओंके सत्यको फिरसे प्राप्त कर सकें या उस-तक नये सिरेसे पहुंच सकें। पर अपने पिछले अनुभव[1]के बाद मैं ऐसा नहीं सोच सकती।

मुझे पता नहीं, लोग मुझे समझ पा रहे हैं या नहीं . . .। एक समयतक, एक बहुत लंबे समयतक, मैं यह सोचती रही कि विज्ञान — यदि वह पूर्णतया अपनी संभाव्यताओंके अन्ततक पहुंच जाय (यदि यह संभव हो) तो सच्चे 'ज्ञान'तक पहुंच जायगा। उदाहरणार्थ, 'जड़-पदार्थ'की रचनाका अध्ययन करते हुए तथा खोजकी प्रवृत्तिमें आगे बढ़ते-बढ़ते एक ऐसा क्षण आ सकता है जब दोनों मिल जायेंगे। उस समय जब मुझे सनातन सत्यकी चेतनासे वैयक्तिक जगत्की चेतनातकके मार्गकी अनुभूति हुई, यह मुझे असंभव प्रतीत होता था, और यदि तुम मुझसे अब पूछो तो मेरा विश्वास है कि दोनों वस्तुएं, — विज्ञानको अपनी अंतिम सीमातक पहुंचाकर दोनोंके संयोगकी संभावना और भौतिक जगत्के साथ किसी सच्चे चेतन सम्बन्धकी असंभवता — दोनों समान रूपसे अयथार्थ हैं। एक वस्तु और भी है।

और इन दिनों यह पूरी समस्या अधिकाधिक मेरे सामने आ रही है, मानों इसे मैंने पहले कभी देखा ही नहीं।

शायद ये दो ऐसे मार्ग हैं जो तीसरे बिन्दुकी ओर जा रहे हैं, और इस क्षण मैं इसी तीसरे बिन्दुका . . . ठीक अध्ययन नहीं, खोज कर रही हूं, —

---

[1]यह उस विशिष्ट यौगिक 'अनुभूति'से सम्बन्धित है जो श्रीमांको १३ अप्रैल, १९६२ को हुई थी।

ये दो मार्ग एक तीसरे बिन्दुपर मिलेंगे, वही एक 'सच्ची वस्तु' होगी।

किन्तु यह निश्चित है कि यदि अपनी अंतिम सीमातक पहुंचाये गये वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक ज्ञानके लिये पूर्णतया समग्र और संपूर्ण बनाना संभव हो तो वह, किसी भी हालतमें, दहलीजतक ले जाता है। श्रीअरविन्द यहीं कहते हैं। वे केवल यह कहते हैं कि यह घातक है, क्योंकि जो लोग इस ज्ञानपर विश्वास करते हैं वे इसे एक पूर्ण सत्य मानते हैं और इसी बातने उनके लिये दूसरा मार्ग बन्द कर दिया है। इसी कारण यह घातक हो जाता है।

किन्तु अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर मैं कह सकती हूं कि जो लोग एक **अनन्य** आध्यात्मिक मार्गपर, अर्थात्, केवल आन्तरिक अनुभवके मार्गपर ही विश्वास करते हैं, यदि वे उसे अनन्य मानते हैं, तो यह भी घातक हो जाता है। कारण यह उनके आगे केवल **एक** पक्ष, समग्र नहीं, समग्रका **एक** सत्य रखता है। दूसरा पक्ष भी मुझे अनिवार्य प्रतीत होता है। जब मैं अत्यन्त समग्र रूपमें, परम उपलब्धिमें संलग्न थी, तो मुझे यह पूर्णतया विवादरहित लगा कि दूसरी उपलब्धि — जो कि बाह्य एवं भ्रामक है — एक ऐसी वस्तुकी विकृति (शायद आकस्मिक) है जो दूसरी वस्तुके **समान ही** सत्य थी।

हम इसी "दूसरी वस्तु"की खोज कर रहे हैं। शायद केवल खोज ही नहीं कर रहे, उसका **निर्माण** भी कर रहे हैं।

हमारा इस तरह उपयोग हो रहा है कि हम उसकी अभिव्यक्तिमें भाग ले सकें।

यह अभिव्यक्ति उस वस्तुकी है जिसके बारेमें कोई नहीं सोच सकता, क्योंकि यह अभीतक यहां विद्यमान नहीं है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो आनेवाली है।

मैं इतना ही कह सकती हूं।

(मौन)

मैं आजकल वास्तवमें चेतनाकी इसी अवस्थामें हूं, मानों मैं सनातन समस्याकी उपस्थितिमें हूं, किन्तु **एक भिन्न स्थितिमें**।

ये स्थितियां — आध्यात्मिक स्थिति और "भौतिक" स्थिति, यदि हम इन्हें ऐसे नाम दे लें, जिन्हें अनन्य माना जाता है (एकांगी और एक-मात्र, ताकि एक स्थिति सत्यकी दृष्टिसे दूसरी स्थितिके मूल्यको अस्वीकार कर देती है), काफी नहीं है, केवल इसलिये नहीं कि ये एक-दूसरीका

निषेध करती हैं, पर इसलिये भी कि दोनोंको स्वीकार और संयुक्त करके भी समस्याका समाधान नहीं होता। एक और चीज भी है — एक तीसरी चीज जो इन दोनोंका परिणाम नहीं, जिसकी अभी खोज बाकी है, शायद वह समग्र 'ज्ञान'का द्वार खोल देगी।

मैं इसी बिन्दुपर हूं।

मैं अधिक नहीं कह सकती, क्योंकि मैं ठीक इसी स्थलपर हूं।

इसमें क्रियात्मक रूपसे कैसे भाग लिया जाय ...?

यह खोज?

यह ... हां तो, तलमें सदा एक ही वस्तु है, सदा एक ही वस्तु, अर्थात् अपनी सत्ताको चरितार्थ करना, अपनी सत्ताके सर्वोच्च सत्यके चेतन संपर्कमें आना, यह चाहे **किसी** भी रूपमें, **किसी** भी ढंगसे हो — इसका महत्त्व नहीं — किंतु रास्ता यही है। हम अपने अंदर एक सत्यको लिये रहते हैं — प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर यह सत्य होता है, और इसी सत्यके साथ **उसे** संयुक्त होना चाहिये, इसी सत्यको जीना चाहिये। इस प्रकार, इस सत्यके साथ संयुक्त होने तथा इसे प्राप्त करनेके लिये जिस रास्तेका वह अनुसरण करेगा, वही वह रास्ता होगा जो उसे 'ज्ञान'के **अधिकाधिक** निकट ले जायगा। दूसरे शब्दोंमें, ये दोनों — व्यक्तिगत उपलब्धि और 'ज्ञान' — पूर्णतया संयुक्त हैं।

कौन जाने, मार्गकी यह बहुविधता ही गुप्त 'रहस्य'को प्रकट कर दे, — उस 'रहस्य'को जो द्वारको खोल देगा।

मुझे नहीं लगता कि कोई अकेला व्यक्ति (पृथ्वीकी वर्तमान अवस्थामें), कोई भी व्यक्ति, वह चाहे कितना भी महान् क्यों न हो, उसकी चेतना और उसका मूलस्रोत कितना भी सनातन क्यों न हो, अकेला, अपने-आप, यदि पूर्णतया **सच्चे** नहीं, तो एक अधिक सच्चे जगत्को बदल सकता है तथा वर्तमान सृष्टिको बदल सकता है, या उस **उच्चतर** सत्यको प्राप्त कर सकता है जो एक नया जगत् होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तियोंके एक विशेष समूह (अभीतक तो यह कालमें एक क्रमिक श्रेणी है, किन्तु शायद यह देशमें एक समूह भी हो) का होना अनिवार्य है ताकि यह 'सत्य' मूर्त रूप धारण करके अपने-आपको चरितार्थ कर सके।

व्यावहारिक रूपमें मुझे इस बातका निश्चय है।

दूसरे शब्दोंमें, कोई अवतार चाहे कितना भी महान्, कितना भी चेतन और शक्तिशाली क्यों न हो, वह बिलकुल अकेला ही पृथ्वीपर अति-

मानसिक जीवनको उपलब्ध नहीं कर सकता। कालमें या तो पंक्तिबद्ध समूह, या फिर देशमें फैला हुआ समूह, या शायद दोनों ही इस उपलब्धि-के लिये अनिवार्य हैं। मुझे इसका पूरा विश्वास है।

व्यक्ति प्रेरणा दे सकता है, रास्ता दिखा सकता है — स्वयं मार्गपर चल सकता है, अर्थात्, स्वयं उसे चरितार्थ करके मार्ग दिखा सकता है — किन्तु उसे जगत्‌में उपलब्ध नहीं कर सकता। उपलब्धि कुछ सामूहिक नियमोंका आदेश मानती है जो सनातन 'सत्ता' और अनन्त सत्ताके किसी पक्षकी अभिव्यक्ति होते हैं — स्वभावतः! 'सत्ता' वही होती है, व्यक्ति भिन्न नहीं होते, व्यक्तित्व भिन्न नहीं होते, सब कुछ एक ही 'सत्ता' है। वही 'सत्ता' अपने-आपको एक ऐसे ढंगसे व्यक्त करती है जो हमारे लिये एक समूह, एक दल, एक समाजके रूपमें अनूदित होता है।

यह लो, इसी विषयपर कोई और प्रश्न है?

> १३ अप्रैलकी अनुभूतिके बादसे आपके अंतर्दर्शनमें किस प्रकार भेद आया है?

मैं फिर कहती हूं।

बहुत लम्बे समयतक मुझे ऐसा प्रतीत होता रहा कि यदि व्यक्ति अपनी चरम सीमातक पहुंचे हुए वैज्ञानिक रास्ते और अपनी चरम सीमा-तक पहुंचे हुए आध्यात्मिक रास्ते — उसकी चरम उपलब्धि — के बीचमें एक पूर्ण ऐक्य स्थापित कर सके, यदि उन दोनोंको मिला सके तो, वह स्वभावतया उस सत्यको, उस समग्र 'सत्य'को पाकर हस्तगत कर लेगा जिसे वह ढूंढ रहा है, किन्तु यह होगा उन दोनों अनुभूतियोंके साथ — जो मुझे प्राप्त हुई थीं — बाह्य जीवनकी अनुभूति (वैश्वीकरण और निर्वैयक्तिककरणके साथ, उन समस्त यौगिक अनुभूतियोंके साथ जिन्हें व्यक्ति भौतिक शरीरमें प्राप्त कर सकता है), और 'मूलस्रोत'के साथ एक समग्र और पूर्ण ऐक्यकी अनुभूति। अब जब कि मुझे ये दो अनुभूतियां प्राप्त हो चुकी हैं और कुछ ऐसी बात हो चुकी है — जिसका मैं अभी ब्योरा नहीं दे सकती — मैं यह जानती हूं कि दोनोंका ज्ञान और दोनोंका संयोग काफी नहीं है; एक तीसरी वस्तु भी है जिसमें ये दोनों समाप्त होती हैं और इस तीसरी वस्तुका निर्माण हो रहा है, और यह अपनी चरि-तार्थताकी प्रक्रियामेंसे गुजर रही है। यही तीसरी वस्तु उस 'उपलब्धि', उस 'सत्य'की ओर ले जा सकती है जिसे हम खोज रहे हैं।

अब कुछ स्पष्ट हुआ?

मेरे मनमें कुछ और ही बात थी...। इसके बाद (१३ अप्रैलकी इस अनुभूतिके बाद), भौतिक जगत्के सम्बन्धकी दृष्टि कैसे और किस बातमें परिवर्तित हुई है?

उसकी चेतनाका एक निकट अनुमान ही यहां दिया जा सकता है।

मैं योगके द्वारा भौतिक जगत्के साथ एक ऐसे सम्बन्धतक पहुंची जो चौथे आयाम (आन्तरिक आयाम जो योगमें असंख्य हो जाते हैं) के विचारपर आधारित था और मैंने इस वृत्ति और चेतनाकी इस अवस्थाका लाभ उठाया। मैंने आन्तरिक दिशाके द्वारा तथा इन आन्तरिक दिशाओंकी चेतनाको पूर्ण बनाकर भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत्के बीचके सम्बन्धका अध्ययन किया — मुझे यह अनुभूति उस अंतिम अनुभूतिसे पहले हुई थी।

स्वभावतया, बहुत समयतक उन तीन आयामोंके बारेमें कोई प्रश्न ही नहीं उठता था — ये **पूर्णतया** भ्रान्ति और मिथ्यात्वके जगत्की वस्तुएं थीं। किन्तु अब चौथे आयामकी भावनाका प्रयोग और तत्सम्बन्धी सब वस्तुएं मुझे ऊपरी प्रतीत होती हैं। और यह चीज इतनी सबल है कि मुझे यह अब दिखायी नहीं देती। दूसरा, अर्थात्, तीन आयामोंवाला जगत्, बिलकुल अवास्तविक है। और फिर वह जगत् (यह कैसे कहा जाय?) मुझे औपचारिक प्रतीत होता है, मानों एक तरहके प्रवेशके लिये यह दूसरे स्थानपर रखनेका एक रूढ़िगत उपाय हो।

और यह कहना, अर्थात्, दूसरा जगत् और सच्ची स्थिति क्या है? ... यह समस्त बौद्धिक अवस्थाओंके इतने बाहरकी चीज है कि मैं इसे रूप दे ही नहीं सकती।

किंतु मैं जानती हूं कि एक निश्चित रूप सामने आयेगा। किंतु वह आयेगा चरितार्थ अनुभूतियोंकी श्रृंखलामें, जो मुझे अभी प्राप्त नहीं हुई हैं।

(मौन)

यह विधि जो मेरे लिये बड़ी उपयोगी और बहुत सुविधाजनक थी तथा जो मेरे योगमें सहायक थी और जिसने मुझे जड़-पदार्थपर एक अधिकार भी प्रदान किया, मुझे एक ढंग, एक मार्ग, एक प्रक्रिया प्रतीत हुई, पर यह **वह** नहीं है।

यही वह अवस्था है जिसमें मैं निवास कर रही हूं।

इससे अधिक मैं नहीं कह सकती।

२४-५-६२

७६ — यूरोप अपने व्यावहारिक और वैज्ञानिक संगठन और कार्यकुशलताके लिये अपने ऊपर गर्व करता है। मैं तबतक प्रतीक्षा कर रहा हूं जबतक उसका संगठन पूर्ण नहीं हो जाता; तब एक बच्चा ही उसका नाश कर देगा।

जब बुलेटिनमें ये सूत्र छपे थे तब आपने इस सूत्रको छोड़ देनेके लिये कहा था। यह सूत्र काफी रहस्यमय है — इसके अतिरिक्त मैं उसे अच्छी तरह समझना चाहूंगा। फिर मैं यह भी जानना चाहूंगा कि अब हम इसे प्रकाशित करें या नहीं।

उन्होंने यह कहां लिखा था?

सूत्रोंमें।

हां, लेकिन उन्होंने एक खास पुस्तक नहीं लिखी है : ये सूत्र इधर-उधरसे इकट्ठे किये गये थे।

नहीं, नहीं, बिलकुल नहीं। श्रीअरविंदके पास एक विशेष कापी थी जिसमें वे एकके-बाद-एक सूत्र लिखते जा रहे थे। और यह सूत्र दूसरोंके बीचमें ही था।

(मौनके बाद) "एक बालक"...
शुरूमें, उन्होंने, अंग्रेजीमें क्या लिखा था?

"अपने-आपपर गर्व करता है।"

अपने-आपपर गर्व करता है...
मैं, मैं कहूंगी।

लेकिन वे कहना क्या चाहते थे?

मुझे नहीं मालूम।

स्वभावतया, उसी शक्तिकी बात हो सकती है जो नष्ट हो चुकी है, क्योंकि पृथ्वीको नष्ट नहीं करते।

> हां, पृथ्वीको नष्ट नहीं किया जा सकता, लेकिन एक संस्कृतिको नष्ट किया जा सकता है।

हां।

> वे कहते हैं: "यूरोप नष्ट हो जायगा।"

हां.... लेकिन कौन-सा बच्चा?

मुझे ऐसा लगता है कि यह कुछ ऐसी बात है जो पूर्णतया सच है, एक पूर्णतया सच्ची भविष्यवाणी — लेकिन मुझे नहीं मालूम।

> आपने कहा था कि इस सूत्रको छोड़ देना ही अच्छा होगा।

लेकिन अब, इसके विपरीत मुझे यह लग रहा है कि इसे कहना आवश्यक है।

लेकिन मैं नहीं सोचती कि उसके लिये समय आ चुका है — "आ चुका है", मेरा मतलब सिद्धिके लिये; उसे कहनेका समय आ चुका है लेकिन उसे चरितार्थ करनेका नहीं।

> "बालक"...क्या बालकका मतलब 'नयी' दुनिया नहीं हो सकता — एक स्मितसे ही वह इन सबको ढहा देगा।

हां, यह संभव है — यह संभव है।

(मौन)

इसके अन्दर एक भयावह सामर्थ्य है... कोई दुर्जेय तत्त्व है। तुम कल्पना नहीं कर सकते कि इसमें कितनी शक्ति है, यह सचमुच ऐसा है मानों प्रभुने खुद कहा हो: "मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं"... मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं...।

११-१२-७१

७७ — प्रतिभा एक पद्धतिका आविष्कार करती है; सामान्य बुद्धि उसे एक सांचेमें ढालती जाती है जबतक कि कोई दूसरी नवीन प्रतिभा आकर उसे तोड़-फोड़ न दे। एक सेनाका अनुभवी सैनिकोंद्वारा परिचालित होना विपज्जनक है; क्योंकि दूसरे पक्षमें भगवान् नेपोलियनको नियुक्त कर सकते हैं।

७८ — जब ज्ञान नया होता है तो वह अजेय होता है, जब वह पुराना हो जाता है तो अपना गुण खो देता है। यह इसलिये कि भगवान् सर्वदा आगेकी ओर बढ़ते रहते हैं।

यहां श्रीअरविन्द एक ऐसे ज्ञानकी चर्चा करते हैं जो अन्तःप्रेरणा या अन्तः-प्रकाशसे प्राप्त होता है। और यह तब होता है जब कोई वस्तु अचानक नीचे उतरती है और बुद्धिको आलोकित कर देती है। अचानक, तुम्हें प्रतीत होता है कि तुम किसी विशेष वस्तुको पहली बार जान रहे हो, क्योंकि वह सीधी 'प्रकाश' और सच्चे ज्ञानके क्षेत्रसे आती है और वह सत्यकी समस्त अन्तर्जात शक्तिके साथ आती है जो तुम्हें आलोकित कर देती है। और जब वह तुम्हें प्राप्त होती है तो सचमुच ऐसा प्रतीत होता है कि इस 'प्रकाश'के आगे कोई भी चीज नहीं ठहर सकती। और यदि तुम उसे अपने अन्दर कार्य करने देनेकी सावधानी बरतो तो वह रूपां-तरका उतना कार्य कर लेती है जितना अपने क्षेत्रमें कर सकती है।

यह एक ऐसी अनुभूति है जिसे व्यक्ति प्रायः ही प्राप्त कर सकता है। जब यह आती है — पर कुछ समयके लिये, अधिक लम्बे समयके लिये नहीं — तो प्रत्येक वस्तु इस 'प्रकाश'के चारों ओर व्यवस्थित होती प्रतीत होती है। और तब, वह धीरे-धीरे बाकी चीजोंके साथ घुल-मिल जाती है। बौद्धिक ज्ञान रहता है। यह किसी-न-किसी रूपमें गठित हो जाता है, और यही बाकी रहता है, पर यह खोखला-सा लगता है। इसमें अब वह प्रेरक शक्ति नहीं रह जाती जो सत्ताकी समस्त क्रियाओंको अपना रूप दे लेती है। श्रीअरविन्दके कहनेका भाव यही है। संसार वेगसे आगे बढ़ रहा है, प्रभु सदा आगे-आगे चलते हैं और यह सब वह पिछला सिरा है जिसे वे अपने पीछे छोड़ देते हैं किन्तु इसमें तात्कालिक शक्ति या उस क्षणका महत् बल नहीं होता जिस क्षण उन्होंने इसे जगत्में प्रक्षिप्त किया था।

तुम्हें ऐसा लगता है कि यह मानों सत्यकी वर्षा हो रही है; जो लोग इसे पकड़ सकते हैं, चाहे वह एक बूंद ही क्यों न हो, उन्हें अन्तःप्रकाश मिलता है। किन्तु यदि वे एक अनोखे वेगसे आगे नहीं बढ़ते तो भगवान्

अपनी सत्यवर्षाके साथ आगे निकल जाते हैं, और उसे दुबारा पकड़नेके लिये व्यक्तिको बहुत दौड़ना पड़ता है।

श्रीअरविन्द यही कहना चाहते हैं।

> हां, किन्तु यह ज्ञान सचमुच रूपान्तरकी शक्ति प्राप्त कर सके . . .

हां, यह उच्चतर 'ज्ञान' ही है, यह वही सत्य है जो अपने-आपको अभिव्यक्त करता है, जिसे श्रीअरविन्द "सच्चा ज्ञान" कहते हैं और यही वह 'ज्ञान' है जो समस्त सृष्टिका रूपान्तर करता है। भगवान् इसे सारे समय पृथ्वीपर उंडेलते रहते हैं और यदि तुम पिछड़ नहीं जाना चाहते तो तुम्हें बहुत जल्दी करनी पड़ेगी।

पर क्या तुमने अपने मस्तिष्कमें कभी तेज रोशनीका-सा अनुभव नहीं किया है? जो यों अनूदित होता है: "ओह! हां", किसी समय तुम किसी वस्तुको बौद्धिक रूपसे जानते थे, किन्तु वह मन्द थी, वह निर्जीव थी और अब अचानक ही वह एक बहुत बड़ी शक्तिके रूपमें आती है जो चेतनाके अन्दरकी प्रत्येक वस्तुको इस 'प्रकाश'के चारों ओर व्यवस्थित कर देती है — किन्तु यह अधिक देरतक नहीं ठहरती। कभी-कभी तो यह कुछ घंटे ही ठहरती है, और कभी कुछ दिन ठहरती है, किन्तु इससे अधिक कभी नहीं, जबतक कि तुम अपनी गतिविधिमें अधिक धीमे ही न हो। और इस बीच सत्यका 'स्रोत' दूर, दूर, बहुत दूर चला जाता है . . .।

> इस सबका अर्थ है मनोवैज्ञानिक रूपान्तर, किन्तु जब 'जड़-पदार्थ' और 'शरीर'पर कार्य करना हो तो व्यक्तिको किस ज्ञानकी जरूरत होती है?

यह, मेरे बच्चे, मैं अभी, यह नहीं कह सकती, क्योंकि इसका मुझे पता नहीं है।

> क्या यह किसी अन्य प्रकारका ज्ञान है?

न, मुझे नहीं लगता।

(मौन)

शायद यह एक अन्य प्रकारकी क्रिया है, किन्तु अन्य प्रकारका ज्ञान नहीं।

(मौन)

जो वस्तु 'जड़-पदार्थ'का रूपान्तर करती है उसके बारेमें तुम केवल तभी बात कर सकते हो जब 'जड़-पदार्थ' कम-से-कम थोड़ा-सा रूपान्तरित हो जाय, अर्थात्, जब रूपान्तर आरंभ हो जाय। तभी इस प्रक्रियाके विषयमें बात की जा सकती है। किन्तु अभी...

(मौन)

किन्तु सत्तामें कैसा भी, किसी भी स्तरपर रूपान्तर क्यों न हो, उसका निम्न स्तरोंपर सदा ही प्रभाव पड़ता है। एक क्रिया सदा होती है; जो चीजें शुद्ध रूपमें बौद्धिक प्रतीत होती हैं उनकी भी, निश्चय ही, मस्तिष्ककी रचनापर प्रतिक्रिया होती है।

ऐसे अन्तःप्रकाश केवल नीरव मनमें ही हो सकते हैं — कम-से-कम अचंचल मनमें, एक ऐसे मनमें जो सर्वथा शान्त और अविचल हो, नहीं तो वे आते ही नहीं। या फिर यदि वे आते भी हैं तो व्यक्ति अपने शोरमें उन्हें जान नहीं पाता। स्वभावतया यह अनुभूति शान्ति, नीरवता और ग्रहणशीलताको अधिकाधिक स्थापित करनेमें सहायता पहुंचाती है। एक ऐसी वस्तुका प्रभाव, जो बहुत अचल तो हो पर बन्द नहीं, अचल हो पर खुली हुई, अचल हो पर ग्रहणशील भी, यह एक ऐसा प्रभाव है जो ठीक बार-बार आनेवाली ऐसी अनुभूतियोंद्वारा ही स्थिर होता है। उस नीरवतामें जो मृत, मन्द और अनुत्तरशील है और एक प्रशान्त मनकी ग्रहणशील नीरवतामें एक अन्तर है, इसमें बहुत बड़ा अन्तर है। किन्तु यह उन्हीं अनुभूतियोंका परिणाम है। हम जो भी उन्नति करते हैं वह सदा, बिलकुल स्वाभाविक रूपमें, ऊपरसे आनेवाले सत्योंका ही परिणाम होती है।

इसका एक प्रभाव होता है, ऐसी समस्त वस्तुओंका शरीरके कार्यपर — अंगोंके कार्यपर, मस्तिष्कके कार्यपर, स्नायुओं आदिके कार्यपर एक प्रभाव पड़ता है। यह निश्चय ही बाह्य आकृतिपर प्रभाव पड़नेसे पहले, बहुत पहले हो जायगा।

वास्तवमें, जब लोग रूपान्तरकी बात करते हैं, तो वे विशेषकर एक रंगीन रूपान्तरकी बात किया करते हैं, है न? एक सुन्दर बाह्याकृति! प्रकाशमयी, कोमल, नमनीय, इच्छानुसार परिवर्तित होनेवाली। किन्तु

यह, अर्थात्, अंगोंका रूपान्तर जो कदाचित् ही सुन्दर होता है, इसके बारेमें व्यक्ति अधिक नहीं सोचता! पर फिर भी यही रूपान्तर सबसे पहले होगा, बाह्य आकृतिके रूपान्तरसे बहुत पहले।

श्रीअरविन्दने अंगोंका स्थान चक्रों[1]द्वारा लिये जानेकी बात कही थी।

हां, हां, उन्होंने कहा था तीन सौ वर्ष!

(श्रीमाताजी हंसती हैं)

(मौन)

कारण, सोचना काफी है, और तुम सरलतासे समझ जाओगे। यदि बात केवल एक वस्तुको रोककर दूसरीको आरंभ करनेकी होती, तो यह काफी तेजीसे किया जा सकता था। किन्तु शरीरको जीवित रखा जाय ताकि वह अपना कार्य जारी रखे और **साथ ही** उसमें एक नयी क्रिया भी आरंभ हो जाय जो उसे जीवित रहने दे और रूपान्तर भी हो — इन संयोगोंको चरितार्थ करना बड़ा कठिन है। मैं इसे बहुत अच्छी तरह समझती हूं, बहुत अच्छी तरह . . . उस अनन्त कालको, जिसकी इस कार्यमें आवश्यकता पड़ेगी, ताकि बिना किसी संकटके यह कार्य हो जाय।

विशेषतया जब हम हृदयकी बातपर आते हैं, हृदयका स्थान 'शक्ति'का केन्द्र, एक अत्यधिक महती सक्रिय शक्ति लेगी! (श्रीमाताजी हंसती हैं) ठीक किस क्षण रक्त-संचार बन्द हो जायगा और उसका स्थान शक्ति ले लेगी?

यह कठिन है!

(मौन)

सामान्य जीवनमें तुम किसी वस्तुके बारेमें पहले सोचते हो और तब उसे करते हो, किन्तु यहां बिलकुल उलटी बात है। इस जीवनमें तुम्हें कार्य पहले करना होगा और समझना होगा पीछे, वह भी बहुत पीछे। पहले तुम्हें उसे करना होगा, बिना सोचे करना होगा। यदि तुम सोचोगे, तो कुछ भी अच्छा न कर सकोगे, दूसरे शब्दोंमें, तुम पुराने ढर्रेपर लौट पड़ोगे।

६-१०-६२

---

[1]चक्र, चेतनाके केन्द्र।

७९ — भगवान् अनन्त दिव्य संभावनाएं हैं। इसीलिये 'सत्य' कभी चुपचाप नहीं बैठता, और इसीलिये उसकी संतानकी भूल-भ्रांति भी न्यायसंगत है।

८० — कुछ भक्तोंकी बातें सुनकर हम अनुमान कर सकते हैं कि भगवान् कभी हंसते नहीं; हेन[1] सत्यके अधिक समीप था जब उसने 'उनके' अंदर दिव्य अरिस्टोफेन[2]को पाया।

हां, इससे उनका यह अभिप्राय है कि जो वस्तु एक क्षण सत्य है वह दूसरे क्षण सत्य नहीं रहती। और यही वस्तु 'भ्रान्ति'की सन्तानका औचित्य सिद्ध करती है।

शायद उनका मतलब यह है कि भ्रान्ति है ही नहीं।

हां, यह वही बात है, एक ही बात कहनेका यह दूसरा ढंग है। कहनेका आशय यह है कि जिसे हम अब भ्रान्ति कहते हैं वह किसी अन्य समय सत्य था।

भ्रान्ति कालमें एक विचार है।

ऐसी वस्तुएं भी हैं जो सचमुचमें भ्रान्तियां प्रतीत होती हैं।

अभीके लिये।

ठीक यही बात है। यह एक आभास है : हमारे समस्त मूल्यांकन तात्कालिक होते हैं। इस क्षण वे एक प्रकारके हैं; दूसरे क्षण वैसे नहीं रहते, हमारे लिये भ्रान्तियां बन जाते हैं, क्योंकि हम चीजोंको एकके-बाद-एक देखते हैं। किन्तु भगवान्को वे ऐसी नहीं प्रतीत होतीं, क्योंकि सब कुछ उनमें है।

अब जरा एक क्षणके लिये यह कल्पना करनेकी कोशिश करो कि तुम भगवान् हो! सब वस्तुएं तुम्हारे अन्दर हैं। केवल दिलबहलावके लिये तुम उन्हें एक क्रम-विशेषमें बाहर लाते हो। किन्तु तुम्हारे लिये, तुम्हारी

---

[1] जर्मनीके एक कठोर व्यंग करनेवाले आलोचक और कवि।

[2] यूनानके प्रसिद्ध नाटककार और कवि।

चेतनामें एक ही समय सब कुछ है। समय है ही नहीं, न भूत है न वर्तमान और न भविष्य — सब इकट्ठे हैं। और सभी संभव संयोग भी हैं। वे अपनी खुशीके लिये कभी एक वस्तु बाहर लाते हैं और कभी दूसरी, और ऐसे ही चलता रहता है। और तब वे बेचारे जो नीचे हैं और केवल एक छोटा-सा अंश ही देखते हैं (वे केवल उतना ही देख सकते हैं), वे कहते हैं: "ओह यह, यह तो एक भ्रान्ति है।" यह भ्रान्ति कैसे हुई? केवल इसलिये कि वे केवल उतना-सा ही देखते हैं।

यह स्पष्ट है, है न, यह समझना सरल है। भ्रान्तिका यह विचार देश और काल-सम्बन्धी विचार है।

यह तो ऐसे हुआ जैसे कोई वस्तु एक ही समय **हो भी सकती है** और **नहीं भी हो सकती**। और फिर भी यह सत्य है, एक वस्तु है भी और नहीं भी है। कालका विचार ही भ्रान्तिका विचार लाता है — देश और काल।

इसका क्या अर्थ हुआ कि एक वस्तु एक ही समय है भी और नहीं भी है, यह कैसे हो सकता है?

वह है और साथ ही उसकी विरोधी वस्तु भी है। इसलिये हमारे लिये, एक ही समय 'हां' और 'न' नहीं हो सकते। किन्तु भगवान्‌के लिये **हमेशा** हां और ना एक साथ होते हैं।

यह हमारी देशकी धारणाके अनुसार है। हम कहते हैं: "मैं वहां हूं इसलिये तुम वहां नहीं हो सकते।" किन्तु मैं वहां हूं, तुम वहां हो, सब वहां हैं। (माताजी हंसती हैं) इस बातको समझनेके लिये तुम्हें केवल देश और कालके विचारसे बाहर निकल सकना चाहिये।

यह एक ऐसी चीज है जिसे बड़े ठोस रूपमें अनुभव किया जा सकता है, पर हमारे देखनेके ढंगसे नहीं।

निश्चय ही, इन सूत्रोंमेंसे बहुत-से सूत्र ऐसे समय लिखे गये हैं जब उच्चतर मन अचानक ही 'अतिमानस'के प्रति खुल जाता है। अभीतक वह यह नहीं भूल पाया है कि सामान्य ढंगसे उसके लिये यह बात कैसी है, किन्तु वह यह भी देखता है कि अतिमानसिक ढंगके लिये यह कैसी है। और तब, वह तुम्हें इस प्रकारकी चीजें देता है, यही विरोधाभासका रूप देता है। कारण, एक चीज अभी भूली नहीं है और दूसरीकी झांकी मिल गयी है।

(लंबा मौन)

वास्तवमें, यदि तुम ध्यानपूर्वक देखो तो तुम्हें यह सोचना पड़ेगा कि भगवान् अपने लिये एक बड़ा भारी प्रहसन खेल रहे हैं। अभिव्यक्ति स्वयं ही एक प्रहसन है जो वे अपने साथ और अपने लिये खेल रहे हैं। वे दर्शकका स्थान लेकर अपनी ओर देखते हैं। और इसलिये, अपने-आपको देखनेके लिये उन्हें देश और कालके विचारको स्वीकार करना ही पड़ेगा, नहीं तो वे अपनी ओर नहीं देख सकेंगे! और तत्काल ही पूरा प्रहसन शुरू हो जाता है। किन्तु यह एक प्रहसन है, इससे अधिक कुछ नहीं!

रही हमारी बात, तो हम इसे अधिक गंभीरतासे लेते हैं क्योंकि हम कठपुतलियां हैं, हैं न? किन्तु ज्यों ही हमारी कठपुतलीकी भूमिका समाप्त हो जाती है हम यह भली-भांति देख लेते हैं कि यह केवल एक प्रहसन है।

कुछके लिये यह वस्तुतः दुःखान्त नाटक भी है।

हां, पर हम ही इसे दुःखान्त बनाते हैं। यही बात है, हम ही इसे दुःखान्त बनाते हैं।

अभी कुछ दिन हुए मैंने ध्यानपूर्वक देखा, मैंने एक ही प्रकारकी घटनाओंको मनुष्यों और पशुओंके साथ होते देखा है। यदि तुम अपने-आपको पशुओंके साथ एक करके देखो तो तुम्हें भली-भांति पता चल जायगा कि वे ऐसी घटनाओंको दुःखपूर्ण नहीं मानते — उन पशुओंको छोड़कर जो मनुष्यके संपर्कमें आते हैं (किन्तु उनकी अवस्था स्वाभाविक नहीं होती, वह संक्रमणकी अवस्था है। वे पशु और मनुष्यके बीचकी संक्रमण अवस्थाके प्राणी हैं), और स्वभावतया सबसे पहले वे मनुष्यके दोष ही अपनाते हैं, उन्हें अपनाना सदा सरल होता है! और इस कारण वे बिना बात दुःखी होते हैं।

कितनी ही बातें हैं . . .। कितनी ही बातें हैं . . .। मनुष्यने मृत्युको भयानक और सांघातिक बना लिया है। पिछले दिनों मैंने देखा — पिछली रात या उससे पिछली रात, मैंने कम-से-कम दो घंटे एक ऐसे जगत्में गुजारे जिसे सूक्ष्म-भौतिक' कहते हैं, जहां जीवित और मृत बिना कोई भेद-भाव

'चेतना, जो जड़-पदार्थसे आत्मातक आरोहण करती है। उसके क्रमशः बढ़ते स्तरोंमें सूक्ष्म-भौतिक ही वह अवस्था या स्तर है जो जड़-पदार्थके सबसे अधिक नजदीक है।

अनुभव किये साथ-साथ विचरते हैं — इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। वहां कोई फर्क है ही नहीं। वहां जीवित सत्ताएं थीं — सत्ताएं जिन्हें हम "जीवित" कहते हैं और वे भी जिन्हें हम "मृत" कहते हैं। वे सत्ताएं वहां थीं, इकट्ठी रहती थीं, वे इकट्ठी खाती थीं, वे इकट्ठी चलती-फिरती थीं, इकट्ठी मनबहलाव करती थीं, सब काम मिलकर करती थीं। वह सब एक सुन्दर प्रकाश था, शान्त और बहुत सुखकर। यह बहुत सुखकर था। मैंने अपने-आपसे कहा: देखो, मनुष्योंने ही इस प्रकार एक दरार डाल दी है और फिर कहते हैं: "अब: मृत्यु!" और मृत्यु! इस बातकी सुन्दरता इसमें है कि तुम उनके साथ ऐसा व्यवहार करते हो मानों वे अचेतन वस्तुएं हैं जब कि यह शरीर अभी चेतन है।

(मौन)

कहां, कहां है 'भ्रान्ति'? 'भ्रान्ति' कहां है?

कहनेका आशय यह है कि भ्रान्ति है ही नहीं। केवल असंभव वस्तुओं-की बाह्य प्रतीति होती है, क्योंकि हमें यह पता नहीं कि प्रभु समस्त संभावना हैं और वे जो चाहें कर सकते हैं, जैसे चाहें कर सकते हैं। यह हमारे मस्तिष्कमें नहीं घुस सकता। हम सदा कहते रहते हैं: "यह हो सकता है और फिर, वह नहीं हो सकता।" किंतु यह सत्य नहीं है! यदि वह नहीं हो सकता तो इसका कारण हमारी मूढ़ता है, किंतु संभव सब कुछ है।

(मौन)

देखो तो जरा। केवल वे ही नाटकको देखते हैं जो चिंता नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि क्या होनेवाला है, उन्हें प्रत्येक वस्तुका पूर्ण ज्ञान है — ऐसी प्रत्येक वस्तुका जो हो रही है, जो हो चुकी है और होनेवाली है — वह वहां है, सब कुछ है, उनके सामने सब उपस्थित है। दूसरे वे लोग हैं, अर्थात्, नाटकके पात्र जिन बेचारोंको कुछ पता नहीं — वे अपनी भूमिका भी नहीं जानते! और वे बहुत अधिक चिंतित हो जाते हैं, क्योंकि उनसे एक ऐसी भूमिकामें काम करवाया जाता है जिसे वे नहीं जानते। यह विचार मुझे अभी आया है, पर है बड़ा तीव्र: हम सब एक प्रहसन कर रहे हैं, किंतु हम यह नहीं जानते कि यह नाटक है क्या, न ही यह जानते हैं कि यह कहांसे आया है, कहां जा रहा है और न उसकी पूरी

बात ही जानते हैं। हम मुश्किलसे थोड़ा-सा ही जानते हैं और वह भी गलत, केवल उतना जो हमें एक क्षणमें करना है। और हम उसे जानते भी बुरे तरीकेसे हैं, और फिर चिंतित हो उठते हैं। किंतु जब व्यक्ति 'समग्र' को जान लेता है, तो उसे चिंता नहीं होती, वह मुस्कराता है — भगवान्को यह सब बड़ा मजेदार लगता होगा किंतु हम . . . । हमें भी उन्हींकी तरह मनबहलाव करनेकी पूरी शक्ति दी गयी है।

बस, हम उसके लिये कष्ट नहीं उठाते।

यह सरल नहीं है!

ओह! यदि यह सरल होता . . . हां, यदि यह होता, तो लोग इससे ऊब जाते।

कभी-कभी हम अपने-आपसे पूछते हैं: क्यों? आखिर यह जीवन इतना दुःखमय क्यों है? किंतु यदि यह एक सतत जादुई सुन्दरता होता, तो सबसे पहले तो कोई इसका मूल्यांकन ही न कर पाता, क्योंकि उस अवस्थामें तो यह स्वाभाविक होता — विशेष रूपसे इस कारण कोई महत्त्व न देता, क्योंकि यह पूर्णतया स्वाभाविक होता — और तब, यह न कहा जा सकता कि व्यक्ति परिवर्तनके लिये ही थोड़ा-सा गड़बड़झाला न पसंद करता। कुछ निश्चित नहीं है।

शायद यही है वह पार्थिव स्वर्गकी कहानी. . . . . . स्वर्गमें उन्हें सहज ज्ञान प्राप्त था, दूसरे शब्दोंमें, वे जीते थे, उन्हें वही चेतना प्राप्त थी जो पशुओंमें होती है, उतनी ही, जितनी कि जीवनके थोड़े-से उपभोगके लिये, यूंही जीवनका आनंद पानेके लिये काफी हो। किंतु उन्होंने क्यों, कैसे, कहां जा रहे हैं, क्या करना होगा इत्यादिको जानना चाहा। और तब सारा झमेला शुरू हुआ — वे शांतिपूर्वक प्रसन्न रहनेसे उकता गये।

(मौन)

मेरे विचारमें इससे श्रीअरविन्दका अभिप्राय यह था कि बाकी सब वस्तुओंकी तरह भ्रान्ति भी एक मिथ्या वस्तु है। वस्तुतः भ्रान्ति है ही नहीं, केवल संभावनाएं-ही-संभावनाएं हैं, और यदि वे सब एक साथ हों तो प्रायः (और **आवश्यक रूपमें**) विरोधी होती हैं, पर विरोधी केवल बाह्य रूपमें। व्यक्ति केवल अपनी ओर देखकर कहे: "मैं भ्रान्ति किसे कहता हूं", वस्तुको केवल आमने-सामने देखे तो तत्काल देख पायगा कि यह एक मूर्खता है — भ्रान्ति

है ही नहीं और वह तुम्हारी पकड़से निकल जाती है।

(मौन)

मुझे ऐसा लगता है कि श्रीअरविन्द उस समय अपनी आरोहणकी अवस्थामें थे, अंतर्भासात्मक मन एक छिद्र बना रहा था और 'अतिमानस'के संपर्कमें आ रहा था और तब 'अतिमानस' एकदमसे विचारमें विस्फोटकी भांति आ धमका। बस, यह ऐसे ही आता है, प्लॉप! और उन्होंने ये लिखीं। यदि तुम क्रियाका अनुसरण करो तो 'स्रोत'को देख पाते हो।

स्पष्ट ही, वे यही कहना चाहते थे कि भ्रान्ति अनगिनत और अनंत संभावनाओंमेंसे एक है। "अनंत"का अर्थ है कि सत्ताकी संभावनाके बाहर किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं है। तब फिर भ्रान्तिको कहां रखा जाय? भ्रान्ति तो इसे हम ही कहते हैं न, और हमारा यह कथन बिलकुल मनमाना है। हम कहते हैं: "यह भ्रान्ति है" — किसकी अपेक्षा? हमारे इस निर्णयकी दृष्टिसे कि "यह सत्य है", किंतु निश्चय ही भगवान्के निर्णयके अनुसार ऐसा नहीं है, क्योंकि यह भी उन्हींका एक अंश है।

चेतनाके इस विस्तारको ऐसे लोग ज्यादा नहीं सह सके।

है न, अब जब मैं इस दृष्टिकोणसे देखना शुरू करती हूं (श्रीमाताजी अपनी आंखें बंद कर लेती हैं), तो एक ही साथ दो वस्तुएं दिखायी देती हैं: हां, यह मुस्कराहट, प्रसन्नता और हंसी है और फिर शांति; यह शांति ही है न? एक शांति जो **पूर्ण**, ज्योतिर्मय और सर्वांगीण है। वहां कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रतिरोध करे, वहां विरोध है ही नहीं; कुछ भी संघर्षकारी नहीं है। केवल **एक** आलोकपूर्ण समस्वरता है — पर फिर भी जिसे हम भ्रान्ति, दुःख या कष्ट कहते हैं वे सब भी उपस्थित हैं। **वह किसी वस्तुको नहीं दबाती**, देखनेका यह एक अन्य ढंग है।

(लंबा मौन)

इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि व्यक्ति सच्चे दिलसे इसमेंसे बाहर निकलना चाहता हो तो यह उतना कठिन नहीं है: तुम्हें कुछ नहीं करना पड़ता, केवल भगवान्को सब कुछ करने दो। और वे सब कुछ करते हैं। वे सब कुछ करते हैं। वे.......यह अद्‌भुत है! अद्‌भुत है!

वे किसी भी वस्तुको अपने हाथमें ले लेते हैं, उसे भी जिसे हम एक सर्वथा सामान्य बुद्धि कहते हैं और तब वे तुम्हें इस बुद्धिको विश्राम करनेके लिये

बस एक ओर रखना सिखाते हैं: "लो, शांत रहो, अब और मत हिलो-डुलो, चिंता मत करो, मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं", — तब एक द्वार खुल जाता है — तुम्हें यह भी नहीं लगता कि तुम्हें उसे खोलना है, वह तो पूरा खुला पड़ा है, तुम दूसरी ओर ले जाये जाते हो (यह सब कार्य कोई और करता है, तुम नहीं); और तब तुम्हारे लिये दूसरा मार्ग अपनाना असंभव हो जाता है।

यह सब ... ओह! मनका यह विराट् परिश्रम जो समझनेके लिये जी-तोड़ यत्न करता है! अह, वह कड़ी मेहनतसे अपना सिर फोड़ता है... बिलकुल व्यर्थ! बिलकुल व्यर्थ! इससे कोई लाभ नहीं होता। यह तो केवल ताशके पत्तोंका फेंकना हुआ।

तुम्हारे सामने एक तथाकथित समस्या है: क्या कहा जाय या क्या किया जाय या कैसे कार्य किया जाय या. ...? कुछ करनेको नहीं है, कुछ भी नहीं, तुम्हें केवल प्रभुसे यह कहना है: "तुम देख ही रहे हो, बात ऐसी है", और फिर सब समाप्त। फिर, तुम शांत रहते हो, अत्यधिक शांत। और तब बिलकुल सहज भावसे, उसके विषयमें सोचे बिना, विचारे बिना और हिसाब लगाये बिना, बल्कि जरा भी कुछ किये बिना — तुम वही करते हो जो तुम्हें करना है, अर्थात्, भगवान् स्वयं उसे करते हैं, तुम नहीं करते। वे करते हैं, वे परिस्थितियोंको संजोते हैं, लोगोंको व्यवस्थित करते हैं, वे तुम्हारे मुखमें अथवा तुम्हारी कलममें शब्द रख देते हैं — वे सब कुछ करते हैं, सब, सब, सब, तुम्हारे करनेके लिये कुछ बाकी नहीं रहता, कुछ नहीं, बस, अपने-आपको आनंदमें रहने दो।

मुझे विश्वास है कि लोग सचमुच यह नहीं चाहते।

> किन्तु सफाईका कार्य कठिन है, पहलेसे सफाई करनेका कार्य।

किंतु तुम्हें यह करनेकी आवश्यकता नहीं है! वे ही तुम्हारे लिये कर देते हैं।

> किन्तु ये सदा आक्रमण करते रहते हैं, अर्थात्, पुरानी चेतना, पुराने विचार...

हां, अभ्यासवश वह फिरसे शुरू होना चाहता है — तुम्हें यह कहना है: "प्रभु, आप देखें, आप देखें, आप देखें यह ऐसा है", बस इतना ही। "प्रभु, आप देखें, आप इसे देखें, आप इसे देखें, आप इसे देखें, आप वहां उस मूर्खको देखें।"

बस बात समाप्त हो गयी, और वह भी तत्काल ही . . .। किंतु, मेरे बच्चे, यह अवस्था अपने-आप ही बदल जाती है, जरा भी प्रयास नहीं करना पड़ता। तुम्हें केवल सच्चा बनना होगा, दूसरे शब्दोंमें, सचाईसे यह चाहना होगा कि यह ऐसा होना चाहिये। तुम इस बातसे पूरी तरह सचेत हो कि तुम कुछ नहीं कर सकते, तुममें कोई क्षमता नहीं है। मुझे यह अधिकाधिक अनुभव हो रहा है कि जड़-पदार्थका यह मिश्रण जैसा कि यहां है, इन कोषाणुओं और अन्य सबका मिश्रण बहुत दयनीय, बहुत ही क्षुद्र वस्तु है! मैं नहीं जानती कि कुछ ऐसी अवस्थाएं होती हैं या नहीं जिनमें लोग अपने-आपको शक्तिशाली, अद्‌भुत, आलोकित और समर्थ समझते हों; परंतु मुझे तो लगता है कि यह इसलिये होता है कि वे सत्य रूपमें यह नहीं जानते कि वे वैसे हैं! जब मनुष्य सचमुच यह देख लेता है कि उसका निर्माण कैसे हुआ है, तो वह जान लेता है कि सचमुच वह कुछ नहीं है, कुछ नहीं है; किंतु सब कुछ करनेमें समर्थ है, बशर्ते . . . बशर्ते कि वह भगवान्‌को कार्य करने दे। पर ऐसी वस्तु सदा होती है जो अपने-आप करना बहुत पसंद करती है, यही कठिनाई है, नहीं तो . . .।

ना, तुम श्रेष्ठ सद्‌भावनासे भरे हो सकते हो और तुम सचमुच कुछ करना **चाहते** हो। यही बात पूरे कार्यको जटिल बना देती है। या फिर तुममें विश्वास नहीं होता, तुम सोचते हो कि भगवान् इसे नहीं कर सकेंगे, इसलिये खुद ही करना पड़ेगा, क्योंकि वे इसे नहीं जानते! (माताजी हंसती हैं) इस प्रकारकी मूर्खता बहुत फैली हुई है, है न, कि : "वे वस्तुओंको कैसे देख सकते हैं? हम 'मिथ्यात्व' के जगत्‌में रहते हैं, वे 'मिथ्यात्व' को कैसे देख सकते हैं और . . ." ठीक यही बात है, भगवान् वस्तुओंको वैसी ही देखते हैं जैसी कि वे हैं।

मैं उन लोगोंकी बात नहीं कह रही जिनमें बुद्धि नहीं है, मैं उन लोगोंकी बात कह रही हूं जो बुद्धिमान् हैं और जो प्रयत्न करते हैं — उनके किसी भागमें एक प्रकारका विश्वास होता है, उन लोगोंमें भी जो जानते हैं कि हम 'अज्ञान' और 'मिथ्यात्व' के जगत्‌में निवास करते हैं और एक भगवान् हैं जो सत्य-स्वरूप हैं, वे भी कहते हैं : "इसीलिये क्योंकि वे सत्य-स्वरूप हैं, वे नहीं समझते (माताजी हंसती हैं)। वे हमारा मिथ्यात्व नहीं समझते, हमें स्वयं उसका ख्याल रखना होगा।" यह बात प्रबल और व्यापक है।

हम बिना बातकी जटिलताएं खड़ी कर लेते हैं।

यह बात मैंने प्रायः ही अपने-आपसे पूछी है; जब व्यक्ति

> भगवान्‌से कोई प्रार्थना करता है और उन्हें समझाना चाहता है कि कोई वस्तु ठीक नहीं है, तब मुझे सदा ऐसा प्रतीत होता है कि उसे बलपूर्वक अपने-आपको एकाग्र करना चाहिये, और प्रत्येक अवस्थामें दूरकी किसी ऊंची वस्तुका आवाहन करना चाहिये। क्या यह ठीक है? या यह वस्तुतः...

यह हमपर निर्भर है!

रही बात मेरी तो मैं अब उन्हें सर्वत्र, सब समय, सब समय अनुभव करती हूं... उनका भौतिक संपर्कतक अनुभव करती हूं — यह सूक्ष्म-भौतिक होता है, पर है भौतिक — वस्तुओंमें, वायुमें, लोगोंमें....। इस प्रकार, (माताजी अपने हाथोंसे अपने मुखको दबाती हैं)। और व्यक्तिको दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, मुझे केवल इतना ही करना होता है (माताजी अपने हाथोंको थोड़ा अंदरकी ओर मोड़ती हैं), एकाग्रताका एक सेकण्ड और भगवान् मौजूद होते हैं, मौजूद होते हैं, वे सर्वत्र हैं, है न? वे दूर केवल तभी होते हैं जब हम उन्हें दूर समझते हैं।

स्वभावतया जब हम वैश्व चेतनाके सभी प्रदेशों, सभी स्तरोंके विषयमें सोचना शुरू करते हैं और यह समझने लगते हैं कि वे वहां, दूर, बड़ी दूर, परले सिरेपर हैं तो वे सचमुच दूर, दूर, बहुत दूर हो जाते हैं! (माताजी हंसती हैं)। किंतु जब हम यह सोचते हैं कि वे सर्वत्र मौजूद हैं, वे ही सब कुछ हैं और केवल हमारा बोध ही हमें उन्हें देखने और उनको अनुभव करनेसे रोकता है; तो सब कुछ पलट जाता है। हमें केवल इतना करना है (माताजी अपने हाथ अंदरकी ओर मोड़ती हैं); यह इस प्रकारकी और इस प्रकारकी क्रिया है (माताजी बारी-बारीसे हाथ अंदर और बाहरकी ओर मोड़ती हैं), यह क्रिया बड़े ठोस प्रकारकी होती है। तुम ऐसा करते हो (बाहरकी ओरकी क्रिया), और सब कुछ कृत्रिम, कठोर, रूखा, गलत, मिथ्या, हां, कृत्रिम हो जाता है। तुम ऐसा करते हो (अंदरकी ओरकी क्रिया) तब सब कुछ विशाल, शांत, आलोकमय, प्रशांत, असीम और आनंदमय हो जाता है। और केवल यह, केवल यह (माताजी बारी-बारीसे अपने हाथोंको अंदर और बाहरकी ओर मोड़ती हैं)। कैसे? कहां? इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, किंतु यह केवल, चेतनाकी **केवल** एक क्रिया है, और कुछ नहीं। चेतनाकी एक क्रिया। और सच्ची चेतना और झूठी चेतनाके बीचका अंतर अधिकाधिक... यथार्थ होता जाता है, साथ ही **क्षीण** भी — इससे बाहर निकलनेके लिये तुम्हें कोई "बहुत बड़े" काम नहीं करने पड़ते। पहले, तुम ऐसा सोचते थे कि तुम किसी वस्तुमें निवास करते

हो और उससे बाहर निकलनेके लिये तुम्हें एक तीव्र अंतर्मुखताकी, एकाग्रता और तल्लीनताकी आवश्यकता है। किंतु अब तुम्हें प्रतीत होता है कि यह एक ऐसी वस्तु है जिसे तुम स्वीकार करते हो (माताजी अपने मुखको अपने हाथकी ओटमें कर लेती हैं), एक ऐसी वस्तु जो पतले छिलकेके समान है, पर है बहुत कड़ी — बहुत कड़ी, पर लचकीली, अत्यधिक शुष्क, किंतु बहुत महीन, बहुत ही महीन, बहुत महीन, मानों एक नकाब पहन रखा हो; और तब तुम ऐसा करते हो; (माताजी संकेत करती हैं) वह लुप्त हो जाती है।

तुम उस समयका पूर्वज्ञान पा सकते हो, तब तुम्हें इस नकाबको हटानेकी आवश्यकता नहीं रहेगी, वह इतना महीन हो जायगा कि नकाबको हटाये बिना ही व्यक्ति उसमेंसे देख सकेगा, अनुभव और कार्य कर सकेगा। यह कार्य अभी होना शुरू हुआ है।

किंतु समस्त वस्तुओंमें यह 'उपस्थिति' . . . यह एक 'स्पंदन' है, किंतु एक ऐसा 'स्पंदन' है जिसमें सब कुछ मौजूद है — 'स्पंदन', जिसमें एक प्रकारकी अनंत शक्ति, अनंत आनंद और अनंत शांति है और है विशालता, विशालता, विशालता जिसकी कोई सीमा नहीं . . .। किंतु है यह एक 'स्पंदन ही, यह . . . ओह, प्रभु! इसके बारेमें सोचा नहीं जा सकता, इसलिये कुछ कहा भी नहीं जा सकता। यदि व्यक्ति सोचे तो सोचते ही सारी खदबद फिरसे शुरू हो जाती है, इसी कारण उसके संबंधमें कह भी नहीं सकता।

नहीं, वे बहुत दूर हैं, क्योंकि तुम उन्हें बहुत दूर मानते हो। तब भी जब तुमने यह सोचा कि वे इस प्रकार (अपने मुखकी ओर संकेत करती हैं) मौजूद हैं, तुम्हारा स्पर्श कर रहे हैं . . . यदि तुमने उनकी उपस्थिति अनुभव की हो। यह किसी व्यक्तिके साथ संपर्क जैसा नहीं होता। यह वैसा नहीं है। यह एक ऐसी वस्तु है जो बाह्य या परकीय नहीं है, जो बाहरसे अंदरकी ओर नहीं आती। यह वैसी नहीं है . . . यह सर्वत्र है।

अतएव तुम सर्वत्र, सर्वत्र, सर्वत्र, सर्वत्र — अंदर बाहर, सर्वत्र, सर्वत्र केवल उन्हें ही अनुभव करते हो — उन्हें, उनके सिवाय कुछ नहीं। वे, उनके 'स्पंदन'।

नहीं, तुम्हें यह बंद करना होगा (सिरकी ओर संकेत करती हैं), जबतक तुम इसे बंद न करोगे, तबतक 'सच्ची वस्तु' को नहीं देख सकोगे — तुम तुलनाएं ढूंढते हो, तुम कहते हो: "यह ऐसा है, यह वैसा है," ओह! . . .

(मौन)

और तुम्हें कितनी बार, कितनी बार यह प्रतीत होता है . . . कोई रूप नहीं है — रूप है भी और नहीं भी, तुम इसके विषयमें कुछ नहीं कह सकते। दृष्टिका आभास होता है पर आंखें नहीं हैं — आंखें नहीं हैं, किंतु दृष्टि है — दृष्टि है, मुस्कराहट है और मुंह नहीं है, चेहरा नहीं है। पर फिर भी मुस्कराहट है, दृष्टि है और (माताजी हंसती हैं) तुम यह कहे बिना नहीं रह सकते: "हां, प्रभु, मैं मूर्ख हूं!" किंतु वे हंसते हैं, और तुम भी हंसते हो और आनंदित होते हो।

तुम इसकी व्याख्या नहीं कर सकते! इसकी व्याख्या की भी नहीं जा सकती, इसकी चर्चा भी नहीं की जा सकती। तुम कुछ नहीं कह सकते। तुम जो कुछ कहते हो वह कुछ नहीं है, कुछ नहीं।

१२-१०-६२

८१ — भगवान्‌का हास्य कभी-कभी शिष्ट कानोंके लिये बड़ा ही भद्दा और अनुपयुक्त होता है; उन्हें मोलिएर[1] बननेसे संतोष नहीं होता, उन्हें तो अरिस्टोफेन और राबले[2] बननेकी भी आवश्यकता होती है।

८२ — यदि मनुष्य जीवनको कम गंभीरतापूर्वक लें तो वे बहुत शीघ्र उसे अधिक पूर्ण बना सकेंगे। भगवान् कभी अपने कार्यको गंभीरतापूर्वक नहीं लेते; इसीलिये हम इस अद्‌भुत विश्वको देख रहे हैं।

८३ — लज्जासे अत्युत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं और सौंदर्य-बोध तथा नैतिकता दोनोंमें ही हम उसकी बिलकुल उपेक्षा नहीं कर सकते; परंतु इस सबके बावजूद यह दुर्बलताका एक चिह्न और अज्ञानका एक प्रमाण है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि चीजोंको गंभीरतापूर्वक

---

[1]फ़्रांसके सर्वश्रेष्ठ सुखान्त नाटककार।

[2]फ़्रांसके व्यंग्य-लेखक।

लेनेकी बातने जीवनको अधिक पूर्ण बननेसे कैसे रोका है ?

पुण्य-भावना हमेशा जीवनमें उन वस्तुओंको दबा रखनेमें व्यस्त रहती है जो उसे जीवनमें बुरी लगती हैं और संसारके विभिन्न देशोंके सभी पुण्योंको यदि एक साथ एकत्र कर दिया जाय तो जीवनमें बहुत थोड़ी-सी चीजें ही बच रहेंगी।

पुण्य-भावना पूर्णताकी खोज करनेका दावा करती है, परंतु पूर्णताका अर्थ है एक समग्रता। अतएव ये दोनों बातें एक-दूसरेको काटती हैं। पुण्य-भावना बहिष्कार करती है, कम करती है, सीमाएं बांधती है और पूर्णता प्रत्येक चीजको स्वीकार करती है, किसी चीजका परित्याग नहीं करती, बल्कि प्रत्येक चीजको उसके ठीक स्थानमें रखती है — वे दोनों (पुण्य-भावना और पूर्णता) एक-दूसरेको ठीक-ठीक समझ नहीं सकतीं।

जीवनको गंभीरतापूर्वक लेनेका साधारणतया अर्थ है दो बातें करना; पहली, उन चीजोंको महत्त्व देना जो शायद कोई महत्त्व नहीं रखतीं; दूसरी, जीवनको उन थोड़े-से गुणोंमें सीमित कर देना जो पवित्र और जीवनके लिये उपयोगी समझे जाते हैं। कुछ लोगोंमें (उदाहरणार्थ, उन लोगोंमें जिनके विषयमें यहां श्रीअरविन्द कह रहे हैं, अर्थात्, कट्टर और अति-नैतिक लोगोंमें) यह पुण्य-भावना बड़ी रूखी-सूखी, नीरस, भद्दी और आक्रामक बन जाती है और उसे हर जगह, प्रत्येक हर्षयुक्त, स्वाधीन और सुखमय वस्तुमें दोष-ही-दोष दिखायी देते हैं।

जीवनको पूर्ण बनानेका (यह तो जानी हुई बात है कि यहां मेरा मतलब है, पृथ्वीपरके जीवनसे) एकमात्र पथ है उसकी ओर काफी ऊंचाईपरसे देखना ताकि तुम उसे संपूर्ण रूपमें देख सको, केवल उसके वर्तमान पूर्ण रूपको ही नहीं, बल्कि उसके भूत, वर्तमान और भविष्यके संपूर्ण रूपको भी देख सको; यह जो कुछ पहले था, जो कुछ अब है और जो कुछ आगे होगा — हमें यह सब एक साथ देखनेमें समर्थ होना चाहिये। क्योंकि एकमात्र यही तरीका है जिससे हम प्रत्येक चीजको उसके ठीक-ठीक स्थानमें रख सकते हैं। उस समय कोई भी चीज दबायी नहीं जा सकती, कोई भी चीज नहीं दबानी चाहिये, बल्कि प्रत्येक चीज अपने उचित स्थानमें होनी चाहिये और बाकीके साथ उसका पूर्ण सामंजस्य बना रहना चाहिये और उस समय जो सब चीजें कट्टर धार्मिक व्यक्तिको इतनी 'बुरी', इतनी 'तिरस्कार योग्य', इतनी 'अग्राह्य' प्रतीत होती हैं वे सब एक पूर्णतः दिव्य जीवनके आनन्द और स्वातंत्र्यके कार्य बन जाती हैं। और तब कोई भी चीज परमात्माके इस अद्भुत हास्यको जानने, समझने, अनु-

भव करने और जीवनमें उतारनेसे हमें रोक नहीं सकेगी — उस परमात्माके हास्यको जो स्वयं अपनी ही ओर अनंत भावसे देखनेमें असीम आनन्द अनुभव करते हैं।

यह आनन्द, यह अद्भुत हास्य ही है जो समस्त अन्धकार, समस्त दुःख-दर्द और समस्त संतापको विलीन कर देता है! इस आन्तर सूर्यको पानेके लिये तथा उसकी किरणोंमें स्नान करनेके लिये स्वयं अपने अन्दर पर्याप्त गहराईतक प्रवेश करना काफी है और तब सब कुछ सुसमंजस, ज्योतिर्मय, सूर्यमय हास्यका झरना बन जाता है, जिसमें कहीं भी कोई छाया या दुःख नहीं रह सकता।

यदि तुम उस स्थानसे देख सकनेमें, वहां रहनेमें समर्थ हो सको तो वास्तवमें बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों, दुःख-कष्टों और शारीरिक वेदनाओंकी भी असत्यताको देख सकोगे, — तब तुम्हारे लिये कठिनाई, दुःख-कष्ट और वेदना नामकी कोई चीज नहीं रह जायगी — प्रत्येक चीज ही एक हर्षमय और ज्योतिपूर्ण प्रकंपनका रूप ले लेगी।

मुख्य रूपसे यही अत्यन्त शक्तिशाली साधन है जिससे कठिनाइयोंको विलीन किया जा सकता, दुःख-कष्टोंको जीता जा सकता और वेदनाओंको दूर किया जा सकता है। इनमें पहले दो अपेक्षाकृत (मैं अपेक्षाकृत कह रही हूं) आसान हैं, अन्तिम चीज कुछ अधिक कठिन है, क्योंकि लोगोंको शरीर और वह जो कुछ अनुभव करता है उस सबको अत्यन्त ठोस, सुनिश्चित समझनेका अभ्यास पड़ गया है। परन्तु यह भी वैसी ही चीज है; हमने अपने शरीरको एक तरल, नमनीय, अनिश्चित, नर्म वस्तुके रूपमें देखना न सीखा है, न अभ्यास किया है। हमने इसके अन्दर इस ज्योतिर्मय हास्यको प्रविष्ट करनेकी विधि नहीं सीखी है जो समस्त अंधकार, समस्त कठिनाई, समस्त असंगति, समस्त असामंजस्यको, जो कुछ कराहता, रोता और विलाप करता है उसको विलीन कर देता है।

और यह सूर्य, यह दिव्य हास्यका सूर्य प्रत्येक वस्तुके एकदम केन्द्रमें विद्यमान है, प्रत्येक वस्तुका सत्य है — आवश्यकता बस यही है कि हम उसे देखना, अनुभव करना और जीवनमें उतारना सीखें।

और इसके लिये हमें उन लोगोंसे दूर रहना चाहिये जो जीवनको अत्यन्त गंभीर रूपमें लेते हैं, वे ऐसे लोग हैं जिनसे मनुष्य ऊब उठता है।

जब कभी वातावरण गंभीर हो उठे तो तुम कह सकते हो कि कहीं कोई चीज ठीक नहीं है, कोई हानिकारक प्रभाव, कोई पुरानी आदत भीतर घुसनेका प्रयास कर रही है जिसे कभी स्वीकारना नहीं चाहिये। यह सब पश्चात्ताप, यह सब संताप, अयोग्यताकी भावना, अपराधकी भावना और

फिर एक पग और आगे, पापकी भावना — ओह! यह सब ... मुझे लगता है कि ये सब एक दूसरे युग, अन्धकारके युगकी चीजें हैं।

परन्तु ये सब चीजें जो बनी हुई हैं, जो चिपकी रहने और बनी रहनेकी चेष्टा करती हैं, ये सब निषेध और जीवनको दो भागोंमें — छोटा और बड़ा, पवित्र और अपवित्र — बांट देनेका यह तरीका! जो लोग यह घोषणा करते हैं कि वे आध्यात्मिक जीवनका अनुसरण करते हैं, वे कहते हैं: "यह कैसी बात है! तुम भला ऐसी तुच्छ चीजोंको, जिनका इतना कम महत्त्व है, आध्यात्मिक अनुभवका विषय कैसे बना सकते हो?" और फिर भी यह एक ऐसा अनुभव है जो अधिकाधिक ठोस और वास्तविक होता जाता है, स्थूल रूपतकमें! ऐसी चीजोंके दो भाग नहीं हैं जिनमेंसे एकमें भगवान् हों और दूसरेमें न हों। भगवान् सर्वदा, सर्वत्र विद्यमान हैं। वह किसी चीजको गंभीरतापूर्वक नहीं लेते, वह प्रत्येक चीजसे आनन्द प्राप्त करते हैं और वह तुम्हारे साथ खेलते हैं यदि तुम उनके साथ खेलना जानो। तुम खेलना नहीं जानते, लोग खेलना नहीं जानते। परन्तु वह, कितनी अच्छी तरह खेलना जानते हैं! कितनी अच्छी तरह खेलते हैं! प्रत्येक चीजके साथ, छोटी-से-छोटी चीजके साथ खेलते हैं। तुम्हें अपनी मेजपर चीजें रखनी हैं? ऐसा मत समझो कि तुम्हें सोच-समझकर, सजाकर रखना होगा, नहीं, तुम तो खेलने जा रहे हो: तुम इस चीजको यहां और उस चीजको वहां रख दो और फिर इसी तरह रखते चले जाओ। और फिर दूसरी बार दूसरे ढंगसे रखो...। कितना सुन्दर खेल है और कितना आनन्ददायी!

अब बात समझमें आ गयी; अब हम यह जाननेकी कोशिश करेंगे कि भगवान्‌के साथ-साथ कैसे हंसा जाता है।

१४-१-६३

८४ — अतिप्राकृत वह चीज है जिसके स्वभावको हमने नहीं प्राप्त किया है या अभीतक नहीं जाना है, अथवा जिसे प्राप्त करनेका साधन अभीतक हमने नहीं आयत्त किया है। चमत्कारोंके लिये सर्वसाधारण लोगोंकी रुचि इस बातका चिह्न है कि मनुष्यका आरोहण अभीतक पूर्ण नहीं हुआ है।

८५ — अतिप्राकृतपर अविश्वास करना युक्तिसंगत और

समझदारी है; परंतु उसपर विश्वास करना भी एक प्रकारकी बुद्धिमत्ता ही है।

८६ — उच्चकोटिके संतोंने चमत्कार किये हैं; उच्चतर कोटिके संतोंने उनकी निन्दा की है; उच्चतम कोटिके संतोंने उनकी निन्दा भी की है और उन्हें किया भी है।

८७ — अपनी आंखें खोलो और देखो कि वास्तवमें जगत् क्या है और भगवान् क्या हैं; व्यर्थ और मधुर कल्पनाओंसे कोई संबंध मत रखो।

आपने या श्रीअरविन्दने बाह्य मानवीय चेतनाकी बाधाओंको जीतनेके एक साधनके रूपमें चमत्कारोंका अत्यधिक उपयोग क्यों नहीं किया है? आप लोगोंने बाहरी चेतनाके प्रति इस प्रकारकी उपेक्षा, इस प्रकार हस्तक्षेप न करने या इस प्रकार सावधानीके साथ विवेक करनेका भाव क्यों रखा है?

जहांतक श्रीअरविन्दका प्रश्न है, मैं बस वही जानती हूं जो उन्होंने मुझसे कई बार कहा है। साधारणतया, लोग भौतिक जगत् या प्राणिक जगत्में किये गये हस्तक्षेपको ही "चमत्कार" कहते हैं। इन हस्तक्षेपोंमें हमेशा अज्ञानकी क्रियाएं तथा स्वेच्छाचारिता मिली-जुली होती हैं।

परन्तु मनके राज्यमें श्रीअरविन्दने जो चमत्कार किये हैं वे अगणित हैं; परन्तु स्वभावतः ही उन्हें वे ही देख सकते थे जिन्हें एक सीधी, सच्ची और शुद्ध दर्शन-शक्ति प्राप्त थी — और बहुतोंने उन्हें देखा है। परन्तु इस मिश्रणके कारण ही वे कोई प्राणिक या भौतिक चमत्कार करनेसे इंकार करते थे — मैं जानती हूं — उन्होंने यह अस्वीकार किया था।

मेरा अनुभव यह है कि अभी जगत् जिस स्थितिमें है उसमें यदि कोई प्रत्यक्ष चमत्कार, कोई भौतिक या प्राणिक चमत्कार होगा तो वह अवश्यमेव मिथ्यात्वके बहुत-से तत्त्वोंको अपने हिसाबमें शामिल कर लेगा जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये निश्चित रूपसे मिथ्या चमत्कार होते हैं और उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। मैंने उन घटनाओंको देखा है जिन्हें लोग चमत्कार कहते हैं; मैंने एक बार बहुत-सी घटनाओंको देखा जिन्होंने अनेक ऐसी चीजोंके बने रहनेका अधिकार दिया जो मेरे लिये अनुमोदनीय नहीं हैं।

आजकल लोग जिस चीजको चमत्कार कहते हैं वह प्रायः हमेशा प्राणिक जगत्की सत्ताओंके द्वारा संपन्न की जाती हैं अथवा उन मनुष्योंके द्वारा की जाती हैं जो प्राण-जगत्की सत्ताओंके साथ संपर्क बनाये रहते हैं और यह चीज एक मिश्रण होती है — यह कुछ ऐसी चीजोंको वास्तविक या सत्य स्वीकार करती है जो सत्य नहीं हैं। और यह इसी आधारपर कार्य करती है। अतएव यह स्वीकार्य नहीं है।

मैं पूरी तरह नहीं समझ पाया कि आपके इस कथनका क्या तात्पर्य है कि श्रीअरविन्दने "मनमें कई चमत्कार" किये।

चमत्कार तब हुआ जब उन्होंने मानसिक चेतनाके अन्दर अतिमानसिक शक्तिको डाला। उन्होंने मानसिक चेतनामें (उस मानसिक चेतनामें जो समस्त भौतिक गतिविधियोंका संचालन करती है) एक अतिमानसिक रचना या शक्ति या सामर्थ्यको डाल दिया जिसने तुरत ही सारे संगठनको बदल दिया। उसने तत्काल कुछ ऐसे परिणाम उत्पन्न किये जो ऊपरसे देखनेमें युक्तिसंगत न थे, क्योंकि यह कार्य मानसिक युक्ति-तर्कके अनुसार अपनी क्रिया-धाराका अनुसरण नहीं करता।

वह स्वयं कहा करते थे कि ऐसा तब हुआ था जब अतिमानसिक शक्ति और ऊर्जापर उनका पूरा अधिकार था और अपनी इच्छाके अनुसार वह उनका प्रयोग कर सकते थे। जब-जब उन्होंने उस शक्तिका एक निश्चित उद्देश्यके साथ किसी विशिष्ट स्थानपर प्रयोग किया तो वह अचूक, अनिवार्य सिद्ध हुई, उसका परिणाम अबाधित रहा। हम इसे चमत्कार कह सकते हैं।

उदाहरणके लिये, एक मनुष्यको ले लो जिसे कोई बीमारी है, जिसे दर्द है; जब श्रीअरविन्दको इस अतिमानसिक शक्तिपर अधिकार प्राप्त था (एक समय ऐसा था जब, वह कहते थे कि, वह संपूर्णतः उनके अधिकारमें थी, यानी, वह उसका उपयोग अपनी मर्जीके मुताबिक कर सकते थे, वह जहां चाहते वहीं उसे कार्यमें लगा देते थे), तब वह इस 'संकल्प-शक्ति'को मानों किसी प्रकृतिगत अस्तव्यस्तताके अन्दर, चाहे वह भौतिक, प्राणिक या मानसिक हो, डाल देते, इस अतिमानसिक शक्तिको, एक उच्चतर सामंजस्यकी, एक उच्चतर सुव्यवस्थाकी इस शक्तिको उतार लाते और वहां प्रयोग करते और वह तुरन्त कार्य करती। वह स्वयं एक व्यवस्था होती थी, एक सुव्यवस्था, जो स्वाभाविक सामंजस्यसे कहीं ऊंचा सामंजस्य उत्पन्न करती थी। वह मानों एक उपचार होता था और वह

किसी भी सामान्य मानसिक और भौतिक साधनोंसे प्राप्त उपचारसे अधिक पूर्ण, अधिक व्यापक होता।

ये चमत्कार संख्यामें काफी अधिक थे। पर मनुष्य इतने अन्धे हैं, अपनी साधारण चेतनामें इतने जड़ हैं कि वे हमेशा कोई-न-कोई व्याख्या दे डालते हैं, वे सर्वदा कोई-न-कोई सफाई दे सकते हैं। केवल वे लोग ही इसे देखनेमें समर्थ होते हैं जिनमें श्रद्धा और अभीप्सा होती है, कोई बहुत शुद्ध वस्तु होती है, अर्थात्, जो वास्तवमें जानना चाहते हैं वे ही प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

जब वह शक्ति प्राप्त थी तब, वह यहांतक कहा करते थे कि, उसके लिये उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता था, उन्हें केवल इतना ही करना पड़ता था कि सुव्यवस्था और अतिमानसिक सामंजस्यकी इस शक्तिको वहां लगा दें और फिर उसी क्षण अभीप्सित परिणाम प्राप्त हो जाता था।

> चमत्कार क्या चीज है ? क्योंकि श्रीअरविंद अक्सर कहा करते थे कि चमत्कार नामकी कोई चीज नहीं है और, साथ-ही-साथ, 'सावित्री'में, उदाहरणार्थ, वे कहते हैं :
>
> "यहां सब कुछ चमत्कारके द्वारा ही बदल सकता है।"
>
> [सावित्री : १-५-९७]

यह इस बातपर निर्भर है कि तुम इसे कैसे देखते हो, इस ओरसे या उस ओरसे।

तुम केवल उन्हीं चीजोंको चमत्कार कहते हो जिनकी व्याख्या स्पष्ट नहीं होती अथवा जिनकी कोई मानसिक व्याख्या नहीं होती। इस दृष्टि-कोणसे हम कह सकते हैं कि ऐसी अनगिनत चीजें होती रहती हैं जो चमत्कार हैं, क्योंकि तुम यह नहीं समझा सकते कि वे कैसे या क्यों हुईं।

> तब सच्चा चमत्कार क्या होगा ?

मैं नहीं समझती कि सच्चा चमत्कार क्या हो सकता है, क्योंकि इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि चमत्कार किसे कहते हैं। एक सच्चा चमत्कार...। मन ही वह चीज है जो चमत्कारोंकी धारणा बनाती है। क्योंकि मन, अपनी निजी तर्कयुक्तिके द्वारा यह निर्णय करता है कि अमुक अवस्थामें अमुक वस्तु हो सकती है या नहीं। परन्तु यह तो मनकी सीमाएं हैं। क्योंकि, परात्पर प्रभुकी दृष्टिसे, भला कोई

चमत्कार हो ही कैसे सकता है? प्रत्येक वस्तु वे स्वयं हैं जिसे वे मूर्त रूप देते हैं।

तब हम उस मार्गकी महान् समस्यामें प्रवेश करते हैं जिसका अनुसरण किया गया है; वह शाश्वत मार्ग है, जैसा कि श्रीअरविन्दने 'सावित्री'में समझाया है। स्वभावतः, यह बात समझमें आने योग्य है कि जो चीज पहले मूर्तिमान हुई वह वही चीज है जिसमें मूर्तिमान होनेकी इच्छा है। और सबसे पहली बात ज़ो स्वीकार करने योग्य है तथा जो क्रमविकासके सिद्धान्तके अनुसार युक्तिसंगत प्रतीत होती है, वह यह है कि मूर्तिमान होनेकी क्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती है, वह सनातन कालसे संपूर्ण विद्यमान नहीं है। (मौन) यह कहना बड़ा कठिन है, क्योंकि हम यह कल्पना करनेके अभ्याससे बाहर निकलनेमें समर्थ नहीं हैं, कि वह एक सुनिश्चित राशि है जो असीम रूपसे अपनेको उन्मीलित कर रही है और केवल किसी निश्चित राशिसे ही प्रारंभ किया जा सकता है। हम लोग हमेशा ही (कम-से-कम जिस ढंगसे हम बात करते हैं उसके अनुसार) एक क्षणकी बात सोचते हैं (हंसती हैं) जब भगवान्ने अपने-आपको साकार बनानेका निश्चय किया था। उस ढंगसे व्याख्या करना आसान हो जाता है। वह अपनेको धीरे-धीरे, क्रमशः मूर्तिमान करते हैं, और इसका अर्थ है उत्तरोत्तर होनेवाला विकास, परन्तु यह केवल कहनेका एक ढंग है। चूंकि कोई आरंभ नहीं है इसलिये कोई अन्त भी नहीं है और फिर भी क्रमविवर्तन है। अनुक्रमका अर्थ, विकासका अर्थ, प्रगतिका अर्थ केवल अभिव्यक्तिके प्रसंगमें ही होता है। यदि तुम केवल पृथ्वीकी बात कहो तो तुम बहुत सच्चे रूपमें और युक्तिसंगत ढंगसे व्याख्या कर सकते हो, क्योंकि पृथ्वीका, उसकी आत्मामें नहीं, भौतिक स्वरूपमें एक आरंभ है।

संभवतः स्थूल विश्वका भी एक आरंभ है।

(मौन)

यदि तुम इस ढंगसे देखो तो, विश्वके लिये, चमत्कारका अर्थ होगा किसी दूसरे विश्वसे किसी चीजका सहसा प्रवेश। और पृथ्वीके लिये, यह बात समस्याको छोटा करके अधिक समझने योग्य बना देती है, चमत्कारका अर्थ है किसी ऐसी चीजका, जो पृथ्वीकी नहीं थी, एकाएक पृथ्वीमें प्रवेश। पृथ्वीमें एक ऐसे तत्त्वका प्रवेश जो मौलिक रूपसे इस भौतिक जगत्का (पृथ्वी यही तो है) नहीं है, एक मौलिक और तात्कालिक परिवर्तन ले आता है।

परन्तु यहां भी, यह कहा गया है कि प्रत्येक तत्त्वके ठीक केन्द्रमें तत्त्व-रूपमें सब कुछ है इसलिये उस तरहके चमत्कारका होना संभव नहीं है।

यह कहा जा सकता है कि चमत्कारका भाव केवल एक सीमित जगत्का, एक सीमित चेतना और एक सीमित परिकल्पनाका भाव है। यह "किसी ऐसी चीजका आकस्मिक और बिना किसी तैयारीके घुस आना है —प्रविष्ट होना, हस्तक्षेप करना है जो इस भौतिक जगत्में विद्यमान नहीं थी। अतएव, स्पष्ट ही यदि कोई ऐसी संकल्प-शक्ति या चेतना अभिव्यक्त हो जाय जो पृथ्वीकी अपेक्षा कहीं अधिक असीम और अधिक शाश्वत जगत्की हो तो अवश्य ही पृथ्वीपर उसे चमत्कार कहा जायगा। परन्तु यदि कोई सीमित जगत्से बाहर आ जाय, ससीम जगत्के बोधसे बाहर आ जाय तो उसके लिये चमत्कारका कोई अस्तित्व नहीं रहता। परम प्रभुको इसीमें मजा आये तो वे लीलावश चमत्कार कर सकते हैं, परन्तु चमत्कार नामकी कोई वस्तु नहीं है — वे सबके साथ सभी संभव खेल खेलते हैं!

तुम उन्हें तभी समझना आरंभ करते हो जब तुम इस तरह अनुभव करो, यह अनुभव करो कि वे सभी संभव खेल खेलते हैं, और "संभव"का अर्थ मानवीय कल्पनाके अनुसार संभव नहीं, उनकी निजी धारणाके अनुसार संभव है!

और यहां, चमत्कारके लिये कोई स्थान नहीं, भले ही कोई चीज चमत्कार जैसी दिखायी पड़ जाय।

(मौन)

यदि धीमे क्रमविकासके स्थानपर हठात् कोई ऐसी चीज प्रकट हो जाय जो अतिमानसिक जगत्की हो तो मनोमय जीव, मनुष्य उसे चमत्कार कह सकता है, क्योंकि वह एक ऐसी चीजका हस्तक्षेप होगा जिसे वह अपने अन्दर ज्ञानपूर्वक धारण नहीं करता और जो उसके सचेतन जीवनमें हस्तक्षेप करती है। और यथार्थमें, चमत्कारोंके प्रति जो यह रुझान है, जो बहुत प्रबल है — जो लोग मानसिक रूपमें बहुत अधिक विकसित हैं उनकी अपेक्षा बच्चोंमें तथा बच्चों जैसा हृदय रखनेवालोंमें बहुत अधिक प्रबल है — उसकी ओर यदि तुम दृष्टिपात करो तो तुम्हें पता चलेगा कि यह 'परम अद्भुत' — सामान्य जीवनमें प्राप्त होने योग्य किसी भी चीजसे बहुत अधिक ऊंची किसी चीज — की अभीप्साकी सिद्धिमें विश्वास है।

वास्तवमें, शिक्षामें हमें सर्वदा दो समानान्तर प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहित

करना चाहिये। पहली है, 'परमाश्चर्यमय'के लिये तरसनेकी प्रवृत्ति, उस चीजकी प्यास जो अप्राप्य प्रतीत होती है, जो तुम्हें दिव्यत्वकी भावनासे भर देती है। परन्तु इसके साथ-ही-साथ, जब हम संसारकी ओर, जैसा कि यह है, देखें तो हमें यथार्थ शुद्ध, सच्चे निरीक्षणको उत्साहित करना चाहिये, पूरे ब्योरेकी यथार्थताके लिये समस्त कल्पनाओंको दूर करने, निरन्तर संयम रखने, एक अत्यन्त व्यावहारिक, अत्यन्त सतर्क विवेकशीलता-पर जोर देना चाहिये। ये दोनों बातें समानान्तर चलनी चाहिये। सामान्यतया, तुम इस विचारसे एकको मार देते हो कि यह दूसरेको बढ़ानेके लिये आवश्यक है। परन्तु यह एकदम गलत है। ये दोनों साथ-साथ रह सकती हैं और एक ऐसा क्षण भी है जब मनुष्यको यह देखनेका पर्याप्त ज्ञान रहता है कि ये दोनों एक ही वस्तुके दो पक्ष हैं और वही है दिव्य दृष्टि, उच्चतर विवेक। उस समय एक सीमित दर्शन और दिव्य दृष्टिके स्थानपर हमारा विवेक एकदम सच्चा, शुद्ध, यथातथ्य बन जाता है। पर वह विशाल होता है और अपने अन्दर एक ऐसे समूचे क्षेत्रको लिये रहता है जो अभीतक ठोस अभिव्यक्तिका अंग नहीं है।

शिक्षाके दृष्टिकोणसे यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण होगी।

संसार जैसा है, उसे ठीक-ठीक वैसा ही स्थूल रूपमें, अत्यन्त पार्थिव और ठोस ढंगसे देखना तथा जैसा वह हो सकता है उसे एक अत्यन्त मुक्त, अत्यन्त ऊंची, अत्यधिक आशा और अभीप्सा और अद्भुत निश्चयतासे भरी हुई सूक्ष्म-दृष्टिसे देखना — ये दोनों विवेकशक्तिके दो ध्रुवके समान छोर हैं। हम अत्यन्त महान्, अत्यन्त अद्भुत, अत्यन्त सशक्त, अत्यन्त अर्थ-पूर्ण और अत्यन्त संपूर्णके रूपमें जिसकी कल्पना कर सकते हैं वह उसके मुकाबले कुछ नहीं है जो यह हो सकता है और इसके साथ-ही-साथ ब्योरे-में जो हमारी छोटी-से-छोटी यथार्थता होगी वह कभी पर्याप्त यथार्थ नहीं होगी। और ये दोनों एक साथ रहने चाहिये। जब मनुष्य इसे (नीचे-की ओर संकेत) जानता है और जब उसे (ऊपरकी ओर संकेत) जानता है तब वह दोनोंको साथ रखनेमें समर्थ होता है।

और चमत्कारोंकी आवश्यकताका सबसे बढ़िया संभव उपयोग यही है। चमत्कारोंकी आवश्यकता अज्ञानकी एक भंगिमा है: "ओह! मैं चाहूंगा कि यह ऐसा हो!" यह अज्ञान और असमर्थताकी एक भंगिमा है। और जो लोग कहते हैं: "तुम चमत्कारोंमें निवास करते हो", वे केवल अन्तको देखते हैं जो नीचे होता है — फिर भी वे उसे केवल अपूर्ण रूपमें जानते हैं — और दूसरेके साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं होता।

चमत्कारकी यह आवश्यकता अवश्य बदलकर उस वस्तुके लिये एक सज्ञान अभीप्सा बन जानी चाहिये (जो पहलेसे ही मौजूद है, जो विद्यमान है), और इन सब अभीप्साओंकी **सहायतासे** प्रकट होगी — ये सब अभीप्साएं आवश्यक हैं या, यदि कोई उनकी ओर एक अधिक सच्चे तरीकेसे देखे तो, शाश्वत अभिव्यक्तिमें सहायक — सुन्दर सहायक हैं।

निस्संदेह, बहुत कठोर युक्ति-तर्कवाले लोग तुमसे कहते हैं : "तुम प्रार्थना क्यों करते हो ? तुम अभीप्सा क्यों करते हो ? तुम मांगते क्यों हो ? भगवान् जो चाहते हैं वही करते हैं और वही करेंगे जो वे चाहते हैं।" अवश्य ही बात ठीक है, यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु यह उत्कंठा कि : "हे भगवान् ! तू प्रकट हो !" उनकी अभिव्यक्तिको एक अधिक तीव्र स्पन्दन प्रदान करती है।

अन्यथा, उन्होंने, इस जगत्को वैसा न बनाया होता जैसा कि यह है — संसार जो कुछ है वही फिरसे बन जानेकी उसकी अभीप्साकी तीव्रता- में एक विशिष्ट शक्ति, एक विशिष्ट आनन्द, एक विशिष्ट स्पन्दन है।

और उसीके लिये — "उसीके लिये", अंशतः, खण्डशः — एक क्रम- विकास विद्यमान है।

शाश्वत रूपसे पूर्ण, शाश्वत परिपूर्णताको शाश्वत रूपसे अभिव्यक्त करने- वाला विश्व प्रगतिका आनन्द न पा सकेगा।

६-३-६३

८८ — इस जगत्को मृत्युने रचा था ताकि वह जी सके। क्या तू मृत्युको मिटा देगा ? तब जीवन भी समाप्त हो जायगा। तू मृत्युको मिटा नहीं सकता, किंतु उसे महत्तर जीवनमें रूपांतरित कर सकता है।

८९ — इस जगत्को क्रूरताने बनाया था ताकि वह प्रेम कर सके। क्या तू क्रूरताको विनष्ट कर देगा ? तब तो प्रेम भी नष्ट हो जायगा। तू क्रूरताको नष्ट नहीं कर सकता, परंतु उसे उसके विरोधी तत्त्व, तीक्ष्ण प्रेम और आनन्दोल्लासमें परिवर्तित कर सकता है।

९० — इस जगत्को अज्ञान तथा भूल-भ्रांतिने गढ़ा था ताकि वे जान सकें। क्या तू अज्ञान और भूल-भ्रांतिको दूर कर

देगा? तब तो ज्ञान भी विलीन हो जायगा। तू अज्ञान और भूल-भ्रांतिको दूर नहीं कर सकता, परंतु उन्हें विशुद्ध और प्रोज्ज्वल ज्ञानमें परिणत कर सकता है।

९१ — यदि केवल जीवन ही होता और मृत्यु न होती तो फिर अमरत्व नामकी कोई चीज ही न होती; यदि केवल प्रेम ही होता और क्रूरता न होती तो फिर आनंद केवल एक प्रकारका मंदा और क्षणस्थायी उल्लास ही रह जाता; यदि केवल ज्ञान ही होता और अज्ञान न होता तो हमारी अधिक-से-अधिक पहुंच एक सीमित तर्क-शक्ति और इहलौकिक विज्ञता-तक ही होती, उससे परे हम जा ही न पाते।

९२ — मृत्यु रूपांतरित होकर जीवन बन जाती है और वही है अमरत्व; क्रूरता परिवर्तित होकर प्रेम बन जाती है और वही है असह्य आनंदातिरेक; अज्ञान बदलकर प्रकाश बन जाता है जो ज्ञान और प्रज्ञाके भी परे जा पहुंचता है।

यह ठीक वही भावना है, अर्थात्, विरोध और विपरीतता प्रगतिके लिये एक प्रकारका उत्तेजक तत्त्व हैं। क्योंकि, यह कहना कि क्रूरताके बिना प्रेम कुनकुना या शिथिल होगा . . .। दिव्य प्रेमका तत्त्व अभिव्यक्त और अनभिव्यक्तके परे है, उसका शिथिलता या क्रूरताके साथ कोई संबंध नहीं है; केवल, श्रीअरविंदका विचार ऐसा प्रतीत होता है, कि विरोधी चीजें जड़-तत्त्वको इस तरह गढ़नेके लिये कि उसकी अभिव्यक्ति अधिक तीव्र हो सके, सबसे अधिक तेज और प्रभावकारी साधन हैं।

एक अनुभवके रूपमें यह बात बिलकुल ठीक है, इस अर्थमें ठीक है कि सबसे पहले, जब मनुष्य शाश्वत प्रेम, परात्पर प्रेमके संस्पर्शमें आता है तो तुरत उसे . . . (किन शब्दोंमें कहा जाय?) एक बोध, एक अनुभव होता है — यह एक प्रकारकी समझ नहीं है बल्कि बहुत ठोस चीज है — कि भौतिक चेतना चाहे जितनी भी आलोकित क्यों न हो, चाहे जितने अच्छे ढंगसे क्यों न ढली हो, चाहे जितने अच्छे रूपमें क्यों न तैयार की गयी हो, उस प्रेमको अभिव्यक्त करनेमें **असमर्थ** है! पहली धारणा इस प्रकारकी अक्षमताकी होती है। फिर आता है एक अनुभव, ठीक ऐसी चीज आती है जो उसका एक रूप प्रकट करती है जिसे हम ठीक "क्रूरता" तो नहीं कह सकते, क्योंकि यह वैसी क्रूरता नहीं है जैसी हम

जानते हैं, बल्कि यों कहें कि सारी परिस्थितियोंके बीच एक स्पंदन होता है जिसमें प्रेमको, जैसा कि वह यहां अभिव्यक्त है, अस्वीकार करनेका एक प्रकारका तीव्र भाव होता है। हां, वह यही है, भौतिक जगत्‌की कोई चीज जो प्रेमकी, जैसा कि अभी वह विद्यमान है, अभिव्यक्तिको अस्वीकार करती है। मैं यहां साधारण जगत्‌की बात नहीं कहती, मैं अभी अधिक-से-अधिक मात्रामें विद्यमान चेतनाकी बात कहती हूं। (यह एक अनुभव है, मैं एक ऐसी चीजकी बात कह रही हूं जो हो चुकी है)। अतएव, चेतनाका वह अंश जो इस विरोधसे स्पृष्ट हुआ है, प्रेमके मूलकी ओर एक सीधी पुकार भेजता है, उस पुकारमें **एक ऐसी तीव्रता होती है जो अस्वीकृतिके इस अनुभवके बिना कदापि उत्पन्न न हुई होती**। सीमाएं भंग हो जाती हैं और एक बाढ़ नीचे आ जाती है जो पहले अभिव्यक्त **न हो पाती** और एक ऐसी चीज प्रकट हो जाती है जो पहले प्रकट नहीं हुई थी।

इस दृष्टिसे देखें तो जिसे हम जीवन और मृत्यु कहते हैं उनके विषयमें स्पष्ट ही एक अनुरूप अनुभव विद्यमान है। यह अनुभव है इस प्रकार मृत्युकी उपस्थितिका "ऊपर छाये रहना" या निरंतर बने रहना और मृत्युकी संभावनाका होना, जिसका वर्णन 'सावित्री'में इस प्रकार किया गया है: बचपनके पालनेसे लेकर कब्रतक तुम्हारी पूरी यात्रामें निरंतर तुम्हारे साथ, मृत्युकी विभीषिका या उपस्थिति अनवरत रूपसे साथी बनी रहती है। और साथ-ही-साथ कोषोंमें विद्यमान है नित्यताकी शक्तिके लिये एक तीव्र पुकार जो इस सतत विभीषिकाके कारण है, अन्यथा कभी न होती। इस तरह हम समझ पाते हैं, बिलकुल ठोस रूपमें यह अनुभव करना आरंभ करते हैं कि ये सब चीजें 'अभिव्यक्ति'को तीव्र बनानेके तरीके हैं, उसकी प्रगति करानेके, **उसे** अधिकाधिक पूर्ण बनानेके मार्ग हैं। और यदि ये मार्ग भद्दे हैं तो इसका कारण यह है कि स्वयं यह 'अभिव्यक्ति' बहुत भद्दी — अपरिपक्व है। और जैसे-जैसे यह अपनेको पूर्ण बनायेगी, जैसे-जैसे वह उस चीजको अभिव्यक्त करनेके योग्य बनती जायगी जो **शाश्वत रूपसे प्रगतिशील** है, वैसे-वैसे भद्दे साधन पीछे छूटते जायंगे और उनके स्थानपर सूक्ष्मतर साधन आते जायंगे और ऐसे क्रूर विरोधोंकी आवश्यकताके बिना संसार आगे बढ़ता जायगा। यह केवल इसलिये ऐसा है कि संसार अभी अपने बचपनमें है और मानव चेतना भी एकदम बचपनकी अवस्थामें है।

यह बहुत ही ठोस अनुभव है।

अतएव, जब प्रगति करनेके लिये पृथ्वीको मरनेकी आवश्यकता नहीं होगी तब मृत्यु भी न रहेगी। जब प्रगति करनेके लिये पृथ्वीको दुःख-कष्ट

उठानेकी आवश्यकता न रहेगी तब दुःख-कष्ट भी न रहेगा। और जब प्रेम करनेके लिये पृथ्वीको घृणा करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी तो फिर घृणा भी न रहेगी।

(मौन)

सृष्टिको उसके तमस्‌से बाहर निकाल लाने और उसकी उन्नतिके शिखर-तक आगे बढ़ा ले जानेका यह बहुत ही तेज और बहुत ही फलदायी साधन है।

(दीर्घ मौन)

सृष्टिका एक विशेष पक्ष है (जो शायद बहुत आधुनिक पक्ष है) — वह है अव्यवस्था और अस्तव्यस्ततासे बाहर निकल आनेकी आवश्यकता। अस्तव्यस्तता असमंजसतासे उत्पन्न होती है। यह अस्तव्यस्तता, यह अव्य-वस्था सब प्रकारके रूप ग्रहण करती है, यह संघर्षमें, निरर्थक प्रयासमें, अपव्ययमें परिवर्तित हो जाती है। यह निर्भर है उस स्तरपर जिसमें तुम हो, परन्तु भौतिक स्तरपर, कार्यमें इसका मतलब होता है व्यर्थकी जटिलता, शक्ति और सामग्रीका अपव्यय, समयकी हानि, नासमझी, गलतफहमी, क्रम-भंग, गड़बड़झाला। यही वह चीज है जिसे पुराकालमें वेदोंमें कहा गया था वक्रता (एक ऐसी चीज जो मुड़ी है, जो सीधे लक्ष्यकी ओर जानेके बदले व्यर्थ ही टेढ़ा-मेढ़ा और नुकीला रास्ता पकड़ लेती है)। यह एक ऐसी चीज है जो विशुद्ध दिव्य कर्मकी सुसमंजसताके एकदम विपरीत है; दिव्य कर्म कितना सरलतापूर्ण होता है।... वह बालसुलभ प्रतीत होता है, बेढंगे और पूरे निरर्थक चक्करोंके स्थानपर सीधा, बिलकुल सीधा! परन्तु यह स्पष्ट है कि यह (अस्तव्यस्तता) भी वही चीज है; अस्तव्यस्तता विशुद्ध और दिव्य सरलताकी आवश्यकताको उद्दीप्त करनेका एक तरीका है।

शरीर बहुत, बहुत अधिक अनुभव करता है कि प्रत्येक चीज सरल, एक-दम सरल होती!

और शरीरको इस प्रकारके एकत्रीकरण या संयमको — अपने-आपको रूपान्तरित करने योग्य बनानेके लिये बस एक ही चीजकी आवश्यकता है, अपने-आपको सरल बनानेकी, सरल बनानेकी, सरल बनानेकी। प्रकृतिकी ये सब जटिलताएं, जिन्हें आजकल लोग समझने लगे हैं और जिनका अध्ययन करने लगे हैं, जो मामूली-से-मामूली बातके लिये इतनी

जटिल हैं (हमारी मामूली-से-मामूली क्रिया एक ऐसे जटिल संगठनका परिणाम होती है जो प्रायः अचिंत्य है — निःसंदेह, इन सब चीजोंको पहलेसे देख लेना और उन्हें संयुक्त करना मानव विचारशक्तिके लिये असंभव ही होता), आजकल विज्ञान इनका आविष्कार कर रहा है। और हम बहुत स्पष्ट रूपमें देखते हैं कि यदि इस क्रियाको दिव्य होना हो, अर्थात्, यदि इस अव्यवस्था और अस्तव्यस्ततासे त्राण पाना हो तो इसे सरल, बिलकुल सीधा-सादा, सरल रूप लेना होगा।

(दीर्घ मौन)

कहनेका मतलब, प्रकृतिमें, अथवा यों कहें कि, स्वयं प्रकृति आत्माभिव्यक्तिके अपने प्रयासमें एक अविश्वसनीय, लगभग अनन्त-असीम जटिलताका आश्रय लेनेके लिये बाध्य हुई ताकि वह मूल 'सरलताको' पुनः प्रकट कर सके।

और तुम फिर उसी बातपर वापस आ जाते हो। जटिलताकी अधिकतामेंसे ही ऐसी सरलताकी संभावना आती है जो खाली नहीं बल्कि भरी होगी। एक ऐसी सरलता होगी जिसमें सब कुछ होगा; जब कि इन जटिलताओंके बिना सरलता एक खोखली चीज होगी।

लोग ऐसी खोजें करनेके पथपर हैं। उदाहरणार्थ, शरीर-रचनाशास्त्रमें, वे शल्य-चिकित्साके लिये आविष्कार कर रहे हैं और वे आविष्कार अविश्वसनीय रूपसे जटिल हैं! यह प्रायः 'जड़ पदार्थ'के तत्त्वोंके विभाजनके जैसा है — कितनी भयंकर जटिलता है! और इन सबका लक्ष्य है, इन सबका प्रयास है एकत्वको अभिव्यक्त करना, एकमात्र सरलताको — भागवत स्थितिको प्रकट करना।

(मौन)

संभवतः यह शीघ्रतासे होगा...। परन्तु प्रश्न घटकर यह रूप ले लेता है — उस सद्वस्तुको आकर्षित करनेकी एक पर्याप्त, **पर्याप्त** — तीव्र और फलदायी — अभीप्सा जो रूपान्तर कर सकती है, जटिलताको 'सरलता'में, क्रूरताको 'प्रेम'में रूपान्तरित कर सकती है, इसी तरह और भी...।

यह शिकायत करने और कहनेसे कोई लाभ नहीं कि यह कितनी दयनीय स्थिति है। क्योंकि यह ऐसी ही है। यह ऐसी क्यों है?... संभवतः, यह जब ऐसी न रहेगी तब हम जानेंगे। यही बात दूसरे ढंगसे

कही जा सकती है, यदि हम जान जायं तो फिर यह ऐसी न रहेगी।

फिर यह कल्पना-जल्पना : "यदि यह ऐसी न होती तो कहीं अच्छा होता," आदि-आदि, यह सब व्यावहारिक नहीं है, इससे कोई काम नहीं बनता, यह निरर्थक है।

जो कुछ आवश्यक है उसे करनेकी शीघ्रता करनी चाहिये ताकि यह ऐसी न रहे; बस, यही है एकमात्र व्यावहारिक चीज।

शरीरके लिये यह बहुत मजेदार बात है। पर यह एक पहाड़ है, अनुभूतियोंका एक पर्वत है, देखनेमें बहुत छोटे पर बहुत्वमें इनका अपना स्थान है।[1]

१५-५-६३

९३ — दुःख-दर्द हमारी दिव्य जननीका स्पर्श है जो हमें यह सिखाती है कि किस तरह सहन किया जाता और आनंद-में वर्द्धित हुआ जाता है। उस माताकी शिक्षाके तीन स्तर हैं — सबसे पहले सहनशीलता, फिर अंतरात्माकी समता और अंतमें परमानंद।

जहांतक नैतिक बातोंसे सम्बन्ध है, यह बिलकुल स्पष्ट है, इसमें तर्क करने-की कोई गुंजायश नहीं — सभी नैतिक कष्ट तुम्हारे स्वभावको बनाते हैं और तुम्हें सीधे आनन्दतक ले जाते हैं, बशर्ते कि तुम यह जानो कि उन्हें कैसे लिया जाय। परन्तु जब वे शरीरको छूते हैं . . .।

यह सच है कि डाक्टरोंने कहा है कि यदि तुम शरीरको यह सिखाओ कि दर्दको कैसे सहा जाता है तो शरीर अधिकाधिक सहनशील बन जाता है और शीघ्रतासे उसके भंग होनेकी संभावना कम हो जाती है — यह एक परिणाम है। जो लोग यह जानते हैं कि कहीं कोई दर्द होनेपर एक-दम विचलित हुए बिना कैसे रहा जाता है, जो चुपचाप बर्दाश्त कर सकते हैं, अपनी मानसिक समतोलता बनाये रखते हैं, ऐसा लगता है कि उनमें

---

[1]जब यह व्याख्या छपनेके लिये जा रही थी तब माताजीने यह टिप्पणी की : "विद्वान लोग इसे अस्वीकार करेंगे, वे कहेंगे कि यह सब फालतू बातें हैं; परन्तु इसका कारण यह है कि मैं उनके शब्दोंका व्यवहार नहीं कर रही हूं, यह सिर्फ शब्दोंका प्रश्न है।"

किसी प्रकारकी अस्तव्यस्तताके बिना व्याधि सहनेकी शारीरिक क्षमता बढ़ जाती है। यह एक बहुत बड़ी चीज है। मैंने स्वयं अपने सामने यह प्रश्न रखा, विशुद्ध व्यावहारिक, बाह्य दृष्टिसे रखा, और ऐसा लगा कि बात ऐसी ही है। आन्तरिक रूपसे यह बात मुझसे बहुत बार कही गयी थी — कही गयी और छोटे-छोटे अनुभवोंद्वारा दिखायी गयी — कि शरीरके विषयमें जितना माना जाता है वह उससे बहुत अधिक सह सकता है बशर्ते कि दुःख-दर्दके साथ भय और दुश्चिंताको न जोड़ दिया जाय। यदि इस मानसिक क्रियाको हटा दिया जाय, शरीरको अकेला छोड़ दिया जाय, उसे इस बातका कोई डर या आशंका या दुश्चिंता न हो कि क्या होने जा रहा है — कोई क्लेश-संताप न हो — तो शरीर बहुत अधिक सह सकता है।

दूसरा कदम है, जब शरीरने सहनेका निर्णय कर लिया है (हां, जब वह सहन करनेका निश्चय कर लेता है), तब तुरत तीक्ष्णता, दर्दके अन्दर जो कुछ उग्र है वह विलीन हो जाता है। मैं एकदम भौतिक बात कह रही हूं।

और यदि तुम शान्त-स्थिर बने रहो (यहां एक आन्तरिक शान्तिकी आवश्यकता आ जाती है जो दूसरा विशिष्ट तत्त्व है), यदि तुम्हारे अन्दर आन्तरिक शान्ति विद्यमान हो तो दर्द लगभग एक सुखदायी संवेदनके रूपमें बदल जाता है — "सुखदायी" उस अर्थमें नहीं जिस अर्थमें साधारणतया लोग इस शब्दको लेते हैं, बल्कि एक प्रकारके आरामका बोध होता है। मैं यहां फिर एक विशुद्ध भौतिक, स्थूल चीजकी बात कह रही हूं।

और अन्तिम स्तर है, जब शरीरके कोषाणुओंमें भागवत उपस्थिति और सर्वोच्च भागवत संकल्पपर श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न हो जाता है, जब उन्हें इस बातका भरोसा हो जाता है कि सब कुछ भलेके लिये है, तब आता है महान् आनन्दानुभव — कोष खुल जाते हैं, इस ढंगसे, और ज्योतिर्मय तथा आनन्दविभोर बन जाते हैं।

यह हो जाती है चौथी अवस्था (यहां प्रश्न केवल तीन ही अवस्थाओं-का है)।

अन्तिम अवस्था संभवतः प्रत्येक व्यक्तिकी पहुंचके अन्दर नहीं है, परन्तु पहली तीनों अवस्थाएं बिलकुल स्पष्ट हैं — मैं **जानती हूं** कि वे स्पष्ट हैं। परन्तु मेरे सामने जो प्रश्न था वह केवल यह था कि यह कोई शुद्ध मान-सिक अनुभव तो नहीं है, केवल इसी कारण कि वेदनाको सहन किया गया है शरीरमें कुछ घिसाई और टूट-फूट तो नहीं होती; परन्तु मैंने डाक्टरों-

से पूछा और उन्होंने मुझे बताया कि यदि बचपनमें ही शरीरको कष्ट सहना सिखाया जाय तो सहनेकी शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह वास्तवमें रोगोंको रोक सकती है, अर्थात्, रोग अपनी धाराका अनुसरण नहीं करते, उनकी क्रिया रुक जाती है। यह एक बहुमूल्य चीज है।

१०-८-६३

९४ — सभी त्याग एक ऐसे महत्तर आनंदके लिये किये जाते हैं जिसे अभीतक हमने हस्तगत नहीं किया है। कुछ लोग कर्तव्य पूरा करनेके आनंदके लिये त्याग करते हैं, कुछ शांतिके आनंदके लिये, कुछ भगवान्‌के आनंदके लिये और कुछ आत्म-पीड़नका आनंद पानेके लिये त्याग करते हैं। परंतु इससे कहीं अच्छा यह है कि तुम विश्वातीत स्वतंत्रता तथा अक्षुब्ध परमानंदतक पहुंचनेके लिये त्याग करो।

मुझे त्यागका बहुत अधिक अनुभव नहीं है — क्योंकि त्यागकी भावना होनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य चीजोंसे चिपका हो, और बराबर ही और आगे जानेकी, और भी ऊंचे उठनेकी, और भी अधिक अच्छा, बहुत अच्छा करनेकी, और अच्छा होनेकी प्यास हो, आवश्यकता महसूस हो। त्यागकी भावनाका अनुभव करनेके बदले तुम एक अच्छे छुटकारेका अनुभव करते हो — तुम किसी चीजसे छुट्टी पा जाते हो, ऐसी चीजसे छुटकारा पा जाते हो जो तुमपर बोझ बनी थी, जो तुम्हें नीचे दबाये थी, तुम्हारी अग्रगतिको रोक रही थी। यही बात मैंने उस दिन कही थी : हम अभी वही चीज हैं जो हम होना नहीं चाहते और वह (भगवान्) वह सब हैं जो हम बनना चाहते हैं — अपनी अहं-कारजन्य मूर्खताके साथ जिसे हम, अपना "हम" कहते हैं वह ठीक वही चीज है जो हम अब नहीं रहना चाहते, और हम उसे झाड़ फेंकनेपर, उससे मुक्त हो जानेपर कितने प्रसन्न होंगे, क्योंकि फिर हम वह हो सकेंगे जो कि होना चाहते हैं।

यह एक बहुत ही सजीव अनुभव है।

एकमात्र क्रिया जिसे मैं जानती थी और जो मेरे जीवनमें कई बार दोहरायी गयी है वह है भूलका त्याग। कोई चीज होती है जिसे तुम सत्य मानते हो — जो किसी समय शायद सत्य थी भी —, जिसके ऊपर तुम अंशतः अपने कार्यको आधारित करते हो, जो वास्तवमें केवल एक राय थी।

तुमने समझा था कि वह चीज एक सच्चा अनुमान था और उसके साथ सभी युक्तिसंगत तर्क संलग्न थे, और तुम्हारा कार्य (कार्यका एक अंश) उसपर आधारित था और उसके साथ सम्बन्धित सभी बातोंका क्रम स्वाभाविक था। और एकाएक, एक अनुभव, एक वातावरण या एक अन्तःप्रेरणा तुम्हें सावधान करती है कि तुम्हारा निर्णय उतना सत्य नहीं है जितना प्रतीत होता है। फिर एक समूचा निरीक्षण या अध्ययन-काल आता है (अथवा कभी-कभी बात एक अन्तःप्रकाशके रूपमें, एक महान् प्रमाणके रूपमें आती है), और तब केवल भावना या मिथ्या ज्ञान ही नहीं बल्कि समस्त निष्कर्षको बदल देना पड़ता है, शायद किसी बिन्दुपर संपूर्ण क्रिया-पद्धति ही बदलनी पड़ती है। उस समय एक प्रकारका संवेदन होता है, एक ऐसी चीज होती है जो त्यागके संवेदनसे मिलती-जुलती है — यानी, उस समय तुम्हें उन सारी चीजोंको रद्द कर देना पड़ता है जिन्हें तुमने बनाया था — कभी-कभी यह कार्य काफी बड़ा होता है और कभी-कभी बहुत छोटा, पर अनुभव एक जैसा ही होता है। यह एक बलकी क्रिया, शक्तिकी क्रिया होती है जो भंग करती है। और जो कुछ भंग किया जाता है उससे, सभी पुरानी आदतोंसे एक बाधा उठती है; यह भंग होने और साथ-साथ लगी बाधाकी क्रिया ही साधारण मानव चेतनामें त्यागकी भावनाके रूपमें प्रकट होती है।

मैंने इसे अभी हालमें ही देखा है; यह नगण्य है; वे सब ऐसी परिस्थितियां हैं जिनका अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं। जब उन सबका एक साथ अध्ययन किया जाता है तभी ये मजेदार बन जाती हैं और केवल यही क्रिया है जो मेरे जीवनमें कई बार हुई है और इसलिये मैं इसे भली-भाँति जानती हूं। जैसे ही सत्ता आगे बढ़ती है विघटनकी शक्ति भी बढ़ती है, अधिकाधिक प्रत्यक्ष बन जाती है और बाधा कम होने लगती है। परन्तु मुझे एक ऐसे समयकी याद है जब अधिक-से-अधिक बाधाएं थीं (इस बातको आधी शताब्दी बीत चुकी है); और उस समय इसके अतिरिक्त और कुछ भी न था, यह हमेशा मेरे बाहरकी चीज होती थी — मेरी चेतनासे बाहर नहीं बल्कि मेरे संकल्पके बाहरकी — कोई ऐसी चीज थी जो मेरे संकल्पका विरोध करती थी। मुझे कभी यह नहीं लगा कि मैंने किसी चीजका त्याग किया हो, मुझे हमेशा यही धारणा हुई कि मैं वस्तुओंके विलीन होनेके लिये उनपर दबाव डालती रही हूं। पर अब, अधिकाधिक दबाव भी अगोचर होता जा रहा है; वह तुरत-फुरत कार्य करता है, जैसे ही वस्तुओंके समूहको भंग करनेवाली शक्ति प्रकट होती है सब कुछ विलीन हो जाता है, कोई प्रतिरोध नहीं होता। दूसरी ओर, मुक्ति-

का भाव भी मुश्किलसे आता है — फिर भी एक चीज होती है जो मजा लेती और कहती है: "ओह! अभी और भी है!" कितनी बार मनुष्य स्वयं अपने-आपको सीमित कर देता है...! कितनी बार तुम समझते हो कि तुम आगे बढ़ रहे हो, निरन्तर बढ़ रहे हो, बिना किसी बाधाके, बिना रुके हुए और कितनी बार तुम अपने आगे एक छोटी-सी सीमा खड़ी कर लेते हो! यह कोई बड़ी सीमा नहीं होती क्योंकि यह एक विशाल समग्रके अन्दर एक बहुत छोटी चीज होती है पर यह तुम्हारे कार्यके सामने एक छोटी-सी सीमा बन जाती है। और जब शक्ति उस सीमाको भंग करनेके लिये कार्य करती है तब तुम आरंभमें अपनेको मुक्त अनुभव करते हो, तुम्हें प्रसन्नता होती है; परन्तु अब, उतना भी नहीं रहता, बस एक मुस्कान होती है। क्योंकि यह मुक्तिका बोध नहीं होता, बस ऐसा प्रतीत होता है मानों रास्तेपरसे एक पत्थर हट गया है ताकि हम आगे बढ़ सकें।

यह त्यागकी भावना एक अहंकेन्द्रित चेतनामें ही आ सकती है। स्वभावतः लोग (जिन्हें मैं एकदम आदिम कहती हूं) चीजोंसे चिपक जाते हैं — जब उनके पास कोई चीज होती है तो वे उसे छोड़ना नहीं चाहते! यह चीज मुझे कितनी बचकानी लगती है।... जब कभी इन्हें, इन लोगोंको, कुछ देना पड़ता है तो इन्हें कष्ट होता है! क्योंकि इनके पास जो चीज होती है उसके साथ ये एकात्म हो जाते हैं। परन्तु यह बचपन है। सच्ची प्रक्रिया जो पीछेकी ओर है वह है वस्तुओंमें विद्यमान बाधा-की मात्रा जो एक विशेष ज्ञानके आधारपर निर्मित है — जो एक विशेष समयमें ज्ञान था और जो दूसरे समयमें नहीं — एक आंशिक ज्ञान था, जो क्षणिक तो नहीं पर स्थायी भी नहीं था। इसी ज्ञानपर वस्तुओंकी संपूर्ण रचना हुई है जो यह कहनेवाली शक्तिका विरोध करता है: "नहीं, यह सत्य नहीं है (हंसती हैं), तुम्हारा आधार सच्चा नहीं रहा, वह हटा दिया गया है।" और फिर आह! वह दुःखदायी होता है — यही वह चीज है जिसे लोग त्यागके रूपमें अनुभव करते हैं।

> वास्तवमें त्याग करना कठिन नहीं होता बल्कि स्वीकार करना कठिन होता है (माताजी मुस्कराती हैं), जब मनुष्य जीवनको उस रूपमें देखता है जैसा कि अभी वह है...। परन्तु फिर यदि मनुष्य स्वीकार करता है तो उस सबके बीच कैसे रहा जाय और कैसे यह अक्षर आनन्द पाया जाय — अक्षर आनन्द वहां नहीं बल्कि यहांसे पाया जाय?

मेरे लिये सप्ताहोंतक यह समस्या रही है।

मैं इस निर्णयपर पहुंची हूं : तत्त्वतः, चेतना और भगवान्‌के साथ एकत्व ही वह चीज है जो आनन्द प्रदान करती है — वह सिद्धान्त है —, अतएव, चेतना और भगवान्‌के साथ एकत्व, चाहे यह इस जगत्‌में हो जैसा कि यह है, अथवा भावी जगत्‌के निर्माणके अंदर हो, एक ही होना चाहिये — तत्त्व रूपमें। मैं अपने-आपसे सब समय यही कहती हूं : "यह क्या बात है कि तुम्हें यह आनन्द नहीं प्राप्त होता?"

मुझे यह प्राप्त है — जब समूची चेतना एकत्वमें एकाग्र हो जाती है; किसी भी क्षण, किसी भी चीजके बीच, चेतनाके एकत्वपर एकाग्र होनेकी यह क्रिया होते ही आनन्द आ जाता है। परंतु मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि ज्यों ही मैं इसमें कार्यरत होती हूं त्यों ही वह विलीन हो जाता है...। यह एक जगत् है, पर बहुत ही अस्तव्यस्त जगत्, श्रमका जगत् है जहां मैं अपने चारों ओरके लोगों और वस्तुओंपर कार्य करती हूं। अतएव, आवश्यक रूपसे मैं उन सबको एक प्रकारसे ग्रहण करनेके लिये बाध्य होती हूं जो मुझे घेरे होते हैं ताकि मैं उनपर कार्य कर सकूं। मैं उस अवस्थाको पहुंच गयी हूं जिसमें सभी प्रकारके संस्पर्श, यहांतक कि अत्यन्त दुःखदायी समझे जानेवाले संस्पर्श भी, मुझे पूर्णतः शान्त और उदासीन छोड़ देते हैं — "उदासीन" पर निष्क्रिय उदासीन नहीं : उस समय किसी प्रकारकी कोई कष्टदायी प्रतिक्रिया नहीं होती, पूर्ण तटस्थता बनी रहती है (शाश्वतकी ओर इशारा करती हुई भंगिमा), पूर्ण समताकी स्थिति विद्यमान रहती है। परंतु इस समतामें इस बातका सुनिश्चित ज्ञान होता है कि क्या करना चाहिये, क्या कहना चाहिये, क्या लिखना चाहिये, क्या निश्चय करना चाहिये, वास्तवमें प्रत्येक चीजका ज्ञान रहता है जो कर्मको अंतर्भूत करता है। वह सब पूर्ण तटस्थताकी स्थितिमें होता है और साथ-ही-साथ शक्तिका बोध भी बना रहता है : शक्ति निर्णय करती है, शक्ति कार्य करती है, और तटस्थता बनी रहती है — परंतु कोई आनंद नहीं रहता। मुझमें उत्साह नहीं होता, आनन्द और कार्यका पूर्णत्व नहीं होता।

मुझे यहां यह भी कह देना चाहिये कि संसारकी वर्तमान अवस्थामें इस आनन्दकी चेतनाकी स्थिति खतरनाक होगी। क्योंकि इसकी ऐसी प्रतिक्रियाएं होती हैं जो करीब-करीब निरपेक्ष होती हैं — मैं देखती हूं कि आनन्दकी इस स्थितिमें एक भी...ष...ण शक्ति होती है। परंतु मैं "भीषण" शब्दपर जोर दे रही हूं, इस अर्थमें भीषण कि वह असहिष्णु या असह्य होती है — बल्कि असह्य होती है — उन सबके लिये जो अनु-

रूप नहीं होते। जो चीज परात्पर दिव्य प्रेम है ठीक वही चीज या लगभग वही चीज (एकदम वही नहीं पर लगभग) यह भी है; इस आनन्द या परम सुखका स्पन्दन दिव्य प्रेमके स्पन्दनका ठीक एक छोटा-सा प्रारंभिक रूप है, और यह पूर्ण रूपसे — हां, इसके लिये कोई दूसरा शब्द नहीं है — असहिष्णु है, इस अर्थमें कि यह किसी ऐसी चीजका प्रवेश नहीं होने देता जो इसके विपरीत हो।

ऐसी हालतमें सामान्य चेतनाके लिये स्वभावतः ही उसके परिणाम भयावह होंगे, है न? इसे मैं बिलकुल अच्छी तरह देखती हूं, क्योंकि कभी-कभी यह शक्ति आती है — यह शक्ति आती है और तब तुम्हें ऐसा लगता है कि हर चीज फट जायगी। क्योंकि यह एकत्वके सिवा और किसी चीजको सहन नहीं कर सकती, यह स्वीकार करनेवाले प्रत्युत्तरके अतिरिक्त और किसी चीजको बर्दाश्त नहीं कर सकती, ग्रहण करने और स्वीकार करनेवाली चीजको छोड़कर कुछ नहीं सह सकती। और यह कोई मनमानी इच्छा नहीं है, बल्कि इसकी सत्ताका तथ्य अपने-आपमें सर्वशक्तिमान् है, उस अर्थमें, "सर्वशक्तिमान्" नहीं जिस अर्थमें लोग सर्वशक्तिमान् समझते हैं, बल्कि एक सच्ची सर्वशक्तिके रूपमें। यानी, वह शक्ति संपूर्ण रूपसे, सर्वांगीण रूपसे, ऐकान्तिक भावसे विद्यमान रहती है। वह सबको धारण करती है, पर जो कुछ उसके प्रकंपनके विपरीत होता है वह, स्वभावतः ही, परिवर्तित होनेके लिये बाधित होता है, क्योंकि कोई चीज विलीन तो हो नहीं सकती। और यह परिवर्तन तुरत-फुरत होनेवाला, जिसे हम नृशंस, निरंकुश कह सकते हैं, इस जगत्में जैसा कि यह है, बड़ा अनर्थकारी होता है।

यही वह उत्तर है जो मुझे अपनी समस्याके लिये प्राप्त हुआ।

चूंकि यह ऐसा था इसलिये मैंने अपने-आपसे कहा: "क्यों?" मैं जो हूं... किसी भी क्षण मुझे यह करना है (ऊपरकी ओर इशारा) और यह है... सिवा परम प्रभुके और कुछ नहीं है, सब कुछ 'वही' है — पर एक ढंगसे इतना निरपेक्ष कि जो कुछ 'वह' नहीं है वह सब विलीन हो जाता है! अब फिर अनुपात की बात (हंसती हैं), ऐसी बहुत अधिक चीजें होंगी जिन्हें विलीन होना होगा!

मैं इसे समझ गयी।

१७ और २४-८-६३

९५ — कामनाके पूर्ण त्यागसे या कामनाकी पूर्ण संतुष्टिसे ही भगवान्‌के साथ पूर्ण मिलनकी अनुभूति हो सकती है, क्योंकि इन दोनों तरीकोंसे आवश्यक शर्त्त पूरी हो जाती है — कामनाका नाश हो जाता है।

इच्छा या कामनाको पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट करना असंभव है, यह एकदम असंभव कार्य है, और ऐसे ही इच्छाका त्याग करना भी। तुम एक इच्छाका त्याग करते हो और दूसरी पैदा हो जाती है। अतएव, दोनों कार्य सापेक्ष रूपमें असंभव हैं। संभव है केवल ऐसी अवस्थाको प्राप्त करना जिसमें इच्छा हो ही नहीं।

(लंबा मौन)

यह खेदका विषय है कि मैं आती हुई सब अनुभूतियोंको लेखबद्ध नहीं कर सकती। कारण, ठीक इन्हीं दिनों और इस पूरे कालमें यहां उस सच्ची क्रियाका एक बहुत स्पष्ट बोध विद्यमान था जो कि सर्वोच्च इच्छाकी अभिव्यक्ति है, यह सर्वोच्च इच्छा व्यक्ति-रूपी साधनके द्वारा सहज, स्वाभाविक रूपमें अनायास ही अनूदित हो जाती है, यह भी कहा जा सकता है कि शरीरके द्वारा अनूदित होती है — (क्योंकि मन शान्त होता है और शान्त बना रहता है)। उस क्षणका एक और भी बोध है जब कि भागवत संकल्पकी यह अभिव्यक्ति इच्छाकी उत्पत्ति और एक ऐसे विशेष स्पन्दनके कारण क्षुब्ध और विकृत हो जाती है जिसका अपना एक विशिष्ट गुण होता है और जिसकी उत्पत्तिके भी अनेक प्रत्यक्ष कारण होते हैं। यह केवल किसी वस्तुकी प्यास, किसी वस्तुकी आवश्यकता या किसी वस्तुसे आसक्ति नहीं होती। उदाहरणार्थ, इस स्पन्दनकी उत्पत्तिका एक कारण यह भी हो सकता है कि व्यक्त संकल्प सर्वोच्च संकल्पकी अभिव्यक्ति प्रतीत होता है या हर हालतमें उसे सर्वोच्च संकल्पकी अभिव्यक्ति माना गया था, किन्तु उस तात्कालिक क्रियाके, जो स्पष्ट ही सर्वोच्च संकल्पकी अभिव्यक्ति थी, और उसके परिणाम, जो कि आना चाहिये था, उसके बीच कुछ गड़बड़ी पैदा हो गयी — यह एक ऐसी भूल है जिसे व्यक्ति प्रायः ही करता है। तुम्हें ऐसा सोचनेका अभ्यास है कि जब तुम 'वह' चाहते हो तो तुम्हें 'वही' मिलना चाहिये, कारण, तुम्हारी दृष्टि बहुत संकुचित है — बहुत संकुचित और बहुत सीमित — जब कि वस्तुतः 'समग्र'को देख सकना चाहिये जो तुम्हें यह बताता है कि यह स्पन्दन कुछ अन्य स्पन्दनोंको आरंभ करनेके लिये

आवश्यक है और सबको अपने अन्दर समाविष्ट करनेवाला **समग्र** ही किसी परिणामको उत्पन्न करेगा — यह परिणाम वर्तमान स्पन्दनका तात्कालिक फल नहीं है। मुझे पता नहीं यह बात तुम्हारे सामने स्पष्ट हुई या नहीं, पर है यह एक सतत अनुभूति ही।

और ठीक इसी कालमें, मैंने इस तथ्यका अध्ययन और निरीक्षण किया है कि किस प्रकार इच्छाका यह स्पन्दन सर्वोच्च सत्ताद्वारा उत्पादित संकल्पके स्पन्दनके साथ — प्रतिदिनकी छोटी-छोटी क्रियाओंके लिये — जोड़ा गया है और ऊपरकी दृष्टिके द्वारा (हां, यदि व्यक्ति इस ऊपरकी दृष्टिके प्रति सचेतन होनेका ध्यान रखे) व्यक्ति देखता है कि किस प्रकार यह स्पन्दन ठीक वही था जिसे सर्वोच्च सत्ताने उत्पन्न किया है, किन्तु सतही स्थूल चेतनाद्वारा प्रतीक्षित तात्कालिक परिणामको पानेके स्थान-पर, उसका कार्य सभी स्पन्दनोंको आरंभ करना और एक अन्य अधिक सुदूर और पूर्ण परिणामको प्राप्त करना था। मैं कोई बहुत बड़ी वस्तुओंकी बात नहीं कह रही और न ही पार्थिव क्रियाओंकी; मैं केवल जीवनकी छोटी-छोटी क्रियाओंकी चर्चा कर रही हूं: उदाहरणार्थ, मैं किसी-से कहती हूं: "मेरे लिये वह लाओ", और वह बिना समझे उस वस्तुको लानेके स्थानपर दूसरी वस्तु ले आता है। तब यदि व्यक्ति 'समग्र'की दृष्टि रखनेकी परवाह न करे, तो एक विशेष स्पन्दन उत्पन्न हो सकता है, इसे अधैर्य अथवा संतोषके अभावका स्पन्दन कह सकते हैं। साथ ही यह भी आभास मिलता है कि भगवान्के स्पन्दनको न किसीने समझा है और न ग्रहण किया है। हां, तो इसके अतिरिक्त छोटे-से स्पन्दनमें जो कि या तो अधैर्यका होता है या फिर जो कुछ होता है उसके प्रति अज्ञानका, ग्रहणशीलता या प्रत्युत्तरके अभावके ही इस आभासमें इच्छाके गुण हैं — इसे इच्छा नहीं कह सकते पर यह है उसी प्रकारका स्पन्दन — यही वस्तुओंको जटिल बनानेके लिये आती है। यदि व्यक्तिकी दृष्टि पूर्ण और यथार्थ हो, तो वह जानता है कि ये शब्द "मुझे वह दो" तात्कालिक परिणामको नहीं, बल्कि एक अन्य वस्तुको उत्पन्न करेंगे और यह अन्य वस्तु फिर एक और ही वस्तुको ले आयेगी और अब यह वस्तु ठीक वही होगी जो होनी चाहिये। मैं नहीं जानती, मेरी यह बात तुम्हारे सामने स्पष्ट हुई है या नहीं क्योंकि यह जरा जटिल है। किन्तु इसने ही मुझे सर्वोच्च संकल्पके स्पन्दन और इच्छाके स्पन्दनके **बीचके** अन्तरकी कुंजी प्रदान की थी, इसके साथ ही एक अधिक विशाल और सर्वांगीण दृष्टिके द्वारा इच्छाके स्पन्दनको निकाल देनेकी संभावना भी मेरे सामने आयी — यह दृष्टि अधिक विशाल, अधिक समग्र और अधिक सुदूरकी

वस्तु थी, दूसरे शब्दोंमें, यह एक विशालतर समष्टिकी दृष्टि थी।

मैं इस बातपर आग्रह करती हूं, क्योंकि यह समस्त नैतिक तत्त्वको दूर कर देती है। इच्छाके निन्दात्मक विचारको दूर कर देती है। यह दृष्टि भले और बुरेके, शुभ और अशुभके, उच्च और निम्न आदिके सभी विचारोंको भी अधिकाधिक दूर कर देती है। तब वहां रह जाती है केवल एक वस्तु जिसे स्पन्दनशील गुणका अन्तर कह सकते हैं — "गुण" फिर भी उच्चतर या निम्नतरका आभास देता है, यह गुण नहीं होता और न ही तीव्रता होती है। मुझे पता नहीं एक स्पन्दनको दूसरे स्पन्दनसे अलग करनेके लिये कौन-से वैज्ञानिक शब्दका प्रयोग किया जाता है, पर है यह वही।

और तब देखने योग्य बात यह है कि वह स्पन्दन, जिसे भगवान्द्वारा उद्भूत स्पन्दनका गुण भी कह सकते हैं, रचनात्मक होता है — वह निर्माण करता है, वह शांत और प्रकाशपूर्ण होता है, जब कि दूसरा स्पन्दन, जो इच्छा आदिका होता है, वस्तुओंको जटिल और अस्तव्यस्त बना देता है, उन्हें नष्ट कर देता और तोड़-मरोड़ देता है, उन्हें अस्तव्यस्त करता, उन्हें विकृत एवं टेढ़ा कर देता है — और यह बात प्रकाशको वहांसे हटाकर एक ऐसी धूसरता उत्पन्न कर देती है जो पीछे उग्र क्रियाओंद्वारा अधिक तीव्र होकर बहुत गहरे रंगकी काली छाया बन जाती है। किन्तु वहां भी जहां आवेश नहीं होता या आवेश हस्तक्षेप नहीं करता, वहां भी ऐसा ही होता है। सच ही, भौतिक सद्वस्तु स्पन्दनोंका एक क्षेत्रमात्र बन गयी है, ऐसे स्पन्दनोंका जो आपसमें घुल-मिल जाते हैं और दुर्भाग्यवश, संघर्षमें आकर परस्पर टकराते हैं और यह संघर्ष एवं टक्कर कुछ स्पन्दनों-द्वारा उत्पन्न इस प्रकारकी अव्यवस्था, उपद्रव और अस्तव्यस्तताके आकस्मिक आक्रमण होते हैं, वस्तुतः ये स्पन्दन अपने मूल रूपमें केवल अज्ञानके स्पन्दन होते हैं — यह इसलिये होता है कि व्यक्ति इसे जानता नहीं। ये अज्ञानके स्पन्दन तो होते ही हैं, साथ ही बहुत तुच्छ, बहुत संकीर्ण और बहुत सीमित भी होते हैं — बहुत ही अल्पकालिक। अब यह ऐसी समस्या नहीं रहती जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखी जा सके। यह केवल स्पन्दन-रूप ही रह जाती है।

यदि तुम इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे देखो . . . मानसिक स्तरपर ही, तो यह बात सरल हो जाती है। प्राणिक स्तरपर भी यह कठिन नहीं होती। भौतिक स्तरपर यह जरा अधिक भारी पड़ती है, क्योंकि यह "आवश्यकताओं"का रूप धारण कर लेती है। किन्तु यहां भी इन दिनों बहुत-से अनुभव प्राप्त किये जा चुके हैं: शरीर-निर्माण और उसकी

आवश्यकताओंके, उसके लिये क्या भला है या क्या बुरा, इसके विषयमें चिकित्सा-संबंधी और वैज्ञानिक विचारोंका अध्ययन; और इसे यदि इसके मूल-स्रोततक ले जाया जाय तो बात फिर स्पन्दनोंके प्रश्नपर आ जाती है। यह सब बड़ा मनोरंजक था : ऊपरसे ऐसा प्रतीत हुआ (कारण, सामान्य चेतनाद्वारा देखी जानेवाली सभी वस्तुएं विशुद्ध रूपमें बाह्य ही होती हैं), हां, तो ऐसा प्रतीत हुआ कि भोजनद्वारा किसीके अन्दर विष चला गया है, और अब यह विशेष अध्ययनकी वस्तु बन गया कि अंदर विष जानेकी यह क्रिया पूर्ण है या सापेक्ष, दूसरे शब्दोंमें, क्या यह अज्ञान और बुरी प्रतिक्रियापर एवं सच्चे स्पंदनकी अनुपस्थितिपर आधारित थी। इसका निष्कर्ष यह निकला कि यह भगवान्के स्पंदनोंकी संख्या और कुल योग और उन स्पंदनोंके बीचके अनुपातोंका प्रश्न है जो अभी भी अज्ञानकी वस्तुएं हैं। और इस अनुपातके अनुसार ही यह एक मूर्त्त और वास्तविक वस्तुका या फिर उस वस्तुका रूप ले लेती है जिसे वहांसे हटाया जा सकता है, दूसरे शब्दोंमें, जो सत्यके स्पंदनोंके प्रभावका सामना नहीं करती। बहुत मनोरंजक था यह सब ! कारण, ज्योंही चेतनाको शारीरिक क्रियामें होने-वाले कष्टकर कारणका पता लगा (चेतनाने यह देख लिया कि वह कहांसे आया और क्या था), त्योंही इस विचारके साथ कि : "देखें, क्या हो रहा है", निरीक्षण आरंभ हो गया। सबसे पहले, शरीरको पूर्ण विश्रामकी अवस्थामें लिटा दिया और उसे यह निश्चय दिलाया, जो कि वहां सदा ही होता है, कि भगवान्की इच्छाके बिना कुछ नहीं होता, फल भी उन्हींके हाथमें है, और सब परिणाम भी उन्हींकी इच्छापर निर्भर हैं, इसलिये व्यक्तिको पूर्णतया शांत रहना चाहिये। और तब शरीर भी पूर्ण-तया शांत हो जाता है, वह चंचल नहीं होता, वह उत्तेजित नहीं होता, वह स्पंदनशील नहीं होता, कुछ भी नहीं — वह बड़ा शांत रहता है। इसके बाद, परिणाम किस हदतक अनिवार्य होंगे ? क्योंकि कुछ ऐसा पदार्थ जिसमें शरीरके तत्त्वों तथा उसके जीवनके प्रतिकूल कोई तत्त्व सम्मिलित है उसके अंदर चला गया है, तब अनुकूल और प्रतिकूल तत्त्वों अथवा अनुकूल और प्रतिकूल स्पंदनोंके बीचका अनुपात क्या हुआ। तब मैंने बड़े स्पष्ट रूपमें देखा कि अनुपात शरीरके उन अणुओंकी संख्याके अनुसार जो सीधे भागवत सत्ताके प्रभावमें होते हैं और केवल सर्वोच्च स्पंदनको ही प्रत्युत्तर देते हैं तथा कुछ अन्योंके अनुसार जो अभी भी स्पंदन-के सामान्य ढंगको ही अपनाते हैं, भिन्न होता है। यह बहुत स्पष्ट था, क्योंकि वहां सभी संभावनाएं देखी जा सकती थीं — सामान्य संघातसे लेकर, जो इस हस्तक्षेपसे बिलकुल अस्तव्यस्त हो जाता है और जहां व्यक्तिको

अवांछित तत्त्वसे मुक्त होनेके लिये सभी सामान्य साधनोंको लेकर अपने-आपसे युद्ध करना पड़ता है, उस स्थितितक जब कि सब-के-सब अणु सर्वोच्च शक्तिको उत्तर देते हैं जिससे कि दूसरी वस्तुका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। किंतु यह अभी आनेवाले कलका स्वप्न है — हां, हम इस रास्तेपर चल अवश्य रहे हैं। और तत्त्वोंका अनुपात भी काफी अनुकूल हो गया है — मैं इसे अत्यधिक शक्तिशाली तो नहीं कहती, क्योंकि इससे अभी यह बहुत दूर है, पर काफी अनुकूल अवश्य कहती हूं, जिसका अर्थ यह हुआ कि बीमारीके परिणाम बहुत समयतक नहीं टिके और जो नुक्सान हुआ भी, वह भी कम-से-कम।

किंतु इस क्षणकी, एक-के-बाद-एक, सभी अनुभूतियां, समस्त भौतिक अनुभूतियां, शरीरकी अनुभूतियां एक ही निष्कर्षपर पहुंचती हैं: सब कुछ उन तत्त्वोंके जो केवल सर्वोच्च सत्ताको ही प्रत्युत्तर देते हैं, जो रूपांतरके रास्तेपर तो हैं पर आधे इधर और आधे उधर हैं तथा उन तत्त्वोंके जो अभी भी जड़पदार्थके स्पंदनकी पुरानी प्रक्रियामेंसे गुजर रहे हैं, इन दोनोंके बीचके अनुपातपर निर्भर करता है। इन पिछले तत्त्वोंकी संख्या कम प्रतीत हो रही है, काफी कम होती प्रतीत हो रही है, किंतु अभी भी अप्रीतिकर प्रभाव अथवा प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करनेके लिये ऐसी बहुत-सी वस्तुएं मौजूद हैं, ऐसी वस्तुएं जिनका रूपांतर अभी नहीं हुआ है और जो अभी भी सामान्य जीवनकी वस्तुएं हैं। किंतु सब समस्याएं, चाहे वे मनोवैज्ञानिक समस्याएं हों या विशुद्ध भौतिक समस्याएं, रासायनिक समस्याएं — समस्यामात्रका अंतिम रूप यही होता है — स्पंदनकी ही समस्याएं हैं। यहां एक तो स्पंदनोंकी समग्रताका बोध होता है और दूसरा उस अंतरका बोध जिसे — यदि स्थूल और निकटतम ढंगसे कहा जाय तो — रचनात्मक और विनाशात्मक स्पन्दनोंका अन्तर कहा जा सकता है। हम कह सकते हैं — यह केवल कहनेका एक ढंग है — कि जो स्पन्दन एकमेवसे आते हैं तथा 'एकत्व'को अभिव्यक्त करते हैं वे रचनात्मक होते हैं, और सामान्य एवं विभाजक चेतनाकी सभी जटिलताएं विनाशकी ओर ले जाती हैं।

(लंबा मौन)

लोग हमेशा कहते हैं कि इच्छा ही कठिनाइयोंको उत्पन्न करती है और यह है भी सच। इच्छा केवल एक ऐसी वस्तु हो सकती है जो संकल्पके स्पन्दनके साथ जोड़ दी जाती है। संकल्प — जब कि वह एकमात्र

संकल्प, अपनेको अभिव्यक्त करनेवाला सर्वोच्च संकल्प होता है — तो वह सीधा और तात्कालिक होता है, वहां किसी भी बाधाकी संभावना नहीं रहती। अतएव जो भी कार्यमें विलंब करे, बाधा पहुंचाये और उसे जटिल बना दे, बल्कि असफल भी कर दे, उसमें अवश्य ही इच्छाका मिश्रण होता है।

व्यक्ति उसे हर वस्तुमें देखता है। उदाहरणार्थ, बाह्य कर्मके क्षेत्र-का उदाहरण लें, बाह्य जगत्का, बाह्य वस्तुओंका (स्वभावतया यह कहना कि यह "बाह्य" है अपने-आपको केवल एक मिथ्या स्थितिमें रखना है), किन्तु, हम एक उदाहरण लेते हैं : एक व्यक्ति चेतनाकी उच्चतम अवस्थामें, सत्यकी चेतनाकी अवस्थामें किसीसे कहता है: "जाओ (यहां मैं हजारोंमेंसे एक उदाहरण दे रही हूं), जाओ, अमुक व्यक्तिसे मिलो और उससे यह वस्तु प्राप्त करनेके लिये यह कहो।" यदि वह व्यक्ति ग्रहणशील है, आन्तरिक रूपमें अचंचल और समर्पित है तो वह जाकर उस व्यक्तिसे मिलता है। उससे "वह सब" कहता है और काम हो जाता है, बिना किसी प्रकारकी उलझनके, यों ही। किन्तु यदि उसकी मान-सिक चेतना सक्रिय है, यदि उसमें पूरी श्रद्धा नहीं है और उसमें अहंभाव और अज्ञानका समस्त मिश्रण मौजूद है तो उसे कठिनाइयां दीखने लगती हैं, और वह समाधानके लिये सब समस्याएं देखता है, वह सब प्रकारकी उलझनें देखता है — स्वभावतया ऐसा ही होता है। और तब अनुपातके अनुसार (यह सदा ही अनुपातोंका प्रश्न होता है), उलझनें पैदा होती हैं, समय लगता है और कार्योंमें देर हो जाती है, पर इससे भी अधिक बुरा यह होता है कि चीज विकृत हो जाती है, ठीक वैसी नहीं होती जैसी होनी चाहिये, वह बदल जाती है, क्षीण हो जाती है, उसका स्वरूप बिगड़ जाता है अथवा अन्तमें वह बिलकुल ही नहीं होती — इसमें कई, कई स्तर होते हैं, पर यह सब उलझनों (मानसिक उलझनों) और इच्छाके क्षेत्रकी वस्तु है। जब कि दूसरा रास्ता तत्काल फल दिखाता है। ऐसे अनगिनत दृष्टांत और भी हैं, (सभी तरहके दृष्टांत) और तात्कालिक दृष्टांत भी। तब लोग तुमसे कहते हैं: "ओह! तुमने एक चमत्कार किया है" — चमत्कार कुछ नहीं हुआ। यह सदा इसी ढंगसे किया जाना चाहिये। यह इसलिये कि किसी मध्यवर्ती वस्तुने कार्यमें हस्तक्षेप नहीं किया है।

मैं नहीं जानती यह स्पष्ट हुआ कि नहीं, परन्तु आखिर . . . ।

अतएव, ऐसा छोटी-से-छोटी वस्तुसे लेकर पृथ्वीके एक बड़े कार्यतकके साथ हो सकता है। पार्थिव कार्यमें ऐसी वस्तुओंके उदाहरण हमारे

सामने हैं जो इसी प्रकार संपन्न हुई हैं — पर तभी, यदि कोई अच्छा मध्यवर्ती मिल जाय। किसीको यह समझमें नहीं आया कि यह कैसे हुआ या क्यों हुआ — इस प्रकार, सरलतासे बड़े सीधे ढंगसे सब कुछ संपन्न हो गया। जब कि कुछ अन्य उदाहरणोंमें एक केवल वीज़ा या परमिट पानेके लिये पहाड़ उठाना पड़ता है। अतएव, अत्यधिक छोटी वस्तुसे, अति मामूली शारीरिक व्याधिसे एक अत्यधिक सार्वभौम कार्यतक एक ही सिद्धान्त काम करता है। प्रत्येक वस्तु इस एक ही सिद्धान्तके अन्तर्गत आ जाती है।

४-११-६३

९६ — शास्त्रके सत्यको अपनी आत्माके अंदर अनुभव कर; फिर यदि तू चाहे तो, बुद्धिद्वारा अनुभवकी परीक्षा कर और उसका वर्णन कर, लेकिन उसके बाद भी अपने वर्णनपर अविश्वास कर, पर अपने अनुभवपर कभी नहीं।

इसकी व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है।

दूसरे शब्दोंमें, बच्चोंके लिये इसकी व्याख्या यों करनी चाहिये कि सूत्र **जो भी हों**, धर्मग्रंथ **जो भी हों**, वे सदा ही अनुभूतिके क्षुद्र आकार होते हैं, उससे निम्न कोटिके होते हैं।

शायद कुछ ऐसे लोग भी हैं जिन्हें इस बातको जाननेकी आवश्यकता है।

९७ — जब तू अपने आत्मिक अनुभवको प्रस्थापित करे और दूसरोंके भिन्न आत्मिक अनुभवको अमान्य करे तब जान ले कि भगवान् तुझे मूर्ख बना रहे हैं। क्या तू अपनी आत्माके पर्देके पीछे उनका आत्मानन्दपूर्ण हास्य नहीं सुनता?

ओह, कितना सुन्दर!

व्यक्ति केवल मुस्कान-भरा वचन कह सकता है: अपने अनुभवपर शंका मत करो; कारण, तुम्हारा अनुभव तुम्हारी सत्ताका सत्य है। किन्तु यह मत सोचो कि यह वैश्व सत्य है। और इस सत्यके आधारपर दूसरोंके सत्यका विरोध कभी मत करो, क्योंकि प्रत्येकके लिये उसका अनुभव उसकी सत्ताका सत्य है। और एक समग्र सत्य इन सब वैयक्तिक सत्योंका केवल जोड़मात्र है... और इससे बढ़कर वह स्वयं प्रभुका अनुभव भी है।

९८ — सत्यदर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन, प्रत्यक्ष श्रवण या सत्यकी अनुप्रेरित स्मृति, अर्थात् 'दृष्टि', 'श्रुति', 'स्मृति' है; यह उच्चतम अनुभूति है और नये सिरेसे किये जानेवाले अनुभव-द्वारा सर्वदा प्राप्य है। शास्त्रोंका वचन इस कारण सर्वोत्तम प्रमाण नहीं है कि उसे भगवान्ने कहा था, बल्कि इसलिये है कि उसे अंतरात्माने देखा था।

मेरा ख्याल है कि यह "भगवान्के आदेश"में बाइबिलके विश्वासका उत्तर है, ये आदेश मूसाको प्राप्त हुए और स्वयं भगवान्ने कहे और मूसाने सुने — ऐसा संभव नहीं है, इस बातको घुमा-फिराकर कहनेका यह एक ढंग है। (माताजी हंसती हैं)।

"अत्यधिक प्रामाणिक क्योंकि आत्माने इसे देख लिया है", किन्तु यह सर्वोच्च प्रमाण केवल उस आत्माके लिये है जिसने उसे देखा है, सब आत्माओंके लिये नहीं। जिस आत्माको यह अनुभूति हुई और जिसने उसे देखा केवल उसीके लिये यह सर्वोच्च प्रामाणिकता रखती है, दूसरोंके लिये नहीं।

यह एक ऐसी वस्तु थी जिसने मुझे बचपनमें ही सोचनेको विवश किया — ये बारह 'आदेश' जो असाधारण रूपसे सामान्य हैं: "अपने पिता और मातासे प्रेम करो... किसीको मारो मत..." ये बड़े अरुचिकर ढंगकी तुच्छ-सी बातें हैं। और मूसा इन्हें सुननेको सिनाई पर चढ़े थे...।

अब मुझे यह नहीं पता कि श्रीअरविन्द उस समय भारतके धर्मग्रंथोंकी बात सोच रहे थे... चीनके धर्मग्रंथ भी हैं।

(मौन)

मेरा अनुभव अधिकाधिक यह है कि अन्तःप्रकाश (वह आता है, है न?), अन्तःप्रकाश समस्त विश्वपर लागू हो सकता है, किन्तु अपने स्वरूपमें यह सदा ही व्यक्तिगत होता है, सदा ही व्यक्तिगत होता है।

यह मानों ऐसा हुआ कि एक व्यक्तिको सत्यका एक **दृष्टिकोण** प्राप्त हुआ, यह निश्चित रूपमें, निश्चित रूपमें एक दृष्टिकोण ही है, उसी क्षणसे जब कि उसे शब्दोंका बाना पहनाया जाता है।

तुम्हें एक शब्दविहीन और विचारहीन अनुभूति होती है, एक प्रकारका स्पन्दन होता है जो तुम्हें पूर्ण सत्यका वेदन प्रदान करता है और तब यदि तुम बिलकुल निश्चल बने रहो, कुछ जाननेकी चेष्टा न करो, तो कुछ

समयके बाद तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा कि कोई वस्तु छारण-यंत्रसे गुजरती हुई अपने-आपको एक प्रकारके विचारके रूपमें अनूदित करती है। तब यह विचार, यह अभीतक एक विचार ही है, एक तरल-सा, अर्थात्, बड़ा सामान्य-सा विचार, — परन्तु यदि तुम तब भी अत्यधिक निश्चल, सतर्क एवं नीरव रहो तो, यह एक दूसरे छारणयंत्रसे गुजरता है और फिर एक प्रगाढ़ता प्राप्त कर लेता है — बूंदोंकी तरह जो फिर शब्द बन जाती हैं।

किन्तु यह, जब तुम्हें पूरी तरह सच्चाईसे यह अनुभव प्राप्त हो जाता है (जब तुम अपनी आंखोंमें धूल नहीं झोंकते), आवश्यक रूपमें बातको कहनेका एक दृष्टिकोण, एक ढंग होता है, बस इतना ही। और शायद यह इतना ही होता है। इसके अतिरिक्त, एक वस्तु और भी है जो स्पष्ट देखी जाती है। जब तुम किसी विशेष भाषाके अभ्यस्त होते हो तो बात तुम्हारे सामने उसी भाषामें आती है। मेरे लिये यह सदा अंगरेजी या फ़ासीसीमें आती है, चीनीमें नहीं आती, जापानीमें नहीं आती। शब्द अनिवार्य रूपमें अंगरेजी या फ़ांसीसी होते हैं। कभी-कभी कोई शब्द संस्कृतका भी आता है (क्योंकि भौतिक रूपमें मैंने एक बार संस्कृत सीखी थी)। ऐसा भी हुआ है कि मैंने किसी औरके द्वारा उच्चरित संस्कृतके शब्द सुने हैं (स्थूल रूपमें नहीं) पर वे मेरे आगे स्पष्ट नहीं हुए, वे धुंधले-से बने रहे, और जब मैं बिलकुल भौतिक चेतनामें आ जाती हूं, मेरी स्मृतिमें केवल अस्पष्ट-सी आवाज रह जाती है, परन्तु सुस्पष्ट शब्द नहीं। अतएव, ज्यों ही वस्तु अपना स्पष्ट आकार धारण करती है, वह सदा एक वैयक्तिक दृष्टिकोण ही होता है।

तुममें एक प्रकारकी, बहुत ही गंभीर सच्चाई होनी चाहिये। एक उत्साह तुमपर छा जाता है, क्योंकि अनुभूति अपने साथ एक असाधारण शक्ति लाती है, शक्ति वहां होती है — वह शब्दोंके आनेसे पहले ही रहती है, शब्दोंके साथ वह कम हो जाती है — किन्तु शक्ति वहां होती अवश्य है, और इस शक्तिके साथ तुम अपने-आपको विश्वमय अनुभव करते हो, तुम्हें ऐसा आभास होता है: "यह एक वैश्व साक्षात्कार है" — हां, यह वैश्व साक्षात्कार है, किन्तु जब तुम इस बातको शब्दोंमें कहते हो, तो यह वैश्व नहीं रह जाती; वह केवल उन मस्तिष्कोंपर लागू होती है जो उस प्रकारके कथनको समझनेके लिये ही बने हैं; शक्ति पीछे विद्यमान है, किन्तु तुम्हें शब्दोंके परे जाना चाहिये।

(मौन)

ऐसी वस्तुएं मेरी अनुभूतिमें अधिकाधिक आ रही हैं और मैं उन्हें कागज-के टुकड़ेपर अंकित कर लेती हूं, प्रक्रिया सदा यही होती है, सर्वदा। सबसे पहले, एक प्रकारका विस्फोट होता है, मानों सत्यकी शक्तिका विस्फोट — यह आतिशबाजीका, जो कि पूरी श्वेत होती है, एक बड़ा विस्फोट होता है; ...(माताजी मुस्कराती हैं) आतिशबाजीके खेलसे कहीं अधिक। और तब वह आगे बढ़ता है, बढ़ता चला जाता है (अपने सिरसे ऊपर-की ओर संकेत करती हैं); वह अपना कार्य करता है, कार्य करता चला जाता है तब एक विचारका आभास होता है (किन्तु विचार नीचेके स्तरपर होता है, विचार एक आवरणकी भांति होता है), विचारमें अपना वेदन होता है, वह वेदनकी ओर ले भी जाता है — वेदन वहां पहलेसे था, पर विचारसे रहित, इसलिये वेदनकी परिभाषा नहीं की जा सकती, वहां वस्तु केवल एक ही है, सदा प्रकाशपूर्ण शक्तिका विस्फोट। और तब बादमें यदि तुम उसकी ओर देखते हो और बिलकुल शान्त बने रहते हो, विशेषतया जब मस्तिष्क नीरव रहता है, सब कुछ नीरव हो जाता है (माताजी निश्चलताका संकेत ऊपरकी ओर करती हैं), तब, अचानक, कोई मस्तिष्कमें कह उठता है -- हां, कोई बोलता है। और यह बोलनेवाला विस्फोट ही होता है। तब मैं एक कागज और पेन्सिल लेकर लिखने बैठ जाती हूं। किन्तु बोलनेवाले और लिखनेवालेके बीचमें एक छोटा-सा मार्ग रह जाता है। इस कारण, जब वह लिखा जा रहा होता है, वहां ऊपरकी कोई सत्ता उससे सन्तुष्ट नहीं होती। तब भी मैं शान्त बनी रहती हूं : "न, यह शब्द नहीं, वह शब्द" — कभी-कभी वस्तुको निश्चयात्मक बनानेमें दो दिन लग जाते हैं। किन्तु जो लोग अनुभवकी शक्तिसे सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे तुम्हें वहीं आबद्ध कर देते हैं और तुम्हें उन सनसनीपूर्ण अनुभूतियोंके जगत्में ले जाते हैं जो सत्यकी विकृतियां मात्र होती हैं।

व्यक्तिको बड़ा स्थिर, बहुत शान्त और बहुत विवेचक होना चाहिये — विशेष रूपसे शान्त, नीरव, नीरव, नीरव; अनुभूतिको पकड़नेके लिये जरा भी चेष्टा नहीं करनी चाहिये : "ओह! यह क्या है, यह क्या है?" ऐसा करनेसे सारी बात बिगड़ जाती है। किन्तु, देखो — सावधानीपूर्वक देखो। शब्दोंमें कुछ शेष रह जाता है, एक ऐसी वस्तु जिसे पहला स्पन्दन अपने पीछे छोड़ गया है (बहुत छोटी-सी!) किन्तु एक ऐसी वस्तु अवश्य होती है जो तुम्हारे मुंहपर मुस्कराहट ले आती है, जो सुखद है, जो फेनिल शराबके समान चमकती है और तब यहां (माताजी काल्पनिक ढंगसे एक शब्द, एक स्थल दर्शाती हैं) सब कुछ नीरस बन जाता है। तब व्यक्ति अपने भाषा-ज्ञानके साथ, या शब्दोंकी लय-तालकी भावनाके

साथ देखता है: "वह रहा रोड़ा", तुम्हें इस रोड़ेको हटाकर प्रतीक्षा करनी होगी, और फिर अचानक ही वह आ जाता है; ओह! वह ठीक स्थानपर आकर पड़ता है: उपयुक्त शब्द! यदि तुममें धैर्य है, तो एक या दो दिनके बाद वह बिलकुल ही यथार्थ बन जाता है।

५-२-६४

९९ — शास्त्रके वचन अभ्रांत हैं; शास्त्रकी जो व्याख्या हृदय और बुद्धि करती हैं बस उसीमें भूल-भ्रांतिको अपना स्थान प्राप्त होता है।

मुझे इस बातका पूरा निश्चय नहीं कि यह उक्ति व्यंगात्मक नहीं है...। जो लोग कहते हैं कि "धर्मग्रंथ अचूक हैं!" उन्हें वे उत्तर देते हैं: "हां, हां, यह तो मानी हुई बात है, धर्मग्रंथ अचूक हैं, किन्तु अपनी समझसे सावधान रहना।"

किन्तु सत्यकी वाणी यह है:

१०० — अपने धार्मिक विचार और अनुभवमेंसे सब प्रकारकी नीचता, संकीर्णता और छिछलेपनको निकाल फेंक। विशालतम क्षितिजोंसे भी कहीं अधिक विशाल बन, उच्चतम कंचनजंगासे भी कहीं अधिक उच्च, गभीरतम सागरोंसे भी कहीं अधिक गभीर बन।

१०१ — भगवान्‌की दृष्टिमें समीप या दूर नहीं है, वर्तमान, भूत या भविष्य नहीं है। ये चीजें तो महज उनके जगच्चित्रके लिये एक सुविधाजनक परिपेक्षण हैं।

१०२ — इंद्रियोंके लिये यह सदा ही सत्य है कि सूर्य पृथ्वीके चारों ओर घूमता है; यह बुद्धिके लिये मिथ्या है। बुद्धिके लिये यह सर्वदा सत्य है कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूमती है; यह सर्वोच्च दृष्टिके लिये मिथ्या है। न तो पृथ्वी घूमती है न सूर्य; बस, सूर्य-चेतना तथा पृथ्वी-चेतनाके संबंधमें एक परिवर्तन होता है।

(एक लंबा मौन)

असंभव, मैं कुछ नहीं कह सकती।

इसका अर्थ यह होगा कि भौतिक जगत्-सम्बन्धी हमारा सामान्य बोध एक मिथ्या बोध है।

हां, स्वभावतया।

किन्तु तब सच्चा बोध किसके जैसा होगा?

हां तो, बात यही है, लो!

...भौतिक जगत्का सच्चा बोध — वृक्ष, व्यक्ति, पत्थर — ये सब अतिमानसिक दृष्टिको किस तरह दीखेंगे?

यही वह बात है जिसके विषयमें व्यक्ति कुछ नहीं कह सकता! जब तुम्हें सत्यके विधानकी अनुभूति और चेतना होती है, अथवा उसकी जो सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव, उसकी **प्रत्यक्ष** अभिव्यक्ति है, तो तुम्हें तत्काल किसी अवर्णनीय वस्तुका आभास मिलता है, क्योंकि समस्त शब्द एक और ही क्षेत्रकी वस्तुएं हैं: समस्त बिम्ब, तुलनाएं और अभिव्यक्तियां उसी क्षेत्रकी हैं।

मुझे ठीक यही बड़ी कठिनाई हुई थी। २९ फरवरीका दिन था। सारे समय जब मैं सत्यकी **प्रत्यक्ष** अभिव्यक्तिकी चेतनामें रही, मैं अपनी अनुभूतिको तथा उसको जो मैं देख रही थी सूत्रबद्ध करनेकी चेष्टा करती रही — यह सब असंभव था। वहां शब्द नहीं थे। वहां तुरन्त स्वयं सूत्र ही हमें तत्काल दूसरी चेतनामें ला गिराता है।

उस अवसरपर सूर्य और पृथ्वी-सम्बन्धी सूत्रकी स्मृति मुझे हो आयी ...इसे "चेतनाका परिवर्तन" भी कह सकते हैं — चेतनाका परिवर्तन, यह भी एक क्रिया है।

मेरा ख्याल है कि कोई कुछ भी नहीं कह सकता। मैं भी अपने-आपको कुछ कहने योग्य नही पाती। कारण, जो भी कहा जाय उसका अर्थ केवल अनुमानित वर्णन ही होता है जो कि बहुत रोचक नहीं होता।

किन्तु जब आप इस सत्य-चेतनामें होती हैं तो क्या यह

आत्मनिष्ठ अनुभव होता है या स्वयं जड़ पदार्थ ही अपना रूप परिवर्तित कर लेता है?

हां, सब कुछ — समस्त जगत् ही भिन्न हो जाता है। प्रत्येक वस्तु भिन्न हो जाती है। और मेरे अनुभवने मुझे एक बातका विश्वास दिला दिया है, जिसे मैं अभीतक निरन्तर अनुभव करती रहती हूं: वह यह कि ये दो अवस्थाएं (सत्य और मिथ्यात्व) एक ही समय और साथ-साथ रहती हैं और यह केवल . . . हां, यह वही है जिसे वे "चेतनाका परिवर्तन" कहते हैं; दूसरे शब्दोंमें, चाहे व्यक्ति इस चेतनामें रहे या किसी दूसरी चेतनामें रहे, किन्तु वह किसी भी वस्तुके लिये कोई गति नहीं करता।

हमें उन शब्दोंका प्रयोग करना पड़ता है जो गतिशील हैं, क्योंकि हमारे लिये सभी वस्तुएं गतिशील हैं, किंतु चेतनाका यह परिवर्तन एक गति नहीं है — यह गति बिलकुल भी नहीं है। तो तुम उसके विषयमें कुछ कैसे कह सकते हो, कैसे उसका वर्णन कर सकते हो?

यदि हम यह कहें भी: "यहां एक अवस्था दूसरी अवस्थाका स्थान ले लेती है", स्थान ले लेती है . . . तत्काल ही हम वहां क्रियाको ले आते हैं . . .। हमारे सभी शब्द ऐसे होते हैं, हम क्या कह सकते हैं?

अभी कल ही यह अनुभूति बिलकुल ठोस और सबल थी और इसलिये किसीको अपने-आपको या किसी और वस्तुको स्थानच्युत करनेकी आवश्यकता नहीं है ताकि सत्य-चेतना विकृति और विरूपताकी चेतनाका स्थान ले सके। दूसरे शब्दोंमें, जीवित रहने और यह सच्चा स्पंदन — आवश्यक और सच्चा स्पंदन — बन जानेकी क्षमतामें यह शक्ति प्रतीत होती है कि यह 'मिथ्यात्व' और 'विकृति'के स्पंदनका इस हदतक स्थान ले सकता है . . .। उदाहरणार्थ, 'विकृति'के स्पंदनका परिणाम स्वभावतया कोई दुर्घटना या विपत्ति होगा, किंतु यदि इन स्पंदनोंके केंद्रमें एक ऐसी चेतना हो जो सत्यके स्पंदनके प्रति सचेतन रह सकती हो और फलत: सत्यके स्पंदनकी अभिव्यक्ति भी कर सकती हो, तो वह दूसरे स्पंदनको नष्ट कर सकती है, उसे नष्ट कर देना भी चाहिये। बाह्य रूपमें इसे विपत्तिको रोकनेवाला हस्तक्षेप कहा जायगा।

इस बातका आभास अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है कि केवल 'सत्य' ही एकमात्र उपाय है जिससे जगत् बदला जा सकता है, धीमे रूपांतरकी अन्य सभी प्रक्रियाएं स्पर्श रेखापर ही पहुंचती हैं (तुम अधिकाधिक आगे बढ़ते रहते हो पर मिलते कभी नहीं), और अंतिम पग यही होना चाहिये, सच्चे स्पंदनकी स्थापना।

व्यक्तिको आंशिक प्रमाण मिलते हैं। किंतु, क्योंकि ये आंशिक हैं, ये वस्तुको प्रमाणित नहीं कर सकते। कारण, तुम सामान्य अनुभूति और बोधकी सदा ही व्याख्या कर सकते हो — यह कहकर कि इस बातका पूर्वाभास हमें मिल चुका है और यह पहलेसे निश्चित था, उदाहरणार्थ, कि यह दुर्घटना विफल होगी, इसलिये हस्तक्षेप इस विफलताका कारण बिलकुल नहीं है बल्कि नियतिवाद ही है जिसने निश्चय किया है। अब इसे प्रमाणित कैसे किया जाय? अपने-आपको व्यक्ति कैसे विश्वास दिलाये कि कारण कोई अन्य है। ऐसा करना संभव नहीं।

है न, ज्यों ही तुम आत्म-अभिव्यक्ति करने लगते हो, त्यों ही तुम मनमें प्रवेश कर जाते हो और ज्यों ही तुम मनमें प्रवेश करते हो त्यों-ही तुम उक्त प्रकारका तर्क करने लगते हो जो कि एक भयानक वस्तु है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है: यदि सब वस्तुओंका पहलेसे अस्तित्व है और वे साथ-साथ रहती हैं, अनंत कालसे, तो तुम एक वस्तु दूसरी वस्तुमें कैसे बदल सकते हो? . . . कोई भी वस्तु, चाहे वह कैसी भी क्यों न हो, कैसे बदल सकती है?

यह कहा जाता है (श्रीअरविंद स्वयं भी यहां यही कहते हैं) कि परम सत्ताकी चेतनाके लिये न भूत है, न कोई काल और न कोई क्रिया है, कुछ भी नहीं है — सब वर्तमान है। जब हम अपनी भाषामें ऐसा कहते हैं कि "अनंत कालसे" ऐसा हो रहा है, तो यह मूर्खता है, क्योंकि वास्तवमें सब कुछ वर्तमानमें "है"। अतएव प्रत्येक वस्तु "है" (माताजी अपनी बांहोंको एक-दूसरेपर आड़ा रखती हैं) और फिर यही बात अंतिम है, यहां कुछ भी किया नहीं जा सकता। तब यह विचार, बल्कि कहनेका यह ढंग (क्योंकि यह केवल कहनेका ढंग है), उन्नतिके भावको समाप्त कर देता है, विकासक्रमको समाप्त कर देता है, हां, सचमुच समाप्त कर देता है . . . और तुम्हें बताया जाता है: "यह नियतिवादका एक भाग है कि तुम्हें उन्नतिके लिये प्रयत्न करना चाहिये" — हां, यह सब एक अलंकारयुक्त भाषा है।

और यह भी ध्यानमें रखो कि कहनेका यह ढंग केवल एक क्षणिक अनुभूति है, परंतु समस्त अनुभूति नहीं। एक ऐसा क्षण होता है जब व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है, किंतु यह अनुभव समग्र नहीं होता, यह आंशिक होता है। यह अनुभव करनेका केवल **एक** ढंग है, सब कुछ नहीं। सनातन चेतनामें इससे कहीं अधिक गहन, कहीं अधिक अनिर्वचनीय वस्तु है — कहीं अधिक। यही वह पहली व्याकुलता और विस्मय है जो व्यक्तिको तब होता है जब वह अपनी सामान्य चेतनासे बाहर निकल आता

है। किंतु यही सब कुछ नहीं है। यह पूरी चीज नहीं है। जब इन दिनों इस सूत्रकी स्मृति मुझे आयी तो ऐसा लगा कि यह केवल एक ऐसी झलकमात्र है जो व्यक्तिको अचानक मिल जाती है या फिर, दो अवस्थाओं-के बीचके विरोधका वेदन है, किंतु यह समग्र वस्तु नहीं है, पूरी वस्तु नहीं है — इसके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी है।

कोई और वस्तु है, जो हम समझते हैं उससे बिलकुल भिन्न, **किंतु यह अपने-आपको उस रूपमें अनूदित करती है जिसे हम समझ सकते हैं।**

और वह, उसके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता, कहा इसलिये नहीं जा सकता क्योंकि वह अवर्णनीय है, अवर्णनीय।

इसमें व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जो कुछ भी हमारी सामान्य चेतनामें मिथ्या, असत्य, विकृत और कुटिल हो जाता है, वह 'सत्य-चेतना'के लिये मूलतः सच्चा होता है। किंतु सच्चा किस ढंगसे? ठीक यही वह बात है जो शब्दोंद्वारा नहीं कही जा सकती, क्योंकि शब्द 'मिथ्या' जगत्की वस्तुएं हैं।

> दूसरे शब्दोंमें, क्या जगत्की भौतिकताको यह चेतना नष्ट नहीं कर देगी, क्या उसका रूपान्तर हो जायगा... या फिर वह जगत् ही दूसरा होगा?

(मौन)

इसे समझना होगा... मेरा ख्याल है कि जिसे हम जड़ पदार्थ कहते हैं वह सचमुच जगत्का मिथ्या रूप ही नहीं है।

इससे मिलती-जुलती कोई और वस्तु भी है। किन्तु...

उदाहरणार्थ, यह सूत्र एक पूर्ण आन्तरिक अनुभवमें समाप्त होगा। और एक पूर्ण आन्तरिक अनुभव ही सच्चा हो, यह बात ठीक नहीं है। कारण, यह प्रलय है, निर्वाण है। किन्तु वहां केवल निर्वाण ही नहीं है, एक ऐसी दृश्य सत्ता है जो वास्तविक है, जो मिथ्या नहीं है — किन्तु यह कैसे कहा जाय? ... इस वस्तुको मैंने बहुत बार अनुभव किया है — बहुत बार, केवल एक झलकके रूपमें ही नहीं — वास्तविकताके रूपमें भी... (पर इसे कैसे व्यक्त किया जाय? शब्द सदा धोखा देते हैं) ... एकत्वके पूर्ण अर्थमें, एकत्वकी चेतनामें दृश्य वस्तुके लिये, दृश्य अवस्थाके लिये स्थान है — एक वस्तु दूसरीको नष्ट नहीं करती, बिलकुल भी नहीं। तुम्हें भेदका संवेदन हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह वही सत्ता

नहीं है, किन्तु यह उसका एक भिन्न अन्तर्दर्शन है। मैं तुम्हें कह चुकी हूं कि व्यक्ति जो कुछ भी कहे उसका कुछ अर्थ नहीं है। वह मूर्खता है, क्योंकि यहां शब्दोंसे असत्य जगत्‌को व्यक्त करनेका काम लिया जाता है, किन्तु . . . हां, शायद इसीको श्रीअरविन्द "एकतामें बहुविधता"का भाव कहते हैं। यह शायद उससे थोड़ा मिलता-जुलता है, उसी तरह जैसे कि व्यक्ति अपनी सत्ताकी आन्तरिक बहुविधताको अनुभव कर लेता है, यह कुछ-कुछ ऐसा ही है . . . मुझे पृथक् 'मैं'का कोई वेदन नहीं है, जरा भी नहीं, बिलकुल भी नहीं, शरीरमें भी नहीं, और यह मुझे बहिर्गत सम्बन्धकी किसी विशेष भावनाको रखनेसे नहीं रोकता . . . हां, यह "सूर्य और पृथ्वीकी चेतनाके पारस्परिक सम्बन्धपर" ले आता है, जो कि बदल जाता है। (माताजी हंसती हैं) सत्य ही, यह शायद कहनेका सबसे अच्छा ढंग है। यह चेतनाका सम्बन्ध है। यह अपने-आपका और "दूसरों"का सम्बन्ध बिलकुल नहीं है — बिलकुल नहीं, वह पूरा नष्ट हो गया है — किन्तु यह व्यक्तिकी सत्ताके विभिन्न भागोंकी चेतनाके पारस्परिक सम्बन्ध जैसा हो सकता है। और यह स्पष्ट ही इन विभिन्न भागोंको एक बाह्यता प्रदान करता है।

(लंबा मौन)

हम अब दुर्घटनाकी विफलताके उस दृष्टांतपर आते हैं जो सरलतासे समझमें आ सकता है। यह हम भली-भांति सोच सकते हैं कि "सत्य-चेतना"का हस्तक्षेप पहलेसे "सतत काल"के लिये निश्चित था और इसमें कोई "नया" तत्त्व नहीं है, किन्तु यह बात इस तथ्यको नहीं काटती कि इस हस्तक्षेपने ही दुर्घटनाको रोक दिया था (और यह उस शक्तिपूर्ण प्रभावकी एक यथार्थ प्रतिमूर्ति है जो इस सच्ची चेतनाका दूसरी चेतनापर पड़ता है)। यदि व्यक्ति भगवान्‌पर अपनी सत्ताकी प्रणाली प्रक्षिप्त करे तो यह सोचा जा सकता है कि उन्हें बहुत-से प्रयोग करनेमें मजा आता है, वे यह देखना चाहते हैं कि यह सब खेलमें कैसे जमता है (यह एक और चीज है, यह इस बातको नहीं रोकती कि वहां एक "सर्व-चेतना" है जो सतत रूपमें सब वस्तुओंको जानती है — यह सब कुछ पूर्णतया अनुपयुक्त शब्दोंमें कहा गया है), किन्तु जब व्यक्ति कार्यकी पद्धतिकी ओर देखता है तो यह इस बातको अप्रमाणित नहीं करता कि हस्तक्षेप ही दुर्घटनाको रोक सका है। सत्य-चेतनाने असत्य चेतनाका स्थान लेकर असत्य चेतनाकी प्रक्रियाको रोक दिया।

और मुझे लगता है कि ऐसा प्रायः ही होता है — जितना कि तुम सोचते हो उससे कहीं अधिक। उदाहरणार्थ, प्रत्येक बार जब कोई रोग दूर हो जाता है, प्रत्येक बार जब कोई दुर्घटना रुक जाती है, प्रत्येक बार जब कोई विपत्ति, पार्थिव विपत्ति भी टल जाती है तो इस सबका अर्थ सदा यह होता है कि समस्वरताके स्पन्दनने अव्यवस्थाके स्पन्दनमें हस्तक्षेप करके अव्यवस्थाको समाप्त कर दिया है।

अतएव, श्रद्धालु लोग जो सदा यह कहते हैं : "भगवान्की कृपासे यह सब हुआ है", बिलकुल असत्य नहीं कहते।

मैं केवल यह तथ्य बता रही हूं कि व्यवस्था और समस्वरताका यह स्पन्दन ही हस्तक्षेप करता है (उसके हस्तक्षेपके कारणसे हमारा कुछ मतलब नहीं है, यह केवल एक वैज्ञानिक तथ्यका प्रतिपादन है), और इस विषयमें मुझे बहुत-से अनुभव हो चुके हैं।

तब क्या यही जगत्के रूपान्तरकी प्रक्रिया है ?

हां।

व्यवस्थाके इस स्पन्दनका अधिकाधिक सतत रूपमें अभिव्यक्त होना।

हां, ठीक यही। बिलकुल यही। बिलकुल यही।

और इस दृष्टिकोणसे भी मैं देख चुकी हूं . . .। यह सामान्य विचार मुझे बिलकुल गौण और व्यर्थ प्रतीत होता है कि इस तथ्य (रूपान्तरके तथ्य) को पहले-पहल शरीरमें ही लक्षित होना चाहिये, जिसमें चेतना अत्यधिक ठोस ढंगसे अभिव्यक्त होती है। इसके विपरीत, यह जहां कहीं सबसे सरल और समग्र रूपमें हो सके, एक ही समय होता है और यह आवश्यक नहीं है कि कोषाणुओंका यह समूह (माताजी अपने शरीरकी ओर इशारा करती हैं) इस क्रियाके लिये सबसे अधिक तैयार हो। अतएव, यह बाह्य रूपसे बहुत लम्बे समयतक ऐसा ही बना रह सकता है, तब भी, जब उसमें विशेष बुद्धि और ग्रहणशीलता हो। मेरा मतलब यह है कि चेतना, इस शरीरका चेतन बोध, उस बोधसे असीम रूपमें उच्च है जो उन सब व्यक्तियोंको, जिनके साथ वह संपर्कमें आ गयी है प्राप्त हो सकता है, उन क्षणोंको छोड़कर, — क्षणोंको — जब अन्य शरीर भगवत्कृपाके रूपमें इस 'बोध'को प्राप्त कर लेते हैं; जब कि इस देहके दृष्टांतमें यह एक

स्वाभाविक एवं स्थायी अवस्था है। यह इस तथ्यका एक वास्तविक परिणाम है कि यह 'सत्य-चेतना' अणुओंके इस समूहपर दूसरोंकी अपेक्षा अधिक सतत रूपमें केन्द्रित है—अधिक प्रत्यक्ष रूपमें। किन्तु तथ्योंमें, कार्यमें, पदार्थमें एक स्पन्दन दूसरेका स्थान उस स्थलपर लेता है जहां वह परिणामोंके दृष्टिकोणसे अत्यन्त विशिष्ट और प्रभावशाली होता है।

यह ऐसी चीज है जिसे मैंने बहुत, बहुत स्पष्ट रूपसे अनुभव किया है और इसे कोई तबतक अनुभव नहीं कर सकता जबतक अहं बना रहे। क्योंकि भौतिक अहंमें अपने महत्त्वका भाव होता है और यह भाव भौतिक अहंके साथ ही समाप्त होता है। और जब यह समाप्त हो जाता है तो व्यक्तिको यथार्थतः यह पता लग जाता है कि सच्चे स्पन्दनका हस्तक्षेप या उसकी अभिव्यक्ति अहंभावों या व्यक्तित्वोंपर नहीं निर्भर करती (वे मानव व्यक्तित्व या राष्ट्र व्यक्तित्व या प्राकृतिक व्यक्तित्व—पशु, वनस्पति आदि . . .), यह कोषाणुओं और जड़ पदार्थ—जिनमें ऐसे समुदाय होते हैं जो रूपान्तर लानेके लिये विशेष उपयुक्त होते हैं—की एक प्रकारकी क्रीडापर निर्भर करता है—"रूपान्तर" नहीं, बल्कि यथार्थ रूपमें कहें तो प्रतिस्थापन, मिथ्यात्वके स्पन्दनके स्थानपर सत्यके स्पन्दनका प्रतिस्थापन। और यह तथ्य समुदायों और व्यक्तियोंसे बिलकुल स्वतंत्र रह सकता है (कुछ अंश यहां और कुछ अंश वहां हो सकता है, एक वस्तु यहां तो दूसरी वहां हो सकती है); यह ऐसे स्पन्दनके किसी गुणके सत्यसे सदा मेल खाता है जो एक प्रकारकी स्फीति—एक ग्रहणशील स्फीति—पैदा कर देता है, तब वह तथ्य वहां घट सकता है।

दुर्भाग्यसे, जैसा कि मैंने शुरूमें ही कहा था, सभी शब्द बाहरी प्रतीतियोंके जगत्के हैं।

(मौन)

और यह मेरा सदाका अनुभव रहा है, इस विषयका मुझे अन्तर्ज्ञान और विश्वास भी सदा रहा है (यह विश्वास अनुभवपर आधारित है); ये दो स्पन्दन ऐसे हैं (माताजी एकको दूसरेपर चिपकाने और छाननेकी क्रियाओंका संकेत करती हैं), सदा ऐसे रहते हैं, सदा, सर्वदा।

शायद यह तब एक अद्‌भुत वस्तु बन जाती है जब कि छनकर आनेवाला द्रव्य इतना बड़ा होता है कि वह देखा जा सके। किन्तु मुझे ऐसा लगता है—यह एक बहुत तीव्र आभास है—कि यह एक ऐसा तत्त्व है जो सदा होता रहता है, सदा, सर्वत्र, प्रतिक्षण सूक्ष्म ढंगसे (यहां वे

बिन्दुओंके चिह्न बनाती हुई छाननेका संकेत करती हैं), सूक्ष्मातिसूक्ष्म ढंग में, और किन्हीं परिस्थितियोंमें, किन्हीं दिशाओंमें जो कि देखी जा सकती हैं, जिन्हें वह दृष्टि देख सकती है (यह एक प्रकारकी प्रकाशमय स्फीति होती है, मैं इसकी व्याख्या नहीं करना चाहती), वहां, छाननेकी क्रियाका प्रभाव चमत्कारका आभास देनेके लिये काफी है। वरना यह एक ऐसी वस्तु है जो जगत्‌में सब समय, बिना रुके होती रहती है (बिन्दुओंका वही संकेत वे फिर करती हैं), मिथ्यात्वके एक बहुत छोटे कणका स्थान प्रकाश ले लेता है, हां, मिथ्यात्वका स्थान प्रकाश ले लेता है . . . सदा, सर्वदा।

और यह स्पन्दन (जिसे मैं अनुभव करती हूं, देखती हूं) अग्निका आभास देता है, इसीको वैदिक ऋषि मानव चेतनामें, मनुष्यमें, जड़ पदार्थ-में "ज्वाला"का नाम देते थे; वे सदा किसी "ज्वाला"की बात किया करते थे। यह सचमुचमें एक उच्चतर अग्निकी तीव्रताका स्पन्दन है।

शरीरको भी ऐसा कई बार लगा, विशेषतया तब जब कि कार्य बड़ा एकाग्र और घनीभूत होता था, यह अनुभव ज्वरके अनुभव जैसा है।

दो या तीन रात पहले, कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ था। शक्तिका अवरोहण हुआ, इस सत्य-शक्तिका विशेष तीव्रताके साथ अवरोहण हुआ . . . । हां, यही अब हो रहा है, यही हो रहा है सर्वत्र, सब समय। यदि ऐसा एक काफी बड़े समुदायमें हो तो यह एक चमत्कार-सा लगता है — किन्तु यह समस्त पृथ्वीका चमत्कार है।

व्यक्तिको दृढ़तासे डटे रहना चाहिये, क्योंकि इस वस्तुके कुछ परिणाम होते हैं, यह शक्तिका वेदन लाती है और बहुत कम लोग इसे कम या अधिक रूपमें अपना सन्तुलन बिगाड़े बिना अनुभव कर सकते हैं। कारण, उनके पास पर्याप्त शान्तिका, एक विशाल और अत्यधिक नीरव शान्तिका आधार नहीं होता। मैं कई बार कह चुकी हूं: "केवल **एक** उत्तर है, एक ही उत्तर, व्यक्तिको शान्त, शान्त, और अधिक शान्त, अधिकाधिक शान्त होना चाहिये और यह कि अपने मस्तिष्ककी सहायतासे समाधान कभी मत ढूंढो, क्योंकि मस्तिष्क समाधान नहीं ढूंढ सकता। केवल शान्त रहना चाहिये, शान्त, शान्त, स्थिर रूपमें शान्त रहना चाहिये। अचंचलता और शान्ति, अचंचलता और शान्ति — केवल **यही** उत्तर है।"

मैं यह नहीं कहती कि यह कोई इलाज है, किन्तु उत्तर केवल यही है: अचंचलता और शान्तिके साथ डटे रहो। अचंचलता और शान्तिके साथ डटे रहो . . . ।

तभी कुछ होगा।

२५-३-६४

१०३ — विवेकानंदने, संन्यासका गुणगान करते हुए कहा है कि सारे भारतीय इतिहासमें केवल एक ही जनक हुए हैं। पर बात ऐसी नहीं है, क्योंकि जनक किसी एक व्यक्तिका नाम नहीं है, बल्कि आत्म-शासक राजाओंके वंशका नाम है तथा एक आदर्शका विजय-निनाद है।

१०४ — लाखों गैरिकधारी संन्यासियोंमें कितने सिद्ध हैं? कुछ थोड़े-से सिद्ध तथा सिद्धिके समीप पहुंचनेवाले अनेक लोग ही किसी आदर्शको न्यायसंगत सिद्ध करते हैं।

१०५ — सैकड़ों ही संन्यासी सिद्ध हुए हैं, क्योंकि संन्यासका बहुत अधिक प्रचार किया गया है और असंख्य लोगोंने इसका अभ्यास किया है; बस, यही बात जीवन्मुक्तिके आदर्शपर भी लागू कर दी जाय तो हमें सैंकड़ों जनक प्राप्त हो जायेंगे।

१०६ — संन्यासकी एक निर्दिष्ट वेश-भूषा और बाह्य चिह्न होते हैं; अतएव लोग समझते हैं कि वे उसे आसानीसे पहचान सकते हैं, परंतु किसी जनककी आंतरिक मुक्तावस्था अपना डंका नहीं पीटती और वह सांसारिक पहनावा ही पहनती है; उसके सामने तो नारद भी विभ्रांत हो गये थे।

१०७ — मुक्त होकर संसारमें रहना और फिर भी साधारण मनुष्योंका जीवन यापन करना बहुत कठिन है; परंतु यह कठिन है इसी कारण इसके लिये प्रयास करना और इसे सिद्ध करना चाहिये।

कितना स्पष्ट प्रतीत होता है यह!

स्पष्ट तो यह है, पर कठिन भी है।

समस्त आसक्तिसे दूर रहनेका अर्थ आसक्तिके अवसरोंसे भाग जाना नहीं है, क्या यह ठीक नहीं? वे सब लोग जो अपने-आपको तपस्वी कहते हैं केवल स्वयं ही आसक्तिसे नहीं भागते वरन् दूसरोंसे भी कहते हैं कि वे संसारमें जीवन-यापनका प्रयत्न न करें।

मुझे यह बड़ा स्पष्ट प्रतीत होता है। जब तुम्हें एक वस्तुको न अनुभव करनेके लिये उससे भाग जानेकी आवश्यकता होती है तो इसका यह अर्थ है कि तुम उसी स्तरपर हो, उससे ऊपर नहीं।

वह सब जो दबाता है, पंगु एवं क्षीण बना देता है तुम्हें स्वतंत्र नहीं बनाता। जीवनकी समग्रतामें, उसके सब वेदनोंमें व्यक्तिको स्वतंत्रताकी अनुभूति होनी चाहिये।

वस्तुतः मैंने इस विषयपर शुद्ध रूपसे भौतिक स्तरपर विशद अध्ययन किया है....। सब प्रकारकी संभव भ्रान्तियोंसे बचनेके लिये व्यक्तिकी प्रवृत्ति भ्रान्तियोंके सभी अवसरोंको दबानेकी होती है। उदाहरणार्थ, यदि तुम व्यर्थके शब्द नहीं कहना चाहते, तो तुम बोलना बन्द कर देते हो; जो लोग मौनव्रत लेते हैं वे सोचते हैं कि वे अपनी वाणीपर नियंत्रण रख रहे हैं, यह सच नहीं है। यह केवल बोलनेके अवसरको दबाना और परिणामस्वरूप बेकार बातोंको रोकना हुआ। भोजनके साथ भी यही बात है: वही भोजन खाना जो आवश्यक हो। हम आजकल जिस संक्रमणकालकी अवस्थामें हैं उसीमें, पूर्णतया पशुजीवनमें नहीं बने रहना चाहते, उस जीवनमें जो स्थूल आदान-प्रदान और भोजनपर ही आधारित है। किन्तु यह मानना मूर्खतापूर्ण होगा कि व्यक्ति एक ऐसी अवस्थापर पहुंच गया है जहां शरीर भोजनके बिना टिक सकता है (फिर भी, इसमें एक बड़ा अन्तर आ गया है। क्योंकि वस्तुओंके पोषण-तत्त्वका विवेचन करनेका प्रयत्न किया जा रहा है जिससे कि उसके परिमाणको घटाया जा सके), किन्तु स्वाभाविक प्रवृत्ति लोगोंकी उपवासकी होती है — यह एक भ्रान्ति है।

कहीं हम अपने कार्योंमें कोई भूल न कर बैठें, इस भयसे कार्य करना छोड़ देते हैं। बोलनेमें कोई भूल न हो, इस डरसे बोलना बन्द कर देते हैं; हम खानेके आनन्दके लिये न खायें, इस डरसे खाना बन्द कर देते हैं — यह स्वतंत्रता नहीं, यह केवल बाह्य अभिव्यक्तिको कम-से-कम करना है, और इस सबका प्राकृतिक अन्त निर्वाण होता है। किन्तु यदि भगवान् केवल निर्वाण ही चाहते तो यहां केवल निर्वाण ही होता। यह स्पष्ट है कि वे समस्त विरोधोंके सह-अस्तित्वका विचार रखते हैं और उनके लिये यह सब एक समग्रताका आरंभ है। तब प्रत्यक्षतः यदि व्यक्ति यह समझे कि वह इसीके लिये बना है तो वह उनकी केवल एक अभिव्यक्तिको चुन सकेगा, जिसका अर्थ है अभिव्यक्तिका अभाव। किन्तु यह भी एक सीमा है। और यही उनकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग नहीं है, बल्कि जरा भी नहीं है।

यह एक बड़ी प्रचलित प्रवृत्ति है और संभवतया एक बड़े प्राचीन सुझाव-से या शायद गरीबीसे अथवा अयोग्यतासे उत्पन्न हुई है — अर्थात्, अपनी आवश्यकताओंको कम, कम, बहुत ही कम करते जाना, अपनी गति-विधियोंको कम करना, अपने शब्दोंको कम करना, भोजन कम करना, सक्रिय जीवन कम करना, और तब सब कुछ बड़ा संकुचित हो जाता है। कोई भी गलती न करनेकी अभीप्सामें, व्यक्ति उसे करनेके सभी अवसरों-को दबा डालता है, यह कोई इलाज नहीं है।

किन्तु दूसरा रास्ता बहुत, बहुत अधिक कठिन है।

(मौन)

न, समाधान केवल भागवत प्रेरणाके अनुसार कार्य करनेमें है, भागवत प्रेरणाके अनुसार ही बोलना, भागवत प्रेरणाके अनुसार ही खाना। यही कार्य कठिन है, क्योंकि स्वभावतः भागवत प्रेरणाके साथ तत्काल व्यक्तिकी अपनी प्रेरणा जुड़ जाती है।

मेरे विचारमें त्यागके सभी प्रचारकोंका विचार यह था कि जो कुछ बाहरसे या नीचेसे आये उसे दबा दिया जाय ताकि यदि ऊपरकी कोई वस्तु अभिव्यक्त हो तो व्यक्ति उसे ग्रहण करनेकी अवस्थामें रह सके। किंतु सामूहिक दृष्टिकोणसे यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो हजारों वर्ष ले सकती है। पर व्यक्तिगत दृष्टिकोणसे यह संभव है; किंतु तब व्यक्तिको सच्ची प्रेरणा ग्रहण करनेकी अभीप्साको अविकल रूपमें बनाये रखना चाहिये — पूर्ण "मुक्ति"की अभीप्साको नहीं, बल्कि भगवान्‌के साथ "सक्रिय" तादा-त्म्यकी अभीप्साको, दूसरे शब्दोंमें, जो वे चाहें वही चाहना, वे जो चाहें वही करना, केवल उन्हींके द्वारा, उन्हींमें अपना अस्तित्व रखना। तब व्यक्ति त्यागकी विधिका प्रयोग कर सकता है, किंतु यह उस व्यक्तिकी विधि है जो दूसरोंसे अपना संबंधविच्छेद करना चाहता है। क्या इस दशामें कोई समग्रता रह सकती है? . . . मुझे यह संभव प्रतीत नहीं होता।

व्यक्ति जो करना चाहता है उसकी सार्वजनिक रूपमें घोषणा करनेसे उसे काफी सहायता मिलती है। यह बात कई विरोधोंको, भ्रमों और संघर्षोंको उत्पन्न कर सकती है, किंतु इसकी क्षति बहुत हदतक, यदि ऐसा कहा जा सकता है, सार्वजनिक प्रत्याशासे पूर्ण हो जाती है क्योंकि दूसरे लोग तुमसे कुछ आशा रखते हैं। निश्चित रूपमें यही उन वेशोंका कारण है, अर्थात्, लोगोंको सूचना देना। स्पष्ट ही यह बात तुम्हें कुछ

लोगोंकी घृणा एवं दुर्भावनाका पात्र बना सकती है किंतु ऐसे लोग भी हैं जो यह अनुभव करते हैं कि इसके पास नहीं जाना चाहिये, इसकी ओर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिये, क्योंकि इससे उनका कुछ मतलब नहीं है।

पता नहीं क्यों यह मुझे सदा नीम-हकीमी ही प्रतीत हुई है — नीम-हकीमी नहीं भी हो सकती और कुछ लोगोंमें ऐसा नहीं भी होता, किंतु फिर भी लोगोंसे यह कहनेका एक तरीका है : "जरा देखो, मैं क्या हूं।" और मैं कहती हूं कि इससे सहायता मिल सकती है। पर इस-में असुविधाएं भी हैं।

जो कुछ भी हो यह अभी है बचपन ही।

ये सब साधन हैं, अवस्थाएं और सोपान हैं, किंतु ... सच्ची स्व-तंत्रताका अर्थ है समस्त वस्तुओंसे मुक्ति — सब साधनोंसे भी मुक्ति।

(मौन)

यह एक प्रतिबंध है, एक संकीर्णता है, जब कि 'सत्य वस्तु' है उन्मुक्तता, विस्तार और सबके साथ तादात्म्य।

जब तुम अपने-आपको घटाते हो, घटाते हो, घटाते ही चले जाते हो तो तुम्हें यह अनुभव नहीं होता कि तुम अपने-आपको खो रहे हो, बल्कि तुम्हें यह भय ही नहीं रहता कि तुम अपने-आपको खो भी सकते हो — तुम एक ठोस और कड़ी वस्तु बन जाते हो। किंतु यदि तुम विस्तारणका ढंग चुनो — अधिक-से-अधिक विस्तारका — तो तुम्हें अपने-आपको खो देनेका भय नहीं होना चाहिये।

पर ऐसा करना कहीं अधिक कठिन है।

> हां, यह ठीक है, पर इस बाह्य जगत्में जो प्रतिक्षण तुम्हें निगलता रहता है यह सब कैसे संभव है? उदाहरणार्थ, मैं उन लोगोंके विषयमें सोच रहा हूं जो पश्चिममें रहते हैं; काम, लोगोंसे मिलना-जुलना, टेलिफोन आदि उन्हें हरदम खाये डालते हैं, उन्हें एक मिनटका भी समय नहीं मिलता कि वे अपने ऊपर अनवरत गिरती हुई धूलिको साफ कर सकें। ऐसी अवस्थाओंमें यह सब कैसे संभव है?

इसे तो तुम्हें उसी रूपमें स्वीकार करना होगा जैसा कि वह है और फिर वहीं छोड़ देना होगा।

यह एक दूसरा छोर है... निश्चय ही मठ, एकांत स्थान, जंगलों या गुफाओंमें पलायन, आधुनिक समयके अति व्यस्त जीवनके प्रतिकारके लिये आवश्यक हैं पर एक-दो शताब्दी पहलेकी अपेक्षा अब लोग ऐसा कम करते हैं। किंतु मुझे यह सब समझका अभाव प्रतीत होता है—और यह बहुत समयतक ठहरा भी नहीं।

स्पष्ट ही अत्यधिक कर्म अत्यधिक निश्चलताकी ओर ले जाता है।

> किंतु सामान्य अवस्थाओंमें व्यक्तिको जो कुछ बनना चाहिये वह बननेका ढंग कैसे जाना जाय?

व्यक्ति एक या दूसरी अतिमें न गिरे इसका क्या उपाय है?

> हां, वह सामान्य जीवन व्यतीत करे और फिर भी मुक्त रहे।

मेरे बच्चे, इसीलिये तो आश्रम बनाया गया था। इसके पीछे यही विचार था। कारण, जब मैं फ़्रांसमें थी मैं सदा अपने-आपसे यही प्रश्न पूछा करती थी: "अपने-आपको पानेके लिये व्यक्तिको समय कैसे मिल सकता है? अपने-आपको मुक्त करनेके उपायको समझनेके लिये व्यक्तिको समय कैसे मिले?" तब मैंने सोचा: एक ऐसा स्थान होना चाहिये जहां सब भौतिक आवश्यकताएं पर्याप्त मात्रामें पूरी हो जायं, ताकि यदि कोई सचमुच अपने-आपको मुक्त करना चाहे तो मुक्त हो सके। और इसी विचारको आधार मानकर—किसी और विचारको नहीं—आश्रमकी स्थापना हुई थी—ऐसा स्थान, जहां लोगोंको जीवनकी सभी आवश्यकताएं उपलब्ध हों ताकि उनके पास 'सच्ची वस्तुके' विषयमें सोचनेके लिये समय रहे।

(माताजी मुस्कराती हैं) मानव प्रकृति ही ऐसी है कि अभीप्साका स्थान अब आलस्यने ले लिया है (सबके लिये यद्यपि यह सत्य नहीं है, पर कुल मिलाकर सामान्य स्थिति ऐसी ही है), और स्वतंत्रताका स्थान उच्छृंखलताने या स्वेच्छाचारिताने ले लिया है। यह इस बातको प्रमाणित करनेके बराबर है कि मनुष्यजातिको अधिक सचाईके साथ दासतासे कर्मठतामें आनेके लिये तैयार होनेसे पहले क्रूरतापूर्ण व्यवहारमेंसे गुजरना पड़ेगा।

पहली क्रिया बिलकुल इस प्रकारकी है: "आखिर एक ऐसा स्थान

ढूंढना चाहिये जहां व्यक्ति एकाग्र हो सके, अपने-आपको पा सके, भौतिक वस्तुओंमें व्यस्त हुए बिना सच्चे रूपमें जी सके"; यह पहली अभीप्सा है (इसी आधारपर — कम-से-कम शुरूमें — साधकोंका चुनाव हुआ था), किन्तु यह बात बहुत दिन चलती नहीं! वस्तुस्थिति पीछे सरल हो जाती है और व्यक्ति बहक जाता है। क्योंकि यहां कोई नैतिक बन्धन नहीं है, इसलिये मूर्खतापूर्ण कार्य किये जाते हैं।

तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि साधकोंके चुनावमें गलती हुई है — यद्यपि ऐसा सोचनेके लिये व्यक्ति प्रेरित होता है पर यह सत्य नहीं है। कारण, चुनाव एक आन्तरिक चिह्नके आधारपर हुआ है जो कि बिलकुल यथार्थ और स्पष्ट है... शायद कठिनाई यहां है कि आन्तरिक वृत्तिको बिना मिलावटके बनाये रखना कठिन हो जाता है। ठीक यही श्रीअरविन्द चाहते थे, इसीके लिये उन्होंने प्रयत्न भी किया था; वे कहते थे: "यदि मुझे सौ व्यक्ति भी मिल जायं तो वे मेरे लिये काफी हैं।" किन्तु बहुत दिनतक सौ नहीं हुए, और मुझे यह कह देना चाहिये कि सौ होते-न-होते उनमें मिलावट आ गयी थी।

कई आये, सच्ची वस्तुसे प्रेरित होकर ही, किन्तु... आदमी अपने-आपको पीछे ढीला छोड़ देता है। दूसरे शब्दोंमें, सच्ची अवस्थामें दृढ़तापूर्वक टिके रहना उसके लिये असंभव हो जाता है।

> हां, मैंने यह देखा कि जगत्‌की बाह्य अवस्थाएं जब अत्यधिक कठिन हो जाती हैं, तो अभीप्सा भी काफी अधिक तीव्र हो जाती है।

हां, यह तो है ही।

> यह बहुत अधिक तीव्र हो जाती है, यह प्रायः जीवन-मरण-का प्रश्न बन जाता है।

हां, बात यही है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्य इतना स्थूल है कि उसे अतियों-की आवश्यकता पड़ती है। श्रीअरविन्दने यही कहा था: प्रेमको सच्चा होनेके लिये घृणाकी आवश्यकता पड़ी; सच्चा प्रेम घृणाके दबावके नीचे ही उत्पन्न हो सका।[1] बात यही है। व्यक्तिको वस्तुएं उसी रूपमें

---

[1]देखें सूत्र ८८ से ९२ तक।

स्वीकार करनी चाहिये जैसी कि वे हैं और फिर आगे बढ़नेका प्रयत्न करना चाहिये। बस, इतना ही!!

इसीलिये शायद इतनी सारी कठिनाइयां हैं—कठिनाइयां यहां इकट्ठी हो जाती हैं: चरित्रकी कठिनाइयां, स्वास्थ्य-सम्बन्धी कठिनाइयां, और परि-स्थितियोंकी कठिनाइयां—और यह इसलिये कि चेतना कठिनाइयोंके दबाव-से जाग्रत् होती है। यदि सब कुछ सरल और शान्तिमय हो जाय तो व्यक्ति सो जाता है।

इसी प्रकार श्रीअरविन्दने युद्धकी आवश्यकताकी व्याख्या की थी। शान्तिकालमें तुम फूल जाते हो।

कैसी दयनीय अवस्था है यह!

मैं यह नहीं कह सकती कि यह सब मुझे अच्छा लगता है, किन्तु है यह ऐसा ही।

मूलतः, यह बात वही है जो श्रीअरविन्दने 'भागवत् मुहूर्त'में कही है: यदि तुममें शक्ति और ज्ञान है और तुम उस अवसरसे लाभ नहीं उठाते तो तुम्हें धिक्कार है।

यह बदला बिलकुल नहीं है, यह दण्ड बिलकुल नहीं है, किन्तु तुम अपने ऊपर एक आवश्यकताको, उग्रताके विरुद्ध प्रतिक्रिया करनेके लिये एक उग्रतापूर्ण आवश्यकताको, खींच लेते हो।

(मौन)

यह अनुभूति मुझे अधिकाधिक हो रही है: इस सच्चे भागवत प्रेमके साथ हमारा संपर्क अपने-आपको अभिव्यक्त कर सके, दूसरे शब्दोंमें, वह स्वतंत्रतापूर्वक प्रकाशमें आ सके इसके लिये प्राणियों और वस्तुओं, दोनोंमें एक असाधारण शक्तिकी आवश्यकता है, पर वह अभीतक पैदा नहीं हुई है। अन्यथा सब कुछ तितर-बितर हो जाता है।

कई बहुत निश्चयात्मक बारीकियां हैं, किन्तु स्वभावतया क्योंकि वे "बारीकियां" हैं या बहुत व्यक्तिगत बातें हैं उनकी चर्चा नहीं की जा सकती। किन्तु बारंबारके अनुभवोंके प्रमाण अथवा प्रमाणोंके आधारपर मुझे यह कहना पड़ रहा है: जब विशुद्ध प्रेमकी यह शक्ति—अद्भुत शक्ति है यह—जो कि समस्त अभिव्यक्तियोंसे आगे निकल जाती है, प्रचुर मात्रामें और मुक्त रूपसे अभिव्यक्त होनी शुरू होती है तो ऐसा लगता है मानों बहुत-सी वस्तुएं एकदम ही भरभराकर नीचे गिर पड़ी हैं। वे अब वहां नहीं टिक पातीं। वे वहां नहीं टिक पातीं, वे घुल

गयी हैं। तब..तब सब कुछ रुक जाता है। और यह रुकना जिसे तुम अपमानजनक मान सकते हो वास्तवमें उससे विपरीत है, वस्तुतः यह असीम भागवत कृपा है।

केवल एक बोध, जिस स्पन्दनमें व्यक्ति सामान्यतया और प्रायः सदा ही निवास करता है उसके और दूसरे स्पन्दनके बीचके अन्तरका एक ठोस और प्रत्यक्ष बोध, इस दुर्बलताकी, जिसे मैं अरुचिकर कहती हूं — और जो सचमुच ही तुममें मतली पैदा करती है — स्वीकृति सबका अन्त करनेके लिये काफी है।

अभी कल ही और आज प्रातः भी बड़े लम्बे समयतक यह शक्ति अभिव्यक्त होती रही, तब अचानक ही, एक वस्तु सामने आयी, वह मानों प्रज्ञा थी, एक अपरिमित प्रज्ञा जिसने सब कुछको एक पूर्ण शान्तिमें बदल दिया; जो कुछ होना चाहिये वह होगा। उसके होनेमें उतना समय लगेगा जितना कि लगना चाहिये और तब सब कुछ ठीक हो जाता है। इस प्रकार तत्काल ही सब कुछ ठीक हो जाता है, किन्तु दीप्ति बुझ जाती है।

केवल धैर्य रखनेकी आवश्यकता है।

श्रीअरविन्दने यह भी लिखा है: तीव्र रूपसे अभीप्सा करो, किन्तु अधैर्यके बिना... तीव्रता और अधैर्यके बीचका अन्तर बड़ा सूक्ष्म है... यह अन्तर केवल स्पन्दनका है। यह सूक्ष्म है, किन्तु सारा अन्तर इसीमें है।

तीव्रताके साथ, किन्तु अधैर्यके बिना! ठीक यही। ऐसी अवस्थामें ही व्यक्तिको होना चाहिये।

और फिर बहुत लम्बे समयतक, बहुत लम्बे समयतक आन्तरिक परिणामोंसे, अर्थात्, निजी और व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओंके तथा शेष जगत्के साथ आन्तरिक सम्बन्धोंके परिणामोंसे सन्तुष्ट रहना चाहिये। यह आशा या इच्छा नहीं करनी चाहिये कि वस्तुएं शीघ्र चरितार्थ हों। कारण, जब व्यक्ति जल्दबाजी करता है तो कार्यमें देर लगा देता है।

यदि ऐसा है, तो ऐसा ही है।

हम जीते हैं, मेरा मतलब मनुष्योंसे है, उद्विग्नतापूर्वक जीते हैं, यह जीवनकी लघुताके सम्बन्धमें एक प्रकारकी अर्ध-चेतन अनुभूति है। (मनुष्य इसके बारेमें सोचते नहीं, पर इसे एक अर्ध-चेतन ढंगसे अनुभव अवश्य करते हैं); और तब वे सदा सब काम जल्दी, जल्दी, और जल्दी करना चाहते हैं, एक वस्तुसे दूसरी वस्तुकी ओर भागते हैं, एक कार्यको शीघ्र समाप्त करके दूसरेको हाथमें ले लेना चाहते हैं, जब कि करना यह

चाहिये कि वे प्रत्येक वस्तुको अपनी सनातनतामें निवास करने दें। तुम सदा ही आगे, आगे, आगे जाना चाहते हो . . . और तुम कार्यको बिगाड़ देते हो।

इसीलिये कइयोंने यह उपदेश दिया है: महत्त्वपूर्ण क्षण केवल वर्तमान है — व्यावहारिक रूपमें यह सच नहीं है, किन्तु मनोवैज्ञानिक रूपसे इसे सत्य होना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें, व्यक्ति प्रत्येक क्षण अगली वस्तुको पहलेसे ही देखे या चाहे या प्रतीक्षा किये बिना या उसके लिये तैयारी किये बिना अपनी अधिकतम शक्यतामें प्रतिक्षण जीये। कारण, तुम हर समय जल्दी, जल्दी, जल्दीमें होते हो . . . और तुम कुछ भी अच्छी तरह नहीं कर सकते। तुम एक आन्तरिक तनावकी अवस्थामें होते हो जो कि मिथ्या, बिलकुल मिथ्या होती है।

जिन लोगोंने बुद्धिमान् बननेके लिये प्रयत्न किया है उन सबने सदा यह कहा है: (चीनियोंने इसका प्रचार किया है, और भारतीयोंने इसका प्रचार किया है) सनातनताकी भावनामें जीओ। यूरोपमें भी यह किसीने कहा था कि व्यक्तिको आकाश और नक्षत्रोंके बारेमें चिन्तन करना चाहिये और इस प्रकार उनकी असीमताके साथ एकाकार होना चाहिये, उस सबके विषयमें चिन्तन करना चाहिये जो तुम्हें विशाल बनाता हो, तुम्हें शान्ति प्रदान करता हो।

ये हैं साधन ही, पर हैं अनिवार्य।

और यही मैंने शरीरके कोषाणुओंमें भी देखा है। यह कहा जा सकता है कि वे भी उस कार्यमें जो उन्हें करना है सदा जल्दी मचाते हैं, वे सोचते हैं शायद उसे करनेके लिये पीछे उनके पास समय न रहे। अतएव वे कोई भी कार्य ठीक ढंगसे नहीं करते। कुछ ऐसे अभद्र व्यक्ति होते हैं जो सब कुछ उलट-पलट देते हैं, उनकी क्रियाएं बड़ी रूखी और अभद्र होती हैं। ऐसे लोगोंमें ही इस प्रकारकी जल्दबाजी अधिक होती है। ऐसे लोगोंमें जल्दबाजी बहुत होती है: जल्दी करो, जल्दी करो, जल्दी करो . . .। अभी कल ही, एक व्यक्ति जोड़ोंके दर्दकी शिकायत कर रहा था; और कह रहा था: "ओह! इससे मेरा कितना समय नष्ट हो रहा है, मैं कितने धीरे-धीरे कार्य करता हूं।" मैंने कहा: (माताजी हंसती हैं) . . . "तो फिर!" पर उसे सन्तोष नहीं हुआ। बीमार होनेपर शिकायत करनेका अर्थ है कि तुम अन्दरसे बड़े पोले हो, बस इतना ही, किन्तु यह कहना: "मैं समय खो रहा हूं, मैं कार्य धीरे-धीरे करता हूं," उस जल्दबाजीका एक प्रत्यक्ष चित्र है जिसमें लोग रहते हैं — तुम जीवनमेंसे एक धूमकेतुके समान गुजरते हो . . . कहां जानेके लिये? . . . अन्तमें टूटने और नष्ट होनेके लिये ही न!

इस सबका क्या लाभ ?

(मौन)

मूलतः इन सूत्रोंसे यह शिक्षा मिलती है कि व्यक्तिके लिये दिखायी देने-की अपेक्षा होना अधिक आवश्यक है। उसे जीना चाहिये न कि दिखावा करना, दूसरोंको यह दिखानेकी अपेक्षा कि वह कुछ चरितार्थ कर रहा है, यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह वस्तुको उसके समग्र और पूर्ण रूपमें सच्चाईके साथ चरितार्थ करे।

यहां भी वही बात है, व्यक्ति जो कुछ कर रहा है उसे बतानेकी आवश्यकता अनुभव करता है; इस प्रकार वह अपने आधे कर्मको नष्ट कर डालता है।

पर साथ ही यह तुम्हें यह देखने और जाननेमें सहायता प्रदान करता है कि तुम ठीक-ठीक किस बिन्दुपर हो।

यह बुद्धकी बुद्धिमत्ता थी जब उन्होंने कहा था : "मध्यम मार्ग," न बहुत अधिक यह, न बहुत अधिक वह। न इसमें गिरो न उसमें गिरो —प्रत्येक वस्तुका एक छोटा-सा भाग और एक संतुलित मार्ग ... किन्तु "विशुद्ध"। विशुद्धता और सत्यनिष्ठा एक ही वस्तु हैं।

१६-९-६४

१०८ — जब नारदने जनकके कार्योंका निरीक्षण किया तो उन देवर्षिने भी उन्हें एक भोगपरायण, संसारासक्त और लंपट प्राणी समझा। जबतक तू अंतरात्माको नहीं देख पाता तबतक तू यह कैसे कह सकता है कि यह मनुष्य मुक्त है या बद्ध ?

यह सब प्रकारके प्रश्नोंको खड़ा कर देता है। उदाहरणार्थ, यह कैसे हुआ कि नारद आत्माको न देख पाये ?

मेरे लिये यह बड़ी सरल-सी बात है। नारद अर्ध-देवता थे, क्या यह ठीक नहीं है ? वह अधिमानस जगत्के थे और उनके लिये अपने-आपको मूर्त्त रूपमें प्रकट करना संभव था। इन सत्ताओंमें अन्तरात्मा नहीं होती। देवताओंके अन्दर वह दिव्य चिनगारी नहीं होती जो अन्तरात्माका केन्द्र-बिन्दु है, चूंकि केवल पृथ्वीपर ही (मैं भौतिक जगत्की बात नहीं कह

रही), हां, तो केवल पृथ्वीपर ही प्रेमका अवरोहण हुआ जो जड़तत्त्वके केन्द्रमें स्थित भागवत उपस्थितिका मूलस्रोत था। और स्वभावतया, चूंकि उनमें आन्तरात्मिक सत्ता नहीं है, वे आन्तरात्मिक सत्ताको पहचानते भी नहीं। इनमेंसे कुछ ऐसी सत्ताएं भी हैं जिन्होंने भौतिक शरीर इसलिये धारण करना चाहा कि वे आन्तरात्मिक सत्ताका अनुभव प्राप्त कर सकें — पर ऐसी सत्ताएं बहुत नहीं हैं।

सामान्यतया, उन्होंने यह विभूतिके रूपमें, आंशिक रूपमें ही किया है, पूरे-का-पूरा अवतार लेकर नहीं। उदाहरणार्थ, कहा जाता है कि विवेकानन्द शिवकी एक विभूति थे। किन्तु स्वयं शिवने स्पष्ट रूपमें यह इच्छा व्यक्त की थी कि वे अतिमानसिक जगत्के साथ ही पृथ्वीपर जन्म लेंगे। जब पृथ्वी अतिमानसिक जीवनके लिये तैयार हो जायगी, वे आयेंगे। प्रायः ये सभी सत्ताएं तभी प्रकट होंगी — वे उस क्षणकी प्रतीक्षा कर रही हैं। वे आजके संघर्ष और अन्धकारको नहीं चाहतीं।

निश्चय ही, नारद भी उनमेंसे एक थे जो यहां आये . . .। वस्तुतः वे विनोदभावसे आये थे। वे परिस्थितियोंके साथ खेलना बहुत पसन्द करते थे। किन्तु उन्हें आन्तरात्मिक सत्ताका ज्ञान नहीं था और इसी कारण जहां आन्तरात्मिक सत्ता थी, वे उसे पहचान न पाये।

किन्तु इन सब वस्तुओंकी व्याख्या नहीं की जा सकती : ये व्यक्तिगत धारणाएं और अनुभव हैं, यह पर्याप्त बाह्य ढंगका ज्ञान नहीं है जो सिखाया जा सके। उस विषयके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता जो व्यक्तिगत अनुभवपर निर्भर हो और जिसका महत्त्व केवल उसीके लिये हो जिसे उसका अनुभव हो चुका हो।

जो श्रीअरविन्दने कहा है वह भारतीय परंपराके अध्ययनपर आधारित है और उन्होंने वही कहा है जो उनके अनुभवके साथ मेल खाता है।

"आत्मा"को देखनेके लिये, क्या व्यक्तिको पहले अपनी आत्माको जानना चाहिये ?

हां, आत्माके साथ, दूसरे शब्दोंमें, आन्तरात्मिक सत्ताके साथ सम्बन्ध बनानेके लिये, पहले व्यक्तिके अपने अन्दर अन्तरात्मा होनी चाहिये, और केवल मनुष्योंमें ही — विकासक्रमके मनुष्योंके पास, जो पार्थिव सृष्टिकी रचना हैं — आन्तरात्मिक सत्ता है।

इन सभी देवताओंमें आन्तरात्मिक सत्ता नहीं है, केवल नीचे उतरकर,

मनुष्यकी आन्तरात्मिक सत्ताके साथ संयुक्त होनेसे वे इसे पा सकते हैं, किन्तु स्वयं उनमें यह नहीं है।

१२-१-६५

१०९ — मनुष्य जिस स्तरतक पहुंच चुका है उससे ऊपरकी सभी चीजें उसे कठिन प्रतीत होती हैं और उसके अपने सहायता-शून्य प्रयासके लिये कठिन हैं भी; परंतु मनुष्यके अंदर विद्यमान भगवान् जब ठेका ले लेते हैं तब वे सभी चीजें तुरत सरल और आसान बन जाती हैं।

बिलकुल ठीक।

अभी दो या तीन दिन हुए मैंने एक प्रश्नके उत्तरमें लिखा है, और मैंने कुछ ऐसा कहा है: श्रीअरविन्द प्रभु हैं, किन्तु प्रभुका एक भाग, समग्र प्रभु नहीं। कारण, प्रभु सब कुछ हैं — वह सब जो अभिव्यक्त हो चुका है और वह सब भी जो अभिव्यक्त नहीं हुआ। मैंने आगे कहा: ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो प्रभु न हो, कोई भी नहीं, हां, ऐसा कुछ नहीं है जो प्रभु न हो, किन्तु ऐसे लोग बिरले हैं, जो प्रभुके प्रति सचेतन हों। और सृष्टिकी यह निश्चेतना ही असत्य बनाती है।

यह एकदम कितना स्पष्ट था: वह रहा, वह रहा, लेकिन आखिर यह असत्य आया कैसे? परन्तु इसी वस्तुमें; सृष्टिकी निश्चेतनामें ही सृष्टिका मिथ्यात्व निहित है। ज्यों ही सृष्टि भगवान्‌की सत्ताके प्रति सचेतन हो जायगी, मिथ्यात्व समाप्त हो जायगा।

बात ऐसी ही है, यही है न; सब कुछ कठिन है, सब कुछ श्रमसाध्य है, सब कुछ कष्टपूर्ण, सब कुछ दुःखमय है क्योंकि सब कुछ भगवान्‌की चेतनाके बाहर किया गया है। किन्तु जब वे अपने राज्यको पुनः अधिकृत कर लेंगे (बल्कि जब लोग उन्हें अपने राज्यको फिरसे अधिकृत करने देंगे), और जब वस्तुएं उनकी चेतनाके अन्दर, उनकी चेतनाके साथ संपन्न की जायंगी तो सब कुछ केवल सरल ही नहीं वरन् एक अवर्णनीय आनन्द-में आश्चर्यजनक और वैभवपूर्ण भी हो जायगा।

यह एक प्रमाणके रूपमें आया है। कहा जाता है: "यह क्या है, मिथ्यात्व किसे कहते हैं? सृष्टि मिथ्या क्यों है?" यह इस अर्थमें भ्रान्ति नहीं है कि उसका अस्तित्व नहीं है — उसका पूरा-पूरा अस्तित्व है, किन्तु . . . किन्तु वह जो वास्तवमें है उसके प्रति सचेतन नहीं है। केवल

यही नहीं कि वह अपने मूलस्रोतके प्रति सचेतन नहीं है बल्कि वह अपने सारतत्त्व, अपने सत्यके प्रति भी चेतन नहीं है। वह अपने सत्यके प्रति सचेतन नहीं है। इसी कारण वह असत्यमें निवास करती है।

यह सूत्र बहुत सुन्दर है। अब कुछ और कहनेको बाकी नहीं रहा, है न? यह स्वयं ही सब कुछ कह देता है।

३-३-६५

११० — सूर्यकी बनावट या मंगलकी रूप-रेखाको देखना निस्संदेह एक बहुत बड़ा कार्य है; परंतु जब तेरे पास वह यंत्र होगा जो मनुष्यकी आत्माको वैसे ही दिखा देगा जैसे तू कोई चित्र देखता है, तब तू भौतिक विज्ञानके आश्चर्यजनक कार्योंको बच्चोंके खिलौने समझकर उनपर हंसेगा।

यह उसी बातका विस्तार है जो हम उन लोगोंके विषयमें कह रहे थे जो "देखना" चाहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रामकृष्णने विवेकानन्दसे कहा था: "तुम भगवान्‌को उसी भांति देख सकते हो जैसे तुम मुझे देखते हो, और उसी प्रकार उनकी आवाज सुन सकते हो जैसे मेरी आवाज सुनते हो।" कुछ ऐसे लोग हैं जो इसे घोषणाके रूपमें लेते हैं कि भगवान् सशरीर पृथ्वीपर मौजूद थे। मैंने कहा: (मुस्कराते हुए) "न, ऐसा नहीं है। उनका मतलब यह था कि यदि तुम सच्ची चेतनामें जाओ तो उनकी आवाज सुन सकते हो (मैं कहती हूं कि भौतिक रूपमें सुननेकी अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह सुन सकते हो और भौतिक रूपमें देखनेकी अपेक्षा इसे कहीं अधिक स्पष्ट रूपमें देख सकते हो)।" "ओह! किन्तु..." ज्यों ही तुम अपनी आंखें खोल लेते हो, यह सब अवास्तविक हो जाता है।

क्या भौतिक विज्ञानके चमत्कारोंपर आपको हंसी आती है?

"चमत्कार"! यह सब ठीक है, यह उन लोगोंका काम है। किन्तु उनका अपरिमित आश्वासन मुझे हंसनेको प्रेरित अवश्य करता है। वे सोचते हैं कि वे जानते हैं। वे कल्पना करते हैं कि उन्हें कुंजी मिल गयी है, इसी बातपर हंसी आती है। उनका विचार है कि जो कुछ उन्होंने सीखा है उसके द्वारा वे प्रकृतिके स्वामी बन गये हैं — यह बचपना है। जब-

तक कि वे सर्जनकारी शक्ति और सर्जनकारी संकल्पके साथ संपर्कमें नहीं आते, कोई-न-कोई वस्तु सदा उनसे बच निकलेगी।

यह एक ऐसा अनुभव है जिसे व्यक्ति सरलतासे कर सकता है। एक वैज्ञानिक समस्त दृश्य तथ्योंकी व्याख्या कर सकता है, वह भौतिक शक्तियोंका प्रयोग भी कर सकता है, उनसे मनचाहा कार्य करवा सकता है। और वे स्थूल भौतिक दृष्टिकोणसे अत्यधिक आश्चर्यजनक परिणामोंपर पहुंच भी गये हैं, किन्तु तुम उनसे केवल यह प्रश्न पूछो, यह सरल-सा प्रश्न पूछो: "मृत्यु क्या है?" वस्तुतः वे इस विषयमें कुछ भी नहीं जानते। वे इस तथ्यका, जैसा कि वह भौतिक रूपमें व्यक्त होता है, वर्णन अवश्य कर देते हैं किन्तु यदि वे सच्चे होंगे तो उन्हें यही कहना पड़ेगा कि यह वर्णन कुछ भी स्पष्ट नहीं करता।

एक क्षण सदा ऐसा होता है जब वह कुछ भी नहीं बताता। कारण, जानना... हां, जाननेका अर्थ है कर सकना।

(मौन)

जो भी हो, जड़वादी विचारको, वैज्ञानिक विचारको अधिक-से-अधिक इतना ही पता लग सकता है कि वह आगेकी बात नहीं देख सकता। अवश्य ही वे कई बातें जान लेते हैं, किन्तु पार्थिव घटनाओंका उन्मीलन उनकी भविष्यदृष्टिसे परेकी वस्तु है। मेरे विचारमें वे केवल इसी बातको स्वीकार कर सकते हैं — एक आकस्मिकता होती है, संयोगोंका एक क्षेत्र होता है जो उनकी समस्त गणनासे छूट जाता है। एक आधुनिक वैज्ञानिकसे, जिसे आधुनिकतम ज्ञान प्राप्त है, मेरी कभी बातचीत नहीं हुई है, इसलिये मुझे इस बातका पूरा विश्वास नहीं है, मैं नहीं जानती कि वे कहांतक उन तथ्योंको स्वीकार करते हैं जो न तो देखे जा सकते हैं, न गणनामें आ सकते हैं।

मेरे विचारमें श्रीअरविन्दका इससे यह तात्पर्य है कि जब व्यक्ति आत्माके संपर्कमें आता है और उसे आत्माका ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो यह इतना अद्भुत ज्ञान होता है, भौतिक वस्तुओंके ज्ञानसे इतना अधिक अद्भुत कि तब अवहेलनाकी हंसी आ जाती है। मेरे विचारमें उनका यह तात्पर्य नहीं था कि आत्माका ज्ञान तुम्हें भौतिक जीवनकी उन वस्तुओंका ज्ञान प्रदान करता है जिन्हें तुम विज्ञानकी सहायतासे नहीं सीखते।

केवल एक ही बात है (मुझे पता नहीं विज्ञान यहां तक पहुंचा है या नहीं), और वह है भविष्यको पहलेसे देखनेकी असंभवता। किन्तु वे शायद

यह कहते हैं कि वे शायद इसका कारण यह बतायें कि अभीतक वे अपने यंत्रों और प्रणालियोंकी पूर्णतातक नहीं पहुंच सके हैं। उदाहरणार्थ, वे शायद सोचते हैं कि जिस समय पृथ्वीपर मनुष्य प्रकट हुआ था, उस समय यदि उनके पास वे यंत्र होते जो अब हैं तो वे पशुके मनुष्यमें रूपान्तरको या पशुके अन्दरकी किसी वस्तुके परिणामस्वरूप मनुष्यके प्रादुर्भावको पहलेसे जान लेते। मैं उनकी अति आधुनिक स्थापनाओंके विषयमें कुछ नहीं जानती। (माताजी मुस्कराती हैं) ऐसी अवस्थामें उन्हें वातावरणके उस अन्तरको जान सकना और माप सकना चाहिये जो किसी ऐसी वस्तुके आनेसे हो गया है जो उसमें पहले नहीं थी, क्योंकि यह अभी तक भौतिक क्षेत्रकी वस्तु है।[1] किन्तु मेरे ख्यालमें श्रीअरविन्दका तात्पर्य यह नहीं था, वे यह कहना चाहते थे कि आत्माका जगत् और आन्तरिक सत्य भौतिक रूपकी अपेक्षा इतने अधिक अद्‌भुत हैं कि समस्त भौतिक "आश्चर्य" तुम्हें हंसनेको प्रेरित करते हैं — यही अर्थ ठीक जान पड़ता है।

किन्तु जिस कुंजीकी आप चर्चा कर रही हैं और जो उनके पास नहीं हैं, क्या वह आत्मा ही नहीं है? क्या वह आत्माकी शक्ति ही नहीं है जो जड़-पदार्थ पर उसे बदलनेके लिये कार्य

---

[1]एक साधकने माताजीसे पूछा कि क्या यह "कोई वस्तु" अतिमानसिक शक्ति ही नहीं थी? माताजीने उत्तरमें कहा: "मैं इसे कोई नाम न देना चाहूंगी। कारण, लोग इसे एक मत बना लेंगे। यही बात तब हुई थी जब १९५६ में वह घटना घटी जिसे हम "पहली अतिमानसिक अभिव्यक्ति" कहते हैं। मैंने इसे धार्मिक सिद्धान्त बननेसे रोकनेके लिये भरसक कोशिश की। किन्तु यदि मैं कहूं कि अमुक दिन अमुक घटना घटी, तो वह बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिख दी जायगी, और तब यदि किसीने इससे कुछ भिन्न बात कही तो उससे कहा जायगा : "तुम नास्तिक हो।" मैं यह नहीं चाहती। तथापि यह निर्विवाद है कि अब वातावरण बदल गया है, वातावरणमें नवीन वस्तु प्रवेश कर गयी है — इसे "अतिमानसिक सत्यका अवरोहण" कहा जा सकता है, क्योंकि हमारे लिये इस शब्दका एक अर्थ है। किंतु मैं इसकी घोषणा नहीं करना चाहती, क्योंकि मैं यह नहीं चाहती कि यह उस घटनाको वर्णित करनेवाला एक शास्त्रीय या "सच्चा" ढंग हो। इसीलिये मैं जान-बूझकर अपने वाक्यको अस्पष्ट छोड़े देती हूं।"

कर रही है -- भौतिक चमत्कार करनेके लिये भी? क्या आत्मामें वह शक्ति नहीं होती?

उसके पास यह शक्ति है और वह लगातार इसका प्रयोग भी कर रही है, किन्तु मानव चेतना इसके प्रति सचेतन नहीं है, और एक बड़ा अन्तर यह है कि वह चेतन हो जाती है, किन्तु यह एक ऐसी वस्तुके प्रति चेतन होती है जो "सदा वहां" मौजूद रहती है। दूसरे व्यक्ति इसे अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि वे उसे देखते नहीं।

उदाहरणार्थ, मुझे इसका अध्ययन करनेका अवसर मिला था। मेरे लिये, परिस्थितियां, व्यक्तित्व, सब घटनाएं, सब सत्ताएं, सब किन्हीं नियमोंके अनुसार चलती हैं, यदि इन्हें नियम कहा जा सके तो; ये नियम कठोर नहीं होते। किन्तु जो मैं देखती हूं और जो मुझे देखनेमें समर्थ बनाता है वह यह है: एक बात मुझे दूसरी बातकी ओर ले जायगी, फिर वह उससे आगे ले जायगी, और यह भी कि चूंकि वह व्यक्ति ऐसा है, उसके साथ यह घटेगा। यह अधिकाधिक यथार्थ होता है। इससे मैं आवश्यकता पड़नेपर भविष्यवाणी भी कर सकती हूं। किन्तु उस क्षेत्रमें कारण और परिणामका यह सम्बन्ध मेरे लिये बिलकुल स्पष्ट है और तथ्यों द्वारा अनुमोदित है -- पर, जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं, जिन लोगोंमें यह दृष्टि और आत्माकी यह चेतना नहीं है, उनमें परिस्थितियां अन्य नियमोंके अनुसार कार्य करती हैं जो कि ऊपरी होते हैं, इन्हें वे वस्तुओंके स्वाभाविक परिणाम समझते हैं। ये नियम बिलकुल ऊपरी होते हैं; ये गहन विश्लेषणके आगे नहीं टिक सकते किन्तु व्यक्तियोंमें आन्तरिक योग्यता नहीं होती, इसलिये उन्हें इससे कष्ट नहीं होता, यह बात उन्हें स्पष्ट प्रतीत होती है।

मेरे कहनेका मतलब यह है कि इस आंतरिक ज्ञानमें विश्वास दिलानेकी शक्ति नहीं होती। इसीलिये जब किसी घटनाके विषयमें मैं देखती हूं: "ओह! यह (मेरे लिये) बिलकुल स्पष्ट है; मैंने भगवान्‌की शक्तियोंको वहां कार्य करते देखा है, मैंने अमुक-अमुक परिणाम उत्पन्न होते देखे हैं और स्वभावतः यही कुछ होनेवाला है।" मेरे लिये यह बिलकुल स्पष्ट है, किंतु जो मैं जानती हूं वह नहीं कहती क्योंकि वह उनके अनुभवकी किसी भी वस्तुसे मेल नहीं खाता। वह उन्हें इधर-उधरकी बातें और पाखंडभरे दावे प्रतीत होंगे। दूसरे शब्दोंमें, जब तुम्हें स्वयं वह अनुभूति नहीं हुई है तो दूसरेकी अनुभूति तुम्हें विश्वासोत्पादक नहीं लगती, तुम्हें वह निश्चय दिला ही नहीं सकती।

यह शक्ति उतनी जड़-पदार्थपर कार्य करनेवाली शक्ति नहीं है — यह बात तो लगातार होती ही रहती है — जबतक सम्मोहक उपाय ही न प्रयुक्त किये जायं (जिनका कुछ मूल्य नहीं है, और जिनका कुछ फल भी नहीं निकलता), यह बुद्धिको खोलनेवाली है (कपालके ऊपर भेदनेकी मुद्रा); यही बात बहुत कठिन है . . . जो वस्तु अनुभवमें नहीं आयी उसका अस्तित्व ही नहीं होता।

किंतु यदि उनकी आंखोंके सामने कोई चमत्कार हो भी जाय तो ये उसकी भौतिक व्याख्या उपस्थित करेंगे। उनके लिये यह स्थूल शक्तियोंसे भिन्न किसी अन्य शक्तिके हस्तक्षेपके अर्थमें चमत्कार नहीं होगा। उनके पास अपने लिये अपनी भौतिक व्याख्या होगी, वह विश्वास उत्पन्न करनेवाली नहीं होगी।

तुम इसे केवल तभी समझ सकते हो जब स्वयं तुमने अपनी अनुभूतिमें इस क्षेत्रका स्पर्श कर लिया हो।

अतएव, तुम देखते हो और भली प्रकार देखते हो कि कोई वस्तु तुम्हारे अंदर जितनी जाग्रत होती है उतनी ही तुम्हारी समझनेकी संभावना अधिक होती है। इसीमें व्यक्ति अपना आश्रय पाता है, यही आधार है।

> जड़-पदार्थका रूपांतर शायद उतनी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है जितनी कि सत्य क्रियाके प्रति चेतन होना है।

मेरा ठीक यही अभिप्राय है। व्यक्तिके उसके प्रति सचेतन हुए बिना एक विशेष बिंदुतक रूपांतर हो सकता है।

यह कहा जाता है, कहा जाता है न, कि इस बातमें बहुत अंतर है। जब आदमी आया तो पशुके पास इसे जाननेका कोई साधन न था। हां, तो मैं कहती हूं यहां भी ठीक यही बात है। मनुष्यने जो कुछ प्राप्त किया है उस सबके होते हुए भी उसके पास साधन नहीं हैं। कुछ चीजें हो सकती हैं। उसे इसका ज्ञान बहुत पीछे, तब प्राप्त होगा जब उसके अंदरकी "कोई वस्तु" इतनी विकसित हो जायगी जो उसे देखने योग्य बनायेगी।

वैज्ञानिक प्रगति भी जब अपनी चरम सीमापर पहुंच जाती है, जहां व्यक्तिको ऐसा आभास मिलता है कि यहां वस्तुओंमें प्रायः कोई भेद नहीं रहा है, उदाहरणार्थ, जब वे तत्त्वके एक उस एकत्वपर पहुंच जाते हैं, जब ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल एक संक्रमणसे बढ़कर कुछ नहीं है

और वह भी प्रायः एक अवस्था और दूसरी अवस्था (भौतिक और आध्यात्मिक)के बीच अगोचर और अगम्य बन गया है; न, बात ऐसी नहीं है, बिलकुल नहीं। उस प्रकारके एकत्वको जाननेके लिये व्यक्तिके अपने अंदर "उस दूसरी वस्तु"की अनुभूति होनी चाहिये, अन्यथा वह उसे नहीं जान सकता।

क्योंकि उन्होंने व्याख्या करनेकी योग्यता प्राप्त कर ली है, इसीलिये वे अपने लिये बाह्य तत्त्वोंकी इस प्रकार व्याख्या कर लेते हैं कि वे आंतरिक तथ्योंकी वास्तविकताके निषेधमें ही फंस जाते हैं — वे कहते हैं कि ये उस वस्तुके आगेकी कड़ी हैं जिनका उन्होंने अध्ययन किया है।

बात यह है कि उसकी अपनी रचनाके कारण — क्योंकि यह कहा जा सकता है कि कोई ऐसी मानवी सत्ता नहीं है जिसके पास इतनी सूक्ष्म सत्ता, आंतरिक सत्ता, अर्थात्, आत्माके साथ संबंधका कम-से-कम एक विचार या छाया या आरंभ न हो — इसी कारण इसके निषेधमें सदा ही एक दरार होती है, किंतु उसे वे दुर्बलता समझते हैं, — यही उनकी एकमात्र शक्ति है।

(मौन)

सच ही, जब व्यक्तिको अनुभूति हो जाती है, जब उसे उच्चतर शक्तियोंका अनुभव और ज्ञान तथा उनके साथ तादात्म्य प्राप्त हो जाता है, केवल तभी वह समस्त बाह्य ज्ञानकी सापेक्षताको देखता है; किंतु तबतक नहीं, तबतक यह नहीं हो सकता जबतक वह अन्य सत्योंको अस्वीकार ही करता है।

मेरे विचारमें श्रीअरविंद यही कहना चाहते थे; जब दूसरी चेतना विकसित होगी केवल तभी वैज्ञानिक मुस्कराकर कहेगा : "हां, वह सब ठीक था, किंतु . . ."

वस्तुतः यह एक वस्तु दूसरीतक नहीं पहुंचा सकती — भगवत्कृपाका अद्भुत तथ्य हो तो और बात है। यदि वैज्ञानिकके अंदर पूर्ण सच्चाई है, जो उसे उस बिंदुको, जहांसे कोई वस्तु उसकी बुद्धिसे बच निकलती है, देखने, उसका पूर्व ज्ञान और बोध प्राप्त करनेमें समर्थ बनाती है, तब यह सच्चाई उसे चेतनाकी दूसरी अवस्थातक ले जा सकती है, किंतु यह प्रतिक्रियाओंके द्वारा नहीं हो सकता। नये बोधको, नये स्पंदन और आत्माकी नयी अवस्थाको स्वीकार करनेके लिये किसी वस्तुको अपना स्थान छोड़ना ही होगा।

एक बात और भी है: यह एक व्यक्तिगत प्रश्न है, किसी वर्ग या श्रेणीका नहीं — प्रश्न है कि क्या एक वैज्ञानिक "कुछ और"... बननेके लिये तैयार है या नहीं।

(मौन)

केवल एक बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है: तुम जो कुछ जानते हो, चाहे वह कितना भी सुन्दर क्यों न हो, उसकी तुलनामें कुछ नहीं है जो तब जान सकोगे जब अन्य प्रणालियोंका उपयोग कर सकोगे। हां, बात यही है।

(मौन)

अभी पिछले दिनों मेरे कार्यका समस्त उद्देश्य यही था: जाननेकी इस अनिच्छापर कैसे कार्य किया जाय? यह बहुत लंबे समयसे चला आ रहा है, यह उसके आगेका अंश है जो श्रीअरविंदने अपने एक पत्रमें कहा था। उन्होंने कहा था कि भारतने अपनी प्रणालियोंके द्वारा आध्यात्मिक जीवन-के लिये उससे कहीं अधिक कार्य किया है जितना कि यूरोपने अपने संशयों और प्रश्नोंके साथ किया है। बात ठीक यही है। यह उस ज्ञानकी, उस विशेष प्रणालीकी जो कि विशुद्ध भौतिक प्रणाली नहीं है, अस्वीकृति है, यह अनुभवका, अनुभवकी वास्तविकताका निषेध है — इसका उन्हें कैसे विश्वास दिलाया जाय? ... और फिर कालीकी अपनी प्रणाली होती है, मार लगानेकी। किंतु मेरे अनुसार इसका अर्थ है अत्यधिक अपव्यय और थोड़ा-सा फल।

यह भी एक बड़ी समस्या है।

मेरे विचारमें समस्त प्रतिरोधपर विजय पानेमें जो एकमात्र विधि समर्थ हो सकती है वह है प्रेमकी विधि; किंतु विरोधी शक्तियोंने इसे इतना विकृत कर दिया है कि सच्चे लोगोंकी, सच्चे जिज्ञासुओंकी एक बड़ी संख्या इस विधिसे, इसके विकृत होनेके कारण, बचती है। कठिनाई यहीं है। इसीलिये इसमें समय लग रहा है। फिर भी ...।

२९-५-५६

१११ — अपनी सारी प्राप्तियोंके बावजूद ज्ञान एक शिशुके समान है; क्योंकि जब वह कोई चीज खोज निकालता है तब चिल्लाता और शोर मचाता हुआ सड़कोंपर इधर-उधर दौड़ता है; प्रज्ञा अपने कार्योंको बहुत दीर्घकालतक एक विचार-पूर्ण और शक्तिशाली मौनताके अंदर छिपाये रखती है।

११२ — भौतिक विज्ञान बकवास करता है और इस तरह आचरण करता है मानों उसने समस्त ज्ञान अधिकृत कर लिया हो। प्रज्ञा, जब चलती है तो, अपने एकाकी पदक्षेपको अपरिमेय महासागरोंके तटपर प्रतिध्वनित होते हुए सुनती है।

मौन... ओह! इसके बारेमें कुछ कहनेकी अपेक्षा इसका अभ्यास करना अधिक अच्छा है।

यह एक अनुभव है जो मुझे बहुत समय पहले यहां हुआ था। जो कुछ व्यक्तिने सीखा है उसका तत्काल ही प्रचार और उपयोग करनेकी इच्छा और उस उच्चतर ज्ञानके साथ संपर्कके बीचका भेद, जहां व्यक्ति यथासंभव शांत रहता है ताकि वह रूपांतरके लिये प्रभाव उत्पन्न कर सके। मुझे एक सजीव अनुभूति हुई है — यह सजीव अनुभूति आधे दिनतक रही — किंतु अब वह मुझे पुरानी, बहुत पुरानी और बहुत पीछेकी प्रतीत होती है।

इस मौनकी शक्ति क्या है? जब व्यक्ति ऊपरकी ओर उठता है तो वह एक प्रकारकी विशाल नीरवतामें प्रवेश करता है जो कि जम गयी है, जो सर्वत्र विद्यमान है, किंतु इस नीरवताकी शक्ति कौन-सी है? क्या यह कुछ करती है?

पहले जब लोग जीवनसे विलग हो जाना चाहते थे तो वे इसी वस्तु-की खोज करते थे। वे समाधिस्थ हो जाते थे, वे अपने शरीरको निश्चल छोड़ देते थे और फिर दुबारा उसमें प्रवेश करते थे, और तब वे पूर्णतया प्रसन्न हो जाते थे। जो संन्यासी जीवित ही भूमिगत हो जाते थे वे इसी प्रकारके थे। वे कहते थे: "अब मैंने अपना कार्य पूरा कर लिया है (वे बड़े सुन्दर वाक्योंका प्रयोग करते थे), मैंने अपना काम समाप्त

कर लिया है, मैं अब समाधिमें जाता हूं।" और वे जीवित अवस्थामें ही जमीनके अंदर समाधि ले लेते थे। वे किसी कमरे या किसी भी स्थानमें प्रवेश करते थे और उसे बंद कर दिया जाता था और बस फिर सब कुछ समाप्त! तब होता यह था: वे समाधिमें चले जाते और उनका शरीर कुछ समय बाद स्वभावतः ही विघटित हो जाता, और वे स्वयं 'शांति'में निवास करते थे।

> किंतु श्रीअरविंद कहते हैं कि यह 'नीरवता' शक्तिशाली है।

शक्तिशाली, हां।

> हां, तो मैं यह जानना चाहता हूं कि यह ठीक किस रूप-में शक्तिशाली है? कारण, व्यक्तिको ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक सनातन कालतक वहां रह सकता है।

एक सनातन कालतक नहीं — 'सनातन' कालतक।

> ...बिना इसके कि वह किसी वस्तुको बदले।

न, क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है, यह अभिव्यक्तिसे बाहर-की वस्तु है। किंतु श्रीअरविंद यह चाहते हैं कि व्यक्ति उसे यहां, नीचे उतारे। बस यही है बात, कठिनाई यही है। और उसे दुर्बलता-को, तथा जो हमें मूढ़ता प्रतीत होती है उसको भी, बल्कि सब कुछको स्वीकार करना चाहिये। और ऐसा व्यक्ति लाखोंमें एक भी नहीं होता जिसमें यह सब करनेका साहस हो।

पलायन करनेके लाखों तरीके हैं। टिके रहनेका केवल एक तरीका है, और वह है समस्त दुर्बलताओंके आभासको, शक्तिहीनताके आभास और अबोधके आभासको, हां, 'सत्य'के निषेधके आभासको सच-मुच स्वीकारनेका साहस और सहनशीलता। पर यदि तुम इसे स्वीकार नहीं करते तो यह कभी नहीं बदलेगा। जो लोग महान्, प्रबुद्ध, बलवान् और शक्तिशाली और ऐसे सब कुछ बने रहना चाहते हैं, वे फिर वहीं टिके रहते हैं, वे पृथ्वीके लिये कुछ नहीं कर सकते।

और बोधका यह अभाव एक छोटी-सी वस्तु है (एक बहुत ही छोटी

वस्तु, क्योंकि चेतना इतनी सक्षम है कि वह इससे जरा भी प्रभावित नहीं होती), किंतु यह न समझनेकी क्रिया सामान्य एवं सर्वांगीण है। अर्थात्, जो तुम करते हो उसके कारण तुम अपमान, घृणाका व्यवहार आदि सब स्वीकार कर लेते हो क्योंकि उनके अनुसार (पृथ्वीके "महान् विद्वानों"के अनुसार) तुमने अपनी दिव्यता छोड़ दी है। वे बिलकुल ऐसा तो नहीं कहते; वे कहते हैं: "क्या? तुम कहते हो तुम्हारे पास दिव्य चेतना है, और फिर..." और ऐसा सब लोगोंमें, सब परिस्थितियोंमें देखनेमें आता है। कभी-कभी, एक क्षणके लिये, किसीको एक झलक मिल सकती है, किंतु ऐसा अपवादरूप ही होता है, जब कि सब यही कहते हैं: "ठीक है, अपनी शक्ति दिखाओ।" सर्वत्र ऐसा ही है।

उनके लिये, स्पष्ट ही, पृथ्वीपर दिव्य सत्ताको सर्वशक्तिमान् होना ही चाहिये।

यही बात है: "अपनी शक्ति दिखाओ, संसारको बदलो। और आरंभके लिये: जो मैं चाहता हूं वह करो। ऐसा ही है न? पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है: जो मैं चाहता हूं वह करो, अपनी शक्ति दिखाओ।" हां, तो यही बात वे सदा कहते रहते हैं।

२५-९-५६

११३ — घृणा एक गुप्त आकर्षणका चिह्न है जो अपने-आपसे दूर भागनेके लिये उत्सुक तथा स्वयं अपने ही अस्तित्वको अस्वीकार करनेके लिये पागल रहता है। वह भी भगवान्‌के जीवके अंदर उनकी ही एक लीला है।

११४ — स्वार्थपरायणता ही एकमात्र पाप, नीचता ही एकमात्र अधर्म और घृणा ही एकमात्र अपराध है। अन्य सभी चीजें आसानीसे शुभ वस्तुओंमें पलटी जा सकती हैं, पर ये तीनों बड़े हठके साथ देवत्वका विरोध करती हैं।

यह एक प्रकारके स्पंदनके समान है — उन लोगोंसे प्राप्त स्पंदन जो घृणा करते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा स्पंदन है

जो अपने मूल रूपमें प्रेमके स्पंदनके समान ही है। इसकी गहराईमें वही वेदन विद्यमान है। यद्यपि ऊपरी तलपर यह उसका विरोधी है, पर इसका आधार वही स्पंदन है। और यह भी कहा जा सकता है कि तुम उस वस्तुके उतने ही दास हो जिससे घृणा करते हो जितना कि उस वस्तुके जिससे तुम प्रेम करते हो, बल्कि उससे भी अधिक। यह ऐसी वस्तु है जो तुम्हें पकड़ लेती है, तुम्हारे पीछे पड़ जाती है और तुम इससे प्रेम करते हो, यह एक वेदन है जो तुम्हें प्रिय है, क्योंकि इसकी उग्रताके नीचे आकर्षणकी एक ऐसी ऊष्णता है जो उतनी ही बड़ी है जितनी कि तुम अपने प्रेमपात्रके लिये अनुभव करते हो। और ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य प्रतीतिकी इस विकृतिका कारण केवल अभिव्यक्तिकी क्रियामें है।

जिससे तुम घृणा करते हो वह तुम्हारे विचारमें, उसकी अपेक्षा जिससे तुम प्रेम करते हो, अधिक रहता है और यह विचारमें अधिक रहना इसी आंतरिक स्पंदनके कारण होता है।

इन सब "वेदनों" (इन्हें क्या कहा जाय?) में एक प्रकारका स्पंदन होता है जिसके केंद्रमें एक बड़ी मूलभूत वस्तु होती है, जिसपर मानों तहों-पर-तहें चढ़ी हुई हैं जो उसे छुपाये हैं। तब उसके ठीक केंद्रमें जो स्पंदन होता है वह बिलकुल यही होता है और ज्यों ही वह अपनी अभि-व्यक्तिके लिये "फूल उठता है, त्यों ही वह विकृत हो जाता है। प्रेम-के लिये भी यही बात बिलकुल स्पष्ट है। बहुत अधिक व्यक्तियोंमें यह बाह्यतः एकदम भिन्न आंतरिक स्पंदनोंवाली वस्तु होती है, कारण, यह एक ऐसी वस्तु है जो वापिस अपने ऊपर जा गिरती है, कठोर हो जाती है और अधिकारकी अहंकारपूर्ण क्रियाके वशीभूत होकर प्रेमपात्रको अपनी ओर खींचना चाहती है। तुम प्रेम पाना **चाहते हो**। तुम कहते हो: "मैं उस व्यक्तिसे प्रेम करता हूं," किंतु साथ ही वह वस्तु जो तुम चाहते हो, वह भावना जिसमें तुम निवास करते हो, यह होती है: "मैं चाहता हूं कि वह भी मुझसे प्रेम करे।" अतः यह एक ऐसी विकृति है जो लगभग उतनी ही बड़ी है जितनी कि घृणाकी है, जिसका अर्थ है कि व्यक्ति अपनी प्रेमपात्र वस्तुको नष्ट करना चाहता है जिससे कि वह उससे बंधा न रहे। कारण, जो तुम चाहते हो वह तुम्हें अपने प्रेमपात्रसे नहीं मिलता। तुम उसे नष्ट करना चाहते हो ताकि तुम स्वतंत्र हो जाओ। दूसरी दशामें तुम एक प्रकारके आंतरिक क्रोधके अधीन होकर अपने-आपको कठोर बना लेते हो, क्योंकि तुम स्वयं उसे नहीं पाते, अपने प्रेमपात्रको आत्मसात् नहीं कर सकते। और सच्ची बात तो यह है कि (माताजी

हंसती हैं) गहनतर सत्यके दृष्टिकोणसे इनके रूपोंमें अधिक भेद नहीं है।

जब केन्द्रीय स्पन्दन विशुद्ध रहता है और अपनी प्रारंभिक विशुद्धतामें अपने-आपको अभिव्यक्त करता है, तो यही प्रस्फुटन होता है (इसे क्या कहा जाय? . . . यह एक ऐसी वस्तु है जो अपने-आपको विकीर्ण करती है। यह एक स्पन्दन है जो गरिमापूर्ण ढंगसे विस्तारित होता है, जो पुष्पके समान खिलता है, हां, उज्ज्वल रूपमें खिलता है); तभी वह सच्चा रहता है। भौतिक रूपमें यह अनूदित होता है आत्म-दानमें, आत्म-विस्मृतिमें, आत्माकी उदारतामें। और यही सच्ची क्रिया है। किन्तु जिसे साधारणतया "प्रेम" कहा जाता है वह प्रेमके केन्द्रीय स्पन्दनसे उतनी ही दूर है जितनी कि घृणा; अन्तर केवल इतना है कि एक सिकुड़ता है, कठोर और ठोस बन जाता है और दूसरा प्रहार करता है, बस इसीमें सारा अन्तर है।

यह बात विचारोंमें देखनेमें नहीं आती, केवल स्पन्दनोंमें ही देखी जाती है। यह बहुत मनोरंजक है।

अभी पिछले दिनों मैंने इसका कोई कम अध्ययन नहीं किया है। मुझे इन स्पन्दनोंको देखनेका अवसर प्राप्त हुआ है: "बाह्य परिणाम खेदजनक हो सकते हैं, व्यावहारिक दृष्टिकोणसे घृणास्पद भी हो सकते हैं, अर्थात् इस प्रकारका स्पन्दन हानि पहुंचाने और विनाशकी प्रवृत्तिको उत्साहित करता है, किन्तु गहनतर सत्यके दृष्टिकोणसे यह एक ऐसी विकृति नहीं है जो दूसरेसे बहुत अधिक बड़ी हो, यह केवल अधिक आक्रामक अवश्य है — तो भी।"

यदि तुम इस अनुभूतिका और अधिक, गहनतर अध्ययन करते हो, यदि तुम इस स्पन्दनपर अपने-आपको एकाग्र करते हो तो तुम देखते हो कि यह सृष्टिका आरंभिक स्पन्दन है और यही उस सबमें जो वस्तुतः है, रूपान्तरित और विकृत हुआ है। और तब वहां एक प्रकारकी सर्वग्राही उष्णता भी है (इसे ठीक "मधुरता" नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह होगी एक उग्र प्रकारकी मधुरता), एक सर्वग्राही उष्णता जिसमें मुस्कराहट भी उतनी ही है जितना कि विषाद — वस्तुतः मुस्कराहट विषादसे कहीं अधिक है . . .

यह बात विकृतिका औचित्य सिद्ध नहीं करती किन्तु सबसे अधिक यह उस चुनावके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जिसे मानव मनने (विशेषतया मानव नैतिकताने) एक प्रकारकी विकृति और एक दूसरे प्रकारकी विकृतिके बीच किया है। विकृतियोंकी एक प्रकारकी शृंखला है जिन्हें लोग "बुरा" कहते हैं; विकृतियोंकी एक अन्य शृंखला भी है जिसमें लोग रस लेते हैं, या

जिसे लगभग सराहते हैं! पर फिर भी यदि मूल-तत्त्वकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह विकृति दूसरी विकृतिसे कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है -- यह केवल चुनावका प्रश्न है।

मूलतः व्यक्तिको पहले केन्द्रीय स्पन्दनको देखना चाहिये और तब उस **अद्वितीय** और अद्‌भुत गुणकी प्रशंसा करनी चाहिये ताकि अनायास और सहज भावमें समस्त विकृतियोंसे दूर रहा जा सके, चाहे जो भी हो, अच्छी विकृतियोंसे और साथ ही दुष्ट विकृतियोंसे भी।

हम सदा उसी वस्तुपर आ जाते हैं, समस्याका समाधान एक ही है; वस्तुओंके सत्यको जानना और उससे चिपटे रहना, — इस मूलभूत सत्य-को, मूलभूत प्रेमके सत्यको प्राप्त करना और उसीसे चिपटे रहना।

२५-१२-६५

११५ -- जगत् एक दीर्घ आवर्त्त-दशमलव है और उसका पूर्णांक है ब्रह्म। आवृत्तिकाल प्रारंभ और समाप्त होता हुआ प्रतीत होता है, पर भग्नांश अनंत होता है; इसका कभी अंत नहीं होगा और वास्तवमें इसका कोई प्रारंभ भी नहीं था।

११६ -- वस्तुओंका 'आदि और अंत' हमारी अनुभूतिको व्यक्त करनेवाले लौकिक शब्द हैं; अपने यथार्थ स्वरूपमें इन शब्दों-में कोई सत्य नहीं है; न तो कहीं आदि है और न कहीं अंत।

केवल पिछले सप्ताह ही इस अनुभूतिका पूरा विकास हुआ।

अपने मूल रूपमें यह बात जगतोंके लिये और व्यक्तियोंके लिये एक ही है, विश्वोंके लिये और जगतोंके लिये। केवल अवधिमें अन्तर होता है — एक व्यक्ति, वह छोटा-सा है; एक जगत्, वह जरा बड़ा है; और एक विश्व, वह जरा और अधिक बड़ा है! किन्तु जो कुछ आरंभ होता है उसका अन्त भी होता है।

फिर भी श्रीअरविन्द कहते हैं कि "न आदि है, न अन्त"।

हमें शब्दोंका प्रयोग तो करना ही पड़ता है, किन्तु वास्तविक "वस्तु" छूट जाती है। जो हमारे सामने "सनातन तत्त्व", "सर्वोच्च सत्ता", "भगवान्"के नामसे अनूदित किया गया है उसका न आदि है, न अन्त

(हमें यह कहना पड़ता है कि "वह है", किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यह 'अनभिव्यक्त' और 'अभिव्यक्त' दोनोंसे ऊपर है; यह एक ऐसी वस्तु है जिसे व्यक्ति 'अभिव्यक्ति'में समझ या देख सकनेमें असमर्थ है), और इसका न आदि है, न अन्त। किन्तु सतत और सनातन रूपमें यह एक ऐसी वस्तुमें व्यक्त होता है जिसका आरंभ भी होता है और अन्त भी। केवल, 'अन्त' होनेके दो तरीके हैं, एक विनाश और पूर्ण विलय प्रतीत होता है और दूसरा है रूपान्तर। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे 'अभिव्यक्ति' पूर्णातिपूर्ण होती जायगी, वैसे-वैसे विनाशकी आवश्यकता कम होती जायगी और फिर एक ऐसा क्षण आयगा जब वह लुप्त हो जायगी और उसका स्थान विकसनशील रूपान्तरकी प्रक्रिया ले लेगी। किन्तु कहने-का यह तरीका बिलकुल मानवी और बाह्य है।

मैं शब्दोंकी अपर्याप्तताको पूरी तरह जानती हूं, किन्तु शब्दोंके द्वारा ही तुम्हें वास्तविक वस्तुको पकड़ना है...। मानव-विचारकी (और अभि-व्यक्तिकी तो और भी अधिक) कठिनाई यह है कि शब्दोंमें आरंभकी भावना सदा रहती है।

(मौन)

मुझे ऐसी अभिव्यक्तिकी अनुभूति हो चुकी है — ऐसा कहा जा सकता है कि एक 'स्पन्दनशील' अभिव्यक्तिकी जो प्रस्फुटित होती है, पीछे हट जाती है, फिर खुलती है और पुनः पीछे हट जाती है...। एक ऐसा समय आता है जब यह प्रस्फुटन ऐसा होता है, तरलता और नमनीयता एवं परिवर्तनकी क्षमता ऐसी होती है कि पुनर्निर्माणके लिये पुनः विलय होने-की आवश्यकता नहीं पड़ती; यह एक विकसनशील अभिव्यक्ति होगी। मैं एक गुह्यवेत्ताको जानती थी। वह कहा करता था कि यह विश्वकी सातवीं सृष्टि है, छः बार पहले प्रलय हो चुकी है और यह सृष्टि सातवीं है, किन्तु यह अपना पुनः विलय किये बिना ही अपना रूपान्तर साधित कर सकेगी — पर इस बातका कुछ भी महत्त्व नहीं है, क्योंकि जब व्यक्ति-के पास सनातन चेतना होती है तो उसके लिये इस बातका कोई महत्त्व नहीं रहता कि यह ऐसा हो सकता है या वह वैसा हो सकता है। केवल सीमित मानव चेतनामें ही, एक अन्तहीन वस्तुके लिये इस प्रकारकी महत्त्वा-कांक्षा या आवश्यकता होती है, क्योंकि व्यक्तिके अन्दर एक ऐसी वस्तु है जिसे "सनातनताकी स्मृति" कहा जा सकता है और सनातनताकी यह स्मृति इस बातकी अभीप्सा करती है कि अभिव्यक्ति इस सनातनतामें भाग

ले। किन्तु यदि सनातनताकी यह भावना सक्रिय होती है एवं विद्यमान रहती है तो व्यक्तिको खेद नहीं होता — खेद इसलिये नहीं होता क्योंकि वह मैले-कुचैले कपड़ोंको त्याग देता है, ऐसा करता है न! (उसे वे कपड़े पसन्द हो सकते हैं, पर वह उनके लिये रोता-धोता नहीं)। यहां भी यही बात है। यदि एक विश्व लुप्त हो जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि वह अपना कार्य पूरी तरह पूरा कर चुका है, वह अपनी संभावनाओंके अंतिम छोरतक पहुंच गया है और अब उसके स्थानपर दूसरेको आना चाहिये।

मैंने पूरे मोड़का अनुसरण किया है। जब तुम अपनी चेतमा और विकासमें बच्चे होते हो, तुम्हें इस बातकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव होती है कि पृथ्वीको लुप्त नहीं होना चाहिये, उसे सदा बने रहना चाहिये (जितना भी हो सके रूपान्तर अवश्य हो, किन्तु पृथ्वी सदा बनी रहे)। कुछ समय बाद, जब व्यक्ति जरा परिपक्व अवस्थाको प्राप्त कर लेता है, तब वह इसे बहुत कम महत्त्व देता है। और जब वह सनातनताकी भावनाके साथ सतत संपर्क प्राप्त कर लेता है, तो केवल चुनावका प्रश्न बाकी रह जाता है। वह अब आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि यह एक ऐसी वस्तु है जो सक्रिय चेतनापर कोई प्रभाव नहीं डालती। कुछ दिन पहले (मुझे याद नहीं कब, पर अभी हालमें ही), एक सवेरे मैं इसी 'चेतना'में बनी रही और मैंने सत्ताके विकासके मोड़पर देखा कि इस प्रकारकी आवश्यकताने (जो अंतरीय आवश्यकता प्रतीत होती थी), पृथ्वीके जीवनको लम्बा करनेकी आवश्यकताने — पृथ्वीके जीवनको असीम रूपमें लम्बा करनेकी आवश्यकताने — मूर्त रूप धारण कर लिया है। अब वह इतनी अन्तरीय नहीं रही; यह मानों ऐसा हुआ कि व्यक्ति किसी दृश्यको देखकर अपना निर्णय देता है कि इसे ऐसा होना चाहिये या वैसा होना चाहिये ...। दृष्टिकोणके परिवर्तनके रूपमें यह बात मनोरंजक है।

यह एक कलाकारके समान है, किन्तु एक ऐसा कलाकार जो अपना निर्माण कर रहा था और जो, एक प्रयोग, दो प्रयोग, तीन प्रयोग बल्कि जितने प्रयोगोंकी आवश्यकता पड़ी उतने प्रयोग कर रहा था, तब वह एक ऐसी वस्तुपर पहुंचा जो अपने-आपमें पर्याप्त रूपमें पूर्ण होनेके साथ-साथ इतनी ग्रहणशील भी है कि अपने-आपको नयी अभिव्यक्तियों तथा इन नयी अभिव्यक्तियोंकी आवश्यकताओंके अनुकूल इस ढंगसे बना सके कि प्रत्येक वस्तुको पीछे हटाना, फिर मिला-जुला देना और पुनः उत्पन्न करना आवश्यक नहीं होगा। किन्तु यह बात बस इतनी ही है और जैसा कि मैंने कहा है, यह प्रश्न चुनावका है। अभिव्यक्ति बाह्यीकरणके आनन्दके

लिये की गयी है, है न? (आनन्द या रुचि या... जो कुछ भी हो) और जब निर्मित वस्तु पर्याप्त रूपमें नमनीय, पर्याप्त रूपमें ग्रहणशील, पर्याप्त रूपमें लचीली और पर्याप्त रूपमें व्यापक होती है ताकि उसमें इतनी क्षमता हो कि अभिव्यक्त होती हुई नयी शक्तियां उसे सदा ढालती रहें, तब प्रत्येक वस्तुका पुनः निर्माण करनेके लिये प्रत्येक वस्तुको नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं होगी।

यह मोड़ एक पुरानी कहावतके साथ सामने आया था: "जो आरंभ होता है उसका अन्त भी होगा"—यह मुझे मनुष्यकी उन मानसिक रचनाओंमेंसे एक रचना प्रतीत होती है जो आवश्यक रूपमें सच्ची नहीं होती किन्तु आन्तरिक रूपमें मनोरंजक बात यह है कि ज्यों ही तुम इसे एक उच्चतर दृष्टिकोणसे (अथवा सच पूछो तो, एक अधिक केन्द्रीय दृष्टिकोणसे) देखते हो तो इस समस्याकी तीक्ष्णता समाप्त हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही सिद्धान्त नहीं, क्योंकि यह सिद्धान्त नहीं है—एक नियम है जो व्यक्तिपर, जगतों एवं विश्वोंपर, सबपर लागू होता है।

(लंबा मौन)

ज्यों ही तुम व्यक्त करनेकी चेष्टा करते हो (माताजी विपर्ययका संकेत करती हैं) सब कुछ मिथ्या हो जाता है... मैं चेतनाके साथ, 'सर्व'के साथ सम्बन्धके अनुभवको देख रही थी; 'सर्व'के साथ मानव सत्ताके सम्बन्धके; सर्वके साथ पृथ्वीके (पृथ्वीकी चेतना) सम्बन्धके; सबके साथ अभिव्यक्त विश्वकी चेतनाके सम्बन्धके; सर्वके साथ उस चेतनाके सम्बन्धके जो विश्वपर—समस्त विश्वोंपर—आधिपत्य रखती है; और यह अवर्णनीय तथ्य कि चेतनाका प्रत्येक बिन्दु (एक ऐसा बिन्दु जो स्थानको नहीं घेरता), ऐसा चेतनाका प्रत्येक बिन्दु **समस्त** अनुभवको प्राप्त कर सकता है... यह कहना बहुत कठिन है।

यह कहा जा सकता है कि केवल सीमाएं ही भेदोंको उत्पन्न करती हैं—कालके भेद, देशके भेद, आयामके भेद, सामर्थ्यके भेद। केवल सीमाएं ही ऐसा करती हैं। ज्यों ही चेतना अभिव्यक्तिके किसी स्थलपर अपनी सीमाओंका त्याग कर देती है, अभिव्यक्तिका आयाम कुछ भी हो (हां, अभिव्यक्तिके आयामका बिलकुल महत्त्व नहीं), अभिव्यक्तिके किसी भी स्थलपर, यदि व्यक्ति सीमाओंके बाहर आ जाता है, तो "वही" एक चेतना होती है।

इस दृष्टिकोणसे देखनेके बाद यह कहा जा सकता है कि सीमाओंकी स्वीकृतिने ही अभिव्यक्तिको अनुमति दी है। अभिव्यक्तिकी संभावना सीमाकी भावनाको स्वीकार करनेके साथ आयी... यह कहना असंभव है। ज्यों ही व्यक्ति बात करना आरंभ करता है, उसे सदा एक ऐसी वस्तुका भान होता है जो ऐसा करती है (विपर्ययका वही संकेत), एक प्रकारका झुकाव, और तब यह समाप्त हो जाता है, मूल वस्तु चली जाती है। तब दार्शनिक भाव आगे आकर कहता है: "तुम ऐसा कह सकते हो, वैसा कह सकते हो...!" यदि शब्दोंका प्रयोग किया जाय तो प्रत्येक बिन्दुमें 'असीम' और 'सनातन'की चेतना निहित है (ये शब्द हैं, मात्र शब्द)। किन्तु अनुभूतिकी संभावना वहां होती है। यह एक प्रकारसे देशकी सीमासे बाहर निकल आना है...। खेलके भावमें यह कहा जा सकता है कि पत्थरमें भी, बल्कि... हां, निश्चय ही जलमें भी, और आग-में भी अवश्य ही **उसी** चेतनाकी शक्ति विद्यमान है — हां, चेतना (जो भी शब्द हम प्रयुक्त करते हैं वे मूर्खतापूर्ण हैं!) मूल, सार, आद्य (इस सबका कुछ अर्थ नहीं है), सनातन, असीम...। इसका भी कुछ अर्थ नहीं है, यह मुझे उस धूलका आभास देता है जो कांचपर इसलिये डाल दी जाती है जिससे वह पारदर्शक न रहे।... अन्तमें, निष्कर्षके रूपमें, उस अनुभूतिमें निवास कर चुकनेके बाद (इन दिनों यह अनुभव मुझे बार-बार हुआ था, वहां यह सर्वोच्च स्थितिपर रहा, सब वस्तुओं, कार्यों, क्रियाओं आदिके होते हुए भी इसीका वहां सबपर आधिपत्य रहा), किसी भी विधिके प्रति समस्त आसक्ति, उन विधियोंके प्रति जिन्होंने युगों लोगोंको चलाया है मुझे एक बचकानापन लगता है। और फिर भी, यह केवल एक चुनाव ही तो है: तुम यह चाहते हो कि ऐसा हो या वैसा हो, तुम यह या यह या यह कहते हो... मेरे बच्चो, अपना मनोरंजन करो... यदि इससे तुम्हारा मनोरंजन होता हो तो।

किन्तु यह निश्चित है (प्रचलित भाषाके अनुसार), यह निश्चित है कि मानव मनको कार्य करनेकी प्रेरणा पानेके लिये एक घर बनानेकी आव-श्यकता है — थोड़ा-बहुत बड़ा, थोड़ा-बहुत पूर्ण, थोड़ा-बहुत नमनीय। किन्तु उसे एक निवास-स्थानकी आवश्यकता है। केवल (माताजी हंसती हैं) बात यही नहीं है। यह सब कुछको मिथ्या बना देता है।

और अनोखी बात यह है — हां, अनोखी बात यह है — कि बाह्य रूपसे व्यक्ति यंत्रवत् जीवनके कुछ ढर्रोंके अनुसार रहता चला जाता है (जो अब तुम्हें आवश्यक प्रतीत नहीं होते, न ही जिनमें अभ्यासकी स्वा-भाविक शक्ति ही रहती है) और जिन्हें तुमने प्रायः यंत्रवत् ही स्वीकार

कर लिया है एवं जीवनमें उतार लिया है और इसके साथ यह भावना रहती है (एक प्रकारकी भावना, अथवा वेदन, किन्तु यह न भावना है, न वेदन, यह एक प्रकारका बहुत सूक्ष्म बोध है) कि 'कोई वस्तु' जो अवर्णनीय रूपसे विशाल है उसे चाहती है। मैं कहती हूं उसे "चाहती है" या मैं कहती हूं उसे "चुनती है", किन्तु वस्तुतः यह उसके लिये "संकल्प करती है"। यह एक ऐसा संकल्प है जो मानव इच्छाके अनुसार कार्य नहीं करता, बल्कि जो उसके लिये संकल्प करता है — जो उसे चाहता है, या उसे देखता है या उसके बारेमें निश्चय करता है। और प्रत्येक वस्तुमें यह प्रकाशमय, स्वर्णिम और अनिवार्य स्पन्दन विद्यमान है जो आवश्यक रूपमें सर्वशक्तिमान् है। और यह 'निश्चयता'के पूर्ण सुखकी पृष्ठभूमि प्रदान करता है जो एक सदय और विनोदपूर्ण मुस्कराहटके द्वारा चेतनामें जरा और नीचे अपने-आपको अनूदित करता है।

> आगे जाकर श्रीअरविन्द उन जगतोंकी चर्चा करते हैं जिनका न आदि है, न अन्त और वे कहते हैं कि उनकी उत्पत्ति और उनका नाश "हमारी बाह्य चेतनाके साथ आंख-मिचौलीका खेल है" . . .[१]

यह निश्चय ही उस वस्तुको कहनेका जिसे मैंने अभी कहा है एक बहुत सुन्दर ढंग है।

> मैं पूछना यह चाहता था कि क्या "दूसरे पार्श्व"से स्थूल जगत्को स्पष्ट रूपसे देखा जाता है या वह सब वाष्प बनकर उड़ जाता है?

यह भी इन पिछले दिनोंका एक अनुभव है। यह मुझे एक सुनिश्चित और पूर्ण ढंगसे प्राप्त हुआ था (यद्यपि, इसे व्यक्त करना बहुत कठिन है) कि भौतिक जगत्की, जैसा कि वह आज है, यह तथाकथित "भ्रान्ति"

---

[१]सूत्र संख्या ११७ — न तो यह ठीक है कि मैं पहले कभी नहीं था या तू नहीं था या ये राजा नहीं थे और न ऐसा ही है कि हम सब इसके बाद नहीं रहेंगे। केवल ब्रह्म ही नहीं, वरन् ब्रह्ममें विद्यमान सभी जीव और वस्तुएं नित्य हैं; उनका सृजन और संहार तो हमारी बाहरी चेतनाके साथ खेला जानेवाला आंख-मिचौलीका खेल है।

अनिवार्य थी; अर्थात् देखनेके, वस्तुओंके प्रति सचेतन होनेके स्थूल ढंग या स्थूल विधिपर इस सृष्टिकी "भ्रान्ति"ने विजय प्राप्त कर ली और उसके बिना इसका अस्तित्व न होता। और न ही यह एक ऐसी वस्तु है जो सच्ची चेतनाकी प्राप्तिके बाद असत्‌में विलीन हो जायगी — यह वह वस्तु है जो एक विशेष ढंगसे आकर **जुड़ जाती है,** और यह पहले अनुभव की गयी थी और हम इसी वस्तुमें उस समय अपनी मूल चेतनामें निवास कर चुके थे।

यह मानों इस सृष्टिका औचित्य सिद्ध करना हुआ जिसने एक विशेष प्रकारके बोधको संभव बना दिया है (जिसके लिये बाह्यीकरणमें ये शब्द — "स्पष्टता", "यथार्थता" प्रयुक्त हो सकते हैं) जिसका इसके बिना अस्तित्व ही न होता। कारण, उस समय जब यह 'चेतना' — पूर्ण चेतना, सच्ची चेतना, **एकमात्र** चेतना — वहां वर्तमान थी, केवल वही वहां थी, बस, वही विद्यमान थी, और कुछ नहीं था, तब यह कहा जा सकता है कि एक प्रकारके स्पन्दनके रूपमें वहां एक वस्तु थी, एक ऐसा स्पन्दन जिसमें स्पष्टता एवं बाह्य यथार्थता थी, जिसका अस्तित्व इस सृष्टिके बाह्य रूपके बिना नहीं टिका रह सकता था . . .। हां, तो यह बड़ा-सा "क्यों ?" वहां सदा उपस्थित रहा है — यह बड़ा "ऐसा क्यों, यह सब क्यों ?" जिसका परिणाम होता है वह सब जो मानव चेतनामें दुःख-कष्ट, बेबसी, और सामान्य चेतनाकी सभी भयंकरताओंके रूपोंमें व्यक्त होता है — क्यों ? यह क्यों ? और तब इसका उत्तर यों था : सच्ची चेतनामें एक प्रकारका स्पंदन होता है जो बाह्यीकरणमें स्पष्ट, यथार्थ एवं प्रत्यक्ष होता है, जो उसके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकता, जिसे अपने-आपको अभिव्यक्ति करनेका अवसर ही न मिलता। यह निश्चित है। यही उत्तर है — "क्यों"को दिया गया सबसे अधिक शक्तिशाली उत्तर।

यह स्पष्ट है — बिलकुल स्पष्ट है — कि जो कुछ हमारे लिये विकास, एक विकसनशील अभिव्यक्तिके रूपमें अनूदित होता है वह हमारी परिचित स्थूल अभिव्यक्तिका नियममात्र नहीं है, वरन् सनातन अभिव्यक्तिका मूल सिद्धांत है। यदि तुम नीचे, पार्थिव विचारके स्तरतक फिरसे उतरना चाहते हो तो कह सकते हो कि बिना विकासके अभिव्यक्ति ही नहीं होती। किंतु **हम** जिसे 'विकास' कहते हैं, जो हमारी चेतनाके लिये "विकास" है, वह वहां ऊपर है . . . यह कुछ भी हो सकता है, एक आवश्यकता, जो भी उसे कहना चाहो — यह एक प्रकारका पूर्ण तत्त्व है जिसे हम नहीं समझते, सत्ताका पूर्ण तत्त्व : यह 'ऐसा' है, क्योंकि यह 'ऐसा' है। बस यही। किंतु हमारी चेतनाके लिये, यह अधिकाधिक, और अच्छे-से-

अच्छा होता है (ये शब्द मूर्खतापूर्ण हैं), हमें इसका अधिकाधिक पूर्ण और अच्छे रूपमें आभास मिलता है। यही अभिव्यक्तिका मूल सिद्धांत है।

मुझे एक ऐसी अनुभूति भी हुई जो आयी तो क्षणिक रूपमें थी पर इतनी यथार्थ थी कि मैं कह सकती हूं (बहुत बुरे ढंगसे) — मैं 'अन-भिव्यक्ति'के "रस"के विषयमें कहने लगी थी — कि 'अभिव्यक्ति'के कारण अनभिव्यक्तिमें एक विशेष रस होता है।

यह सब शब्द मात्र हैं, किंतु तुम्हारे पास भी तो यही कुछ है। शायद एक दिन हमारे पास कुछ ऐसे शब्द और एक ऐसी भाषा होगी जो इन वस्तुओंको ठीक ढंगसे व्यक्त कर सकेगी, यह संभव है, किंतु यह होगा सदा एक अनुवाद ही।

वहां एक स्तर है (छाती जितनी ऊंचाईकी ओर संकेत करती हैं), जहां कोई वस्तु शब्दों, प्रतीकों, वाक्योंके साथ इस प्रकार (लाड़-प्यार और भावुकताकी भंगिमा) खेल करती है और यह सुन्दर प्रतिमूर्तियां गढ़ती है। यह परम वस्तुके साथ संपर्क स्थापित करनेकी शक्ति रखती है। शायद अधिक बड़ी (कम-से-कम इतनी बड़ी या शायद इससे बड़ी) यहांसे (माथे जितनी ऊंचाईका संकेत करती हैं) अधिक बड़ी दार्शनिक अभिव्यक्ति ("दार्शनिक" शब्दका प्रयोग, बात कहनेका एक ढंग है) : प्रतिमूर्तियां। दूसरे शब्दोंमें कविता। यहां इस अवर्णनीय स्पंदनके प्रति प्रायः अधिक सीधी पहुंच होती है। यहां मैं श्रीअरविंदकी भावाभिव्यक्तिको उसके कवितामय रूपमें देखती हूं, इसका एक अपना आकर्षण है, सरलता है — सरलता और मधुरता और पैठ जानेवाले आकर्षण — जो तुम्हें मस्तिष्ककी सभी वस्तुओंकी अपेक्षा अधिक घनिष्ठ रूपमें सीधे संपर्कमें ले आता है।

> जब व्यक्ति इस सनातन चेतनामें निवास करता है, तब शरीरका होना या न होना, इससे कुछ अधिक अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु जब व्यक्ति तथाकथित रूपमें "मर" जाता है, तो क्या भौतिक जगत्का बोध स्पष्ट और यथार्थ रहता है या वह वैसा ही अस्पष्ट और अयथार्थ हो जाता है जैसा कि दूसरे जगतोंकी चेतना तब हो सकती है जब कि वह इस ओर, अर्थात्, इस लोकमें होता है? श्रीअरविन्द आंख-मिचौलीके खेलकी चर्चा करते हैं। किन्तु आंख-मिचौलीका खेल मनो-रंजक होता है, यदि सत्ताकी एक अवस्था दूसरी अवस्थाओं-की चेतनाको दूर न हटा दे।

कल या परसों, सारे दिन ही, प्रातःकालसे सायंकालतक कोई वस्तु मुझसे कहती रही: "मैं हूं, मैं पृथ्वीपर मृत्युकी चेतना हूं, या वह चेतना मेरे पास है।" मैं इसे शब्दोंमें अनूदित करती हूं किन्तु, मानों ऐसा कहा गया था: "पृथ्वी और भौतिक वस्तुओंके सम्बन्धमें निष्प्राण व्यक्तिकी यही चेतना होती है...। मैं वह निष्प्राण व्यक्ति हूं जो पृथ्वीपर रहता है।" चेतनाकी स्थितिके अनुसार (क्योंकि चेतना अपनी स्थिति सदा बदलती रहती है), चेतनाकी स्थितिके अनुसार यह बात यों थी: "इसी प्रकार निष्प्राण व्यक्तियोंका पृथ्वीके साथ सम्बन्ध है।" फिर: "मैं पूर्णतया उस निष्प्राण व्यक्तिके समान हूं जिसका पृथ्वीके साथ संबंध है।" फिर: "मैं एक निष्प्राण व्यक्तिके समान रहती हूं जो पृथ्वी की चेतनामें रहता है।" और फिर: "मैं एकदम उस निष्प्राण व्यक्तिके समान हूं जो पृथ्वीपर रहता है"...आदि-आदि। मैं अपना काम करती रही, सदाकी भांति बोलती और कार्य करती रही। किन्तु बहुत दिनोंसे ऐसा होता रहा, बहुत समय-से, दो वर्षसे अधिक समयसे मैं जगत्को इस प्रकार देख रही थी (ऊपर-की ओर गति, एक अंशसे दूसरे अंशकी ओर, जो ऊपर लटक रहा है), और अब मैं इसे इस प्रकार देखती हूं (नीचेकी ओर गति)। मैं नहीं जानती, मैं तुम्हें कैसे समझाऊं, क्योंकि इसमें मनकी कोई चीज नहीं है, और मानस भावसे रहित वेदनोंमें कोई ऐसी अस्पष्ट-सी वस्तु होती है जिसकी परिभाषा करना कठिन है। किन्तु शब्द और विचार कुछ दूरी-पर थे (मस्तिष्कके चारों ओर संकेत करती हैं), एक ऐसी वस्तुके समान जो देखती है और परखती है, अर्थात्, जो वही कहती है जो वह देखती है—वह वस्तु जो आस-पास होती है। और मुझे आज दो-तीन बार यह अनुभूति बड़े सबल रूपमें हुई (मेरा मतलब यह है कि इस अवस्थाने समूची चेतनापर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था), यह एक आभास था (या वेदन या बोध, किन्तु यह ऐसा कुछ है नहीं): मैं एक निष्प्राण व्यक्ति हूं जो पृथ्वीपर रहता है।

इसकी व्याख्या कैसे की जाय?

और तब, उदाहरणार्थ, अन्तर्दर्शनके सम्बन्धमें बाह्य यथार्थताका वहां अभाव होता है (माताजी आंखोंसे न देखनेका संकेत करती हैं)। मैं चेतना-से होकर और उसके द्वारा देखती हूं। सुननेका भी मेरा ढंग बिलकुल दूसरा है। यहां एक प्रकारकी "विभेदकी क्रिया" होती है (यह "विवेक" नहीं होता), एक ऐसी वस्तु जो बोधमें चुनाव करती है, ऐसी वस्तु जो निर्णय करती है (निर्णय करती है, किन्तु यंत्रवत् नहीं) कि क्या सुना गया है और क्या नहीं सुना गया, क्या देखा गया है और क्या नहीं देखा

गया। देखनेमें तो यह ऐसी होती ही है, पर सुननेमें यह और भी सबल होती है: किन्हीं वस्तुओंके लिये व्यक्ति केवल एक लगातार होती हुई भनभनाहट ही सुनता है, जब कि कुछ वस्तुओंको वह स्फटिकके समान स्पष्ट रूपमें सुनता है; कुछ बड़ी अस्पष्ट-सी होती हैं, केवल आधी ही सुनी जाती हैं। देखनेके साथ भी यही है; मानों सब कुछ एक चमक-दार कुहरेके पीछे स्थित हो (अत्यन्त चमकदार, किन्तु है वह एक कुहरा ही, दूसरे शब्दोंमें, वहां यथार्थताका अभाव है), और फिर अचानक ही एक पूर्णतया यथार्थ एवं स्पष्ट वस्तु सामने आ जाती है, छोटी-छोटी बारीकियोंका भी असाधारण रूपसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सामान्यतया, यह अन्तर्दर्शन वस्तुओंमें स्थित चेतनाकी अभिव्यक्ति होता है, अर्थात्, प्रत्येक वस्तु अधिकाधिक अन्तरीय प्रतीत होने लगती है, और कम-से-कम बाह्य...। और ये वे अन्तर्दर्शन नहीं होते जो दृष्टिपर थोपे जाते हैं, न ही वह शोरगुल होता है जो सुननेकी क्रियापर लादा जाता है, यह चेतनाकी एक प्रकारकी क्रिया होती है जो किन्हीं वस्तुओंको देखने योग्य बना देती है और किन्हीं वस्तुओंसे एक अतीव अयथार्थ पृष्ठभूमिका काम लेती है।

चेतना वही चुनती है जिसे वह देखना चाहती है।

यहां व्यक्तिगत कुछ नहीं है — कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं। स्पष्ट ही, यहां चुनाव एवं निर्णयकी भावना विद्यमान है, किन्तु व्यक्तिगत चुनाव एवं निर्णयका आभास यहां नहीं मिलता — इसके अतिरिक्त, "व्यक्तिगत" वस्तु एक ऐसी आवश्यकताका रूप धारण कर लेती है जो इसे (माताजी अपने हाथोंको छूती हैं) हस्तक्षेप करनेके लिये प्रेरित करती है! अब खानेकी क्रियाको लो, यह एक बड़ी अजीब क्रिया है — बहुत ही अजीब...। यहां ऐसा होता है मानों कोई शरीरकी सहायता कर रहा हो (जो कि एक बड़ी यथार्थ और सुनिश्चित वस्तु भी नहीं है, बल्कि कई वस्तुओंसे बनाया गया एक संघात है जो संघटित हो गया है), और तब जो घटता है...उसकी वह सहायता करता है! न, सचमुच यह एक बड़ी अजीब-सी स्थिति है। आज यह बड़ी शक्तिशाली थी, पूरी चेतनापर इसका आधिपत्य था। साथ ही कुछ ऐसे क्षण होते हैं जब कि व्यक्तिको यह अनुभव होता है कि एक बड़ी तुच्छ-सी बात संपर्कको छिन्न-भिन्न कर देती है (गांठ खोलनेका संकेत, मानों शरीरके साथका बन्धन टूट गया हो), और जब व्यक्ति अत्यधिक अविचल और अत्यधिक उदासीन — हां, उदा-सीन — रहे तभी यह सम्बन्ध बना रह सकता है।

इन अनुभूतियोंके पहले सदा व्यक्तिको भागवत उपस्थितिके साथ एक बड़ी घनिष्ठ और अन्तरीय निकटताका अनुभव होता है, इस सुझावके सहित: "क्या तुम किसी भी बातके लिये तैयार हो?" स्वभावतया मैं कहती हूं: "किसी भी बातके लिये।" और वह 'उपस्थिति' इतनी चमत्कारिक रूपसे तीव्र हो जाती है कि समूची सत्तामें एक प्रकारकी प्यास-सी जाग उठती है कि वह सदा उपस्थित रहे। तब केवल उसीका अस्तित्व रहता है, केवल उसी वस्तुके अस्तित्वका हेतु है। और व्यक्तिके अन्दर एक और सुझाव पैदा होता है: "क्या तुम किसी भी बातके लिये तैयार हो?"

मैं शरीरकी बात कर रही हूं। यहां आन्तरिक सत्ताओंका प्रश्न नहीं है, प्रश्न है शरीरका।

और शरीर सदा 'हां' कहता है, वह ऐसा करता है (आत्मदानका संकेत): न यहां चुनाव होता है, न कोई पसन्द, अभीप्सा भी नहीं, एक पूर्ण, पूर्ण आत्मदान। और तब मुझे इन वस्तुओंकी अनुभूति होती है; कल सारा दिन ऐसा अनुभव हुआ: "एक निष्प्राण व्यक्ति पृथ्वीपर रह रहा है।" इसके साथ एक बोध था (जो बहुत सशक्त तो नहीं, पर पर्याप्त मात्रामें स्पष्ट अवश्य था), यह जीवनके ढंग-सम्बन्धी उस बड़े अन्तरको दर्शाता था जो मेरे और दूसरों, सभी दूसरोंके बीच था। यह अभी बहुत अधिक सुनियत नहीं है, न ही सुनिश्चित एवं यथार्थ है, किन्तु यह बहुत स्पष्ट है — बहुत अधिक स्पष्ट, इसे बड़ी स्पष्टतासे देखा जा सकता है, यह जीवनको जीनेका एक अन्य ढंग है।

> किसीमें यह कहनेकी प्रवृत्ति हो सकती है कि चेतनाके दृष्टिकोणसे यह कोई प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वस्तुएं लुप्त हो जाती हैं। मुझे पता नहीं, क्या यह एक प्राप्ति है?

यह केवल एक संक्रमण-काल ही हो सकता है। यह केवल मार्गकी एक अवस्था है।

चेतनाके दृष्टिकोणसे यह एक बहुत भारी प्राप्ति है! कारण, बाह्य वस्तुओंकी समस्त दासता, उनके साथ समस्त बन्धन समाप्त हो जाते हैं, बिलकुल छूट जाते हैं — हां, बिलकुल छूट जाते हैं और पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दोंमें, केवल वे ही रह जाते हैं, सर्वोच्च स्वामी, जो प्रभु हैं। इस दृष्टिकोणसे यह प्राप्तिके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। यह एक इतनी मौलिक उपलब्धि है...। यह स्वतंत्रताकी

चरम पूर्णता प्रतीत होती है, एक ऐसी वस्तु जिसे चरितार्थ करना व्यक्तिके लिये पृथ्वीपर सामान्य जीवन व्यतीत करते हुए असंभव माना जाता है।

यह पूर्ण स्वतंत्रताकी अनुभूतिके समान है जिसे व्यक्ति तब अपनी सत्ता-के उच्चतर भागोंमें प्राप्त करता है जब वह शरीरपर निर्भर नहीं होता, किन्तु जो बात विशेष महत्त्वपूर्ण है, वह यह है (मैं इसपर अधिक बल देती हूं), यह शरीरकी चेतना है जो इन अनुभवोंको प्राप्त करती है, और यह एक शरीर ही है जो अभीतक दृश्य रूपमें यहां है।

स्पष्ट ही, यहां वैसा और कुछ नहीं है जो मानवी सत्ताओंको "जीवनमें भरोसा" प्रदान करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य जगत्के लिये कोई भी सहारा नहीं रहा है, केवल एक वस्तु है... सर्वोच्च संकल्प। यदि इसे सामान्य शब्दोंमें अनूदित किया जाय तो, हां, तो शरीरमें जीवित होनेकी भावना सिर्फ इसलिये होती है क्योंकि सर्वोच्च प्रभु चाहते हैं कि वह जीवित रहे, अन्यथा वह जीवित नहीं रह सकता।

> हां, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णताकी अवस्थाके अन्तर्गत सब कुछ आ जाना चाहिये, अर्थात्, व्यक्ति सर्वोच्च अवस्थामें निवास कर सकता है और यह सत्ता भौतिक अवस्था-को समाप्त नहीं कर देती।

किन्तु वह उसे समाप्त नहीं करती।

> किन्तु आप फिर भी कहती हैं कि यह "दूर" है, यह "पर्दे-के पीछे" है, कि इसमें इस दूसरी अवस्थाकी यथार्थता और स्पष्टताका अभाव है।

यह, यह विशुद्ध रूपसे एक मानवी और ऊपरी बोध है। मुझमें यह भावना जरा भी नहीं है कि मैंने कुछ खो दिया है, इसके विपरीत, मैं यह समझती हूं कि यह अवस्था उस अवस्थासे अधिक ऊंची है जिसमें मैं पहले थी।

> भौतिक दृष्टिकोणसे भी?

जो कुछ प्रभु चाहते हैं वही होता है — बस, इतना ही; बात यहीं आरंभ होती है और यहीं समाप्त हो जाती है।

यदि वे मुझसे कहते...। जो कुछ वे चाहते हैं वही शरीरको करना

होगा, और वह कर सकता है, वह इसके लिये भौतिक नियमोंपर निर्भर नहीं होता।

> जो कुछ वे देखना चाहते हैं वही देखते हैं, जो कुछ वे सुनना चाहते हैं वही सुनते हैं।

निःसन्देह।

> और जब वे भौतिक रूपमें देखना या सुनना चाहते हैं, तो यह पूर्ण रूपसे देखता और सुनता है।

हां, पूर्णरूपसे। ऐसे क्षण भी होते हैं जब अन्तर्दर्शन इतना यथार्थ होता है जितना कि वह पहले कभी नहीं था। किन्तु यह क्षणिक होता है; आता है, चला जाता है। कारण, यह शायद केवल उस बातके आश्वासन के समान होती है जो आगे होगी। किन्तु उदाहरणार्थ, लोगोंके आन्तरिक सत्यका बोध (वह नहीं जिसके अस्तित्वपर वे विश्वास करते हैं, न ही वह जो वह होनेका दावा करते हैं या जो वे प्रतीत होते हैं — यह सब समाप्त हो जाता है), किन्तु उनके आन्तरिक सत्यका बोध असीम रूपसे पहलेसे अधिक यथार्थ होता है। उदाहरणार्थ, मैं एक छायाचित्र देखती हूं। यहां किसी वस्तुके "माध्यम"से देखनेका प्रश्न नहीं होता; मैं प्रायः एकमात्र वही देखती हूं जो कि यह व्यक्ति है। "माध्यम" इस हदतक क्षीण हो जाता है कि कभी-कभी उसका अस्तित्व ही नहीं रहता।

स्वभावतया, यदि मानव संकल्प इस शरीरपर अपना प्रभाव जताना चाहे, यदि मानव संकल्प यह कहे: "माताजी को यह करना चाहिये, या माताजीको वह करना चाहिये या उन्हें यह कर सकना चाहिये, उन्हें वह कर सकना चाहिये ..." तो वह पूरी तरह छला जायगा। वह कहेगा: "वे किसी कामकी नहीं।" क्योंकि वे उसकी आज्ञा नहीं मानेंगी ...। और मनुष्य लगातार अपनी इच्छाएं एक-दूसरेके ऊपर लादते रहते हैं, या मनुष्य स्वयं ऐसे सुझाव ग्रहण करता है और उन्हें अपनी इच्छाओंके रूपमें व्यक्त करता है, बिना यह देखे कि यह सब बाह्य 'मिथ्यात्व' है।

(मौन)

शरीरसे एक प्रकारकी निश्चयता है कि चाहे कुछ सेकिण्डोंके लिये ही यदि मैं सर्वोच्च सत्ताके साथ अपने संपर्कको खो दूं ('मैं' का अर्थ यहां शरीर है) तो वह तत्काल मर जायगा। केवल सर्वोच्च सत्ता ही इसे जीवित रखती है। ऐसा ही है। तब स्वभावतया मनुष्योंकी अज्ञानमय और मूर्खतापूर्ण चेतनाके लिये यह एक बड़ी दयनीय अवस्था है — मेरे लिये यही सच्ची अवस्था है! कारण, उनके लिये सहज और स्वाभाविक रूपमें, बल्कि यूं कहना चाहिये एक पूर्ण रूपमें, पूर्णताका चिह्न जीवनकी शक्ति है, सामान्य जीवनकी, . . . हां, तो वह अपना अस्तित्व ही नहीं रखती — वह पूर्णतया लुप्त हो गयी है।

हां, कई बार, अनेक बार शरीरने यह प्रश्न किया है: "मैं 'तुम्हारी शक्ति' और 'तुम्हारा बल' अपने अन्दर क्यों नहीं अनुभव करता?" और उत्तर, सदा मुस्कराहटसे भरा उत्तर यह होता था (यह शब्दोंकी सहायतासे अनूदित किया जाता है किन्तु वह शब्दोंके रूपमें प्राप्त नहीं होता), उत्तर सदा यह होता है: "धीरज रखो, धीरज, यह होनेके लिये व्यक्तिको "तैयार" होना होगा।"

४ और ९ मार्च, १९६६

११७ — न तो यह ठीक है कि मैं पहले कभी नहीं था या तू नहीं था या ये राजा नहीं थे और न ऐसा ही है कि हम सब इसके बाद नहीं रहेंगे। केवल ब्रह्म ही नहीं, वरन् ब्रह्ममें विद्यमान सभी जीव और वस्तुएं नित्य हैं। उनका सृजन और संहार तो हमारी बाहरी चेतनाके साथ खेला जानेवाला आंखमिचौलीका खेल है।

११८ — एकांतवासका प्रेम इस बातका लक्षण है कि तुममें ज्ञानकी ओर प्रवृत्ति है; परंतु स्वयं ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब हम भीड़-भाड़के अंदर, संग्राम और हाट-बाजारके अंदर एकांतताका स्थायी बोध प्राप्त कर लेते हैं।

११९ — महान् कार्य करते हुए और विराट् परिणामोंको लाते हुए यदि तुम यह अनुभव कर सको कि तुम कुछ नहीं कर रहे हो तो जान लो कि भगवान्‌ने तुम्हारी आंखोंपरसे अपना पर्दा हटा लिया है।

१२० — जब तुम पर्वतकी चोटीपर एकाकी, स्थिर और मौन बैठते हो तब यदि तुम उन क्रांतियोंको देख सको जिन्हें तुम परिचालित कर रहे हो तो यह कहा जा सकता है कि तुम्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त है और तुम नाम-रूपसे मुक्त हो गये हो।

१२१ — अकर्मसे प्रेम करना मूर्खता है और अकर्मसे घृणा करना भी मूर्खता है; अकर्म नामकी कोई चीज ही नहीं है। बालुकापर पड़ा हुआ पत्थर भी जिसे लोग यों ही बेकार ठुकरा दिया करते हैं, विश्व-ब्रह्माण्डपर अपना प्रभाव उत्पन्न करता रहता है।

यह वह अनुभव है जो मुझे इन दिनों हुआ है, यह कल या परसों हुआ था। एक अदम्य शक्तिकी भावना, जो सबपर शासन करती है: जगत्पर, वस्तुओंपर, लोगोंपर, सबपर, सबपर शासन करती है। भौतिक रूपमें हिलने-डुलनेकी जरा भी आवश्यकता नहीं और यह भौतिक स्थूल प्रतिक्रिया केवल उस झागके समान है जो पानीके अत्यन्त वेगपूर्ण प्रवाहमें बन जाती है — ऊपरी तलका झाग — किन्तु 'शक्ति' एक सर्वशक्तिसंपन्न धाराके समान इसके नीचे बहती रहती है।

और कहनेको कुछ नहीं है।

तुम सदा वहीं लौट आते हो: जानना, यह ठीक है; कहना, यह भी अच्छा है; करना, यह बहुत ही अच्छा है; किन्तु **बनना**, यही वह एकमात्र वस्तु है जिसमें शक्ति है।

हां, तो, लोग चंचल हो उठते हैं, क्योंकि वस्तुएं "शीघ्रतासे आगे नहीं बढ़तीं"; तब मैंने अन्तर्दर्शनमें रचनाको, उस दिव्य सृष्टिको देखा जिसका निर्माण हो रहा था, जो नीचे इन सब वस्तुओंके होते हुए, बाहरी हलचलके होते हुए भी सर्वशक्तिसंपन्न और अदम्य रूपमें विद्यमान थी।

किन्तु शक्तिकी इस विराट् धाराको क्या अपनी अभिव्यक्तिके लिये साधनोंकी आवश्यकता है?

एक मस्तिष्ककी।

किन्तु वास्तवमें केवल मस्तिष्ककी ही नहीं। यह शक्ति अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकती है, जैसा कि पहले यह

> मानसिक या अधिमानसिक ढंगसे किया करती थी। यह बलके द्वारा प्राणिक रूपमें अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकती है। यह मांसपेशियोंके द्वारा भी अपनी अभिव्यक्ति कर सकती है, किन्तु यह भौतिक, विशुद्ध और प्रत्यक्ष रूपमें अपने-आपको कैसे अभिव्यक्त कर सकती है (क्योंकि आप "भौतिक शक्ति"-के विषयमें प्रायः ही चर्चा करती हैं)? ऊपरके 'कर्म' और यहांके सच्चे 'कर्म'में क्या अन्तर है?

प्रत्येक बार जब मैं इस 'शक्ति'के प्रति सचेतन हुई, मुझे वही अनुभूति हुई। ऊपरका 'संकल्प' एक स्पंदनद्वारा अपने-आपको अनूदित करता है जो निश्चित ही प्राणिक शक्तिसे आच्छादित होता है, किंतु सूक्ष्म-भौतिक में कार्य करता है। तुम एक विशेष प्रकारके स्पंदनको देखते हो जिसका वर्णन करना कठिन होता है पर जो किसी घनीभूत वस्तुके समान प्रतीत होता है (टुकड़ोंमें नहीं), कोई ऐसी वस्तु जो हवासे अधिक घनी प्रतीत होती है, किंतु अत्यधिक एकसार है, उसमें एक स्वर्णिम प्रकाश है, अत्यधिक प्रेरक शक्ति है, जो एक संकल्पको व्यक्त करती है (वह मानव संकल्प जैसी प्रकृतिका नहीं होता, वह विचारकी अपेक्षा अंतर्दर्शनकी प्रकृतिका होता है, यह एक अंतर्दर्शनके समान होता है, जो चरितार्थ होनेपर आग्रह करता है), एक ऐसे क्षेत्रमें, जो स्थूल पदार्थके बड़ा निकट होता है, किंतु यह अंतर्दर्शनके बिना दिखायी नहीं देता। और वह, वह 'स्पंदन' लोगोंपर, वस्तुओं और परिस्थितियोंपर एक दबाव डालता है, क्योंकि वह उन्हें अपने अंतर्दर्शनके अनुसार ढालना चाहता है। वह अदम्य होता है। वे लोग भी जो इससे उल्टा सोचते हैं, इससे उल्टा चाहते हैं, न चाहते हुए भी करते वही हैं जो वह चाहता है, वे वस्तुएं भी जिनका स्वभाव ही विरोध करना है — इन सबको भी लौटना पड़ता है।

राष्ट्रोंकी घटनाओंके लिये, राष्ट्रोंके बीचके संबंधोंके लिये, पार्थिव परिस्थितियोंके लिये भी यह इसी प्रकार कार्य करता है, एक प्रबल 'शक्ति'के समान निरंतर, निरंतर कार्य करता है। और तब यदि स्वयं व्यक्ति भागवत संकल्पके साथ तादात्म्यकी अवस्थामें हो तो वह विचारके, किसी भी धारणा या भावके हस्तक्षेपके बिना इस बातको समझ लेता है, करता, देखता और जानता है।[1]

---

[1]यहां यह जानना मनोरंजक होगा कि इस वार्तासे जरा पहले माताजीसे यह प्रश्न पूछा गया था: "क्या वियतनाममें अमरीकियोंकी उप-

पार्थिव चेतनामें और जड़-पदार्थमें, तमस्‌का प्रतिरोध यह परिणाम उत्पन्न करता है कि यह कार्य सीधा और पूर्णतया सामंजस्यपूर्ण होनेके स्थानपर अस्त-व्यस्त हो जाता है। उसमें विरोध, अव्यवस्था और संघर्ष पैदा हो जाते हैं। बल्कि सब कुछको "सामान्य रूपमें", बिना संघर्षके (जैसा कि होना चाहिये), व्यवस्थित होनेके स्थानपर, यह समस्त तमस्, जो विरोध एवं प्रतिरोध करता है, सब कुछको एक ऐसी अस्त-व्यस्त क्रिया बना देता है जिसमें सब धक्का-मुक्की करते हैं और तब वहां अव्यवस्था और विनाशका साम्राज्य स्थापित हो जाता है, और यह सब आवश्यक होता है केवल प्रतिरोधके कारण, किंतु यह **अनिवार्य** नहीं होता, अनिवार्य नहीं भी हो सकता, वस्तुतः इसे अनिवार्य होना चाहिये भी नहीं था। कारण, यह 'संकल्प', यह 'शक्ति' पूर्ण सामंजस्यकी 'शक्ति' है जिससे प्रत्येक वस्तु अपने स्थानपर है और जो अद्भुत ढंगसे व्यवस्था लाती है, यह एक अतीव प्रकाशमयी एवं पूर्ण व्यवस्थाके रूपमें आती है जिसे व्यक्ति अंतर्दर्शनमें देख सकता है, किंतु जब वह नीचे आकर जड़-पदार्थपर दबाव डालती है तो सब कुछ सिर उठाता है और प्रतिरोध करना आरंभ कर देता है। अतएव, इस अवस्था और अस्त-व्यस्तता और विनाशके लिये भागवत कार्य और भागवत शक्तिको दोषी ठहराना भी एक और मानव मूर्खता है। बल्कि तमस् (बुरी भावनाकी बात तो छोड़ो, हां, तमस् ही विपत्तिको **उत्पन्न** करता है। यह नहीं कि विपत्तिको बुलानेकी इच्छा की गयी थी, यह भी नहीं कि इसे पहलेसे देख लिया गया था, बल्कि यह प्रतिरोधसे **उत्पन्न** हुई।

और तब इसके साथ भागवत कृपाके कार्यको जोड़ दिया जाता है जो आकर, जहां कहीं संभव हो, वहां, दूसरे शब्दोंमें, जहां कहीं वह स्वीकार कर लिया जाता है, परिणामको कम कर देता है। यही इस बात-

---

स्थिति या उनका हस्तक्षेप उचित है?" इसका माताजीने यह उत्तर दिया: "तुम किस दृष्टिकोणसे यह प्रश्न पूछ रहे हो?

"यदि तुम्हारा दृष्टिकोण राजनीतिक है — राजनीति झूठसे ओतप्रोत है और मेरा इससे कोई संबंध नहीं।

"यदि दृष्टिकोण नैतिक है — नैतिकता वह ढाल है जिसका सामान्य जन सत्यसे अपनी रक्षा करनेके लिये प्रयोग करते हैं।

"यदि तुम इसे आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे पूछ रहे हो — केवल भगवद् इच्छा ही असंदिग्ध है और इसे मनुष्य अपने कार्योंमें विकृत एवं मिथ्या रूप दे देता है।"

की व्याख्या करता है कि पार्थिव एवं मानव तत्त्वकी अभीप्सा, श्रद्धा और पूर्ण विश्वासमें व्यवस्थाकी शक्ति होती है, क्योंकि ये भागवत कृपाको आने एवं प्रतिरोधके परिणामोंको सुधारनेकी अनुमति देते हैं।

यह एक स्पष्ट, हां, बहुत स्पष्ट, बल्कि ब्योरेमें भी स्पष्ट अंतर्दर्शन है।

यदि व्यक्ति चाहे तो वह भविष्यवाणी भी कर सकता है और जो उसने देखा है कह सकता है। किंतु एक प्रकारकी अति करुणा होती है जो इस भविष्यवाणीको करनेसे रोकती है, क्योंकि सत्यकी वाणीमें अभिव्यक्तिकी एक शक्ति होती है और प्रतिरोधके परिणामोंको बता देना अवस्थाको ठोस रूप देता है और भागवत कृपाकी क्रियाको घटा देता है। इसीलिये देखकर भी व्यक्ति उसे कह नहीं सकता, **कहना चाहिये भी नहीं।**

किंतु, निश्चित रूपसे, श्रीअरविंद यह कहना चाहते थे कि यही सामर्थ्य, यही शक्ति सब कुछ करती है—सब कुछ कर सकती है। जब व्यक्ति उसे देख लेता है या उसके साथ एक हो जाता है उसी समय वह उसे जान लेता है, और वह यह जानता है कि सचमुच यही वह एकमात्र वस्तु है जो कार्य करती है और सृष्ट करती है; शेष सब उस क्षेत्रका, या उस जगत्का या जड़-पदार्थका या मूल-तत्त्वका परिणाम है जिसमें वह कार्य करती है—यह उस प्रतिरोधका परिणाम है, किंतु यह वह **क्रिया** नहीं है। और उसके साथ एकत्व स्थापित करनेका अर्थ है उस 'क्रिया'के साथ एकत्व स्थापित करना। और नीचेकी वस्तुके साथ एकत्व स्थापित करनेका अर्थ है प्रतिरोधके साथ एकत्व स्थापित करना।

तब क्योंकि यह बेचैन हो उठती है, इधर-उधर घूमती है, चंचल हो उठती है, यह चाहती है, सोचती है, योजनाएं बनाती है... यह कल्पना करती है कि यह कुछ कर रही है—यह प्रतिरोध करती है।

कुछ समयके बाद (थोड़े-से समयके बाद) मैं छोटी-छोटी वस्तुओंके उदाहरण दे सकूंगी, तुम्हें यह दिखलानेके लिये कि 'शक्ति' कैसे कार्य करती है, और उसमें कौन-सी वस्तु हस्तक्षेप करती है, और कौन-सी घुल-मिल जाती है, अथवा कौन-सी वस्तु इस 'शक्ति'द्वारा चालित होती है और कौन-सी इसकी गतिको विकृत करती है और इसका परिणाम भी, अर्थात्, भौतिक बाह्य रूप जैसा कि हम उसे देखते हैं। एक बहुत छोटी-सी वस्तुका, जिसका संसारमें कुछ भी महत्त्व नहीं है, उदाहरणार्थ इस ढंगकी स्पष्ट व्याख्याको हमारे सामने रखता है जिसमें प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है और फिर यहां विकृत हो जाती है।

और ऐसा सब वस्तुओंके साथ, सबके साथ, सदा-सर्वदा, सदा-सर्वदा होता है। और जब व्यक्ति कोषाणुओंका योग करता है, तब भी वही बात देखता है: वहां 'शक्ति' कार्य करती है और तब (माताजी हंसती हैं) शरीर इस 'क्रिया'का क्या उपयोग करता है! ...

(मौन)

तत्काल ही तब 'क्यों और कैसे'का प्रश्न सामने आ जाता है। किंतु यह क्षेत्र मानसिक जिज्ञासाका है। क्योंकि महत्त्वपूर्ण बात है प्रतिरोधको समाप्त करना। यही महत्त्वपूर्ण चीज है, प्रतिरोधको समाप्त करना, ताकि विश्व वही बन जाय जो कि उसे बनना चाहिये, अर्थात्, एक सामंजस्य और प्रकाशपूर्ण एवं अद्भुत शक्तिकी और एक अद्वितीय सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति। बादमें जब प्रतिरोध समाप्त हो जायगा, यदि व्यक्ति जिज्ञासावश यह जानना चाहेगा कि ऐसे क्यों हुआ है... इसका कुछ महत्त्व नहीं रहेगा। किंतु अब, 'क्यों'को खोजनेसे नहीं वरन् सच्ची वृत्ति बनानेसे उपायकी प्राप्ति होगी। बस, यही वस्तु महत्त्वपूर्ण है।

सभी कोषाणुओंमें पूर्ण समर्पण, पूर्ण आत्म-निवेदनद्वारा प्रतिरोधको समाप्त करना, यदि व्यक्ति ऐसा कर सकता हो तो।

वे इस तीव्र आनंदका अनुभव पाना आरंभ करते हैं जिसमें व्यक्ति केवल भगवान्के द्वारा, भगवान्के लिये, भगवान्में अपना अस्तित्व रखता है।

जब यह स्थिति सर्वत्र स्थापित हो जायगी, तब सब कुछ ठीक हो जायगा।

६-७-६६

१२२ — यदि तू अपने ही मतद्वारा मूर्ख न बनना चाहे तो सबसे पहले यह देख कि किस दृष्टिसे तेरा विचार सत्य है, फिर इस बातपर विचार कर कि किस दृष्टिसे उससे उलटा तथा उसका विरोधी विचार भी सत्य है; अंतमें, इन विभेदोंका कारण तथा भगवान्के सामंजस्यकी कुंजी ढूंढ निकाल।

१२३ — कोई मत न तो सत्य होता है न मिथ्या, केवल जीवनके लिये उपयोगी या अनुपयोगी होता है; क्योंकि वह

कालकी सृष्टि होता है और कालके साथ ही वह अपना प्रभाव और मूल्य खो देता है। तू मत-मतांतरसे ऊपर उठ और चिरस्थायी प्रज्ञाकी खोज कर।

१२४ — जीवनके लिये अपने मतका व्यवहार कर; परंतु उसे अपनी आत्माको जंजीरोंसे बांधने मत दे।

(थोड़ी देरके मौनके बाद)

मैं यह जाननेका प्रयत्न कर रही थी कि मत किस प्रकार उपयोगी हो सकते हैं...। श्रीअरविंद कहते हैं कि ये "उपयोगी या अनुपयोगी" होते हैं — मत किस बातमें उपयोगी हो सकता है ?

ये कुछ समयतक काम करनेके लिये सहायक होते हैं।

न, ठीक इसी बातका मुझे खेद है। लोग अपने मतके अनुसार कार्य करते हैं और उसका कुछ मूल्य नहीं होता। मुझे सदा ऐसे लोगोंके पत्र मिलते हैं जो किसी कार्यको करना चाहते हैं या नहीं करना चाहते; वे मुझसे कहते हैं: "यह मेरा मत है, यह बात सच्ची है, यह सच्ची नहीं है," और सदा ९९ प्रतिशतसे अधिक उनका कहना गलत होता है, यह एक मूर्खता है।

तुम बड़े स्पष्ट रूपमें देखते हो — हां, यह देखा जा सकता है — कि उससे उलटे मतका भी उतना ही मूल्य है; यहां प्रश्न केवल वृत्तिका है, बस इतना ही। और स्वभावतया, अहंभावकी अभिरुचियां उसके साथ मिली रहती हैं: व्यक्ति इसे अधिक पसंद करता है कि यह ऐसा हो, इसलिये उसका मत भी वही होता है कि यह ऐसा है।

किंतु जबतक मनुष्यके पास कार्य करनेके लिये उच्चतर प्रकाश नहीं होता तबतक उसे अपने मतका ही प्रयोग करना पड़ता है।

मतसे बुद्धिमत्ताका होना अधिक अच्छा है, दूसरे शब्दोंमें, समस्त संभावनाओंपर, प्रश्नके सभी पक्षोंके बारेमें सोच लो और तब यथासंभव कम-से-कम स्वार्थी होनेका यत्न करते हुए कार्यके विषयमें यह देखो, उदा-

हरणार्थ, कि कौन-सा कार्य अधिक-से-अधिक लोगोंके लिये उपयोगी हो सकता है या कौन-सा कम-से-कम वस्तुओंको नष्ट करता है, अर्थात्, कौन-सा कार्य अधिक-से-अधिक रचनात्मक है। अंतमें ऐसा दृष्टिकोण रखते हुए, जो आध्यात्मिक नहीं केवल उपयोगी और निःस्वार्थ है, अपने मतकी अपेक्षा बुद्धिमत्ताके अनुसार कार्य करना अधिक अच्छा है।

हां, किंतु जब व्यक्तिके पास प्रकाश न हो, तो अपने मत या अहंभावको बीचमें मिलाये बिना कार्य करनेका ठीक ढंग क्या होगा?

मेरी समझमें समस्याके सभी पक्षोंपर विचार किया जाय और उन्हें जहां-तक संभव हो निःस्वार्थ भावसे अपनी चेतनाके समक्ष रखा जाय और फिर देखा जाय कि क्या सर्वश्रेष्ठ है (यदि यह संभव हो तो), अथवा यदि बुरे परिणाम पैदा करता है तो उसे, जो कम-से-कम बुरा हो।

मैं यह पूछना चाहता था कि सबसे अच्छी वृत्ति कौन-सी है? हस्तक्षेपकी वृत्ति या उदासीनताकी? इनमेंसे कौन-सी अच्छी है?

हां, ठीक यही बात है; हस्तक्षेप करनेके लिये व्यक्तिको इस बातका निश्चय होना चाहिये कि वह स्वयं ठीक है। तुम्हें इस बातका निश्चय होना चाहिये कि वस्तु-संबंधी तुम्हारा दृष्टिकोण दूसरे या दूसरोंके दृष्टि-कोणों या अनुभवोंसे अधिक उच्च, श्रेष्ठ और सच्चा है। हां, तो हस्त-क्षेप न करना सदा ही अधिक बुद्धिमानीकी बात है — लोग बिना किसी तुक या कारणके हस्तक्षेप करते हैं, केवल इसलिये क्योंकि दूसरोंको सलाह देनेकी उनकी आदत है।

तुम्हें चाहे सच्ची वस्तुकी अंतरानुभूति हो, तो भी हस्तक्षेप करना **बिरले** बुद्धिमत्तापूर्ण कहा जायगा। ऐसा करना अनिवार्य केवल तब होता है जब कोई किसी ऐसे कामको करना चाहे जिसका अंत आवश्यक रूपमें किसी विपत्तिमें हो। तब भी हस्तक्षेप (माताजी मुस्कराती हैं) सदा फलप्रद नहीं होता।

सत्य ही, हस्तक्षेप करना केवल तभी ठीक होता है जब कि व्यक्तिको यह पूर्ण निश्चय हो जाय कि उसने सत्यको देख लिया है। केवल इतना ही नहीं, उसे परिणामोंका स्पष्ट दर्शन भी हो जाय। दूसरोंके कार्योंमें

हस्तक्षेप करनेके लिये व्यक्तिको देवदूत होना होगा — हां, देवदूत, एक ऐसा देवदूत जिसमें समस्त हित-भावना और पूर्ण करुणा हो। तुम्हें उन परिणामोंकी अंतरानुभूति भी होनी चाहिये जिनका प्रभाव तुम्हारे हस्तक्षेपके द्वारा दूसरेके भाग्यपर होगा। लोग सदा सलाह देनेको उत्सुक रहते हैं: "यह करो, वह मत करो", मैं यह देख रही हूं; उन्हें इस बातकी कल्पना भी नहीं है कि किस हदतक वे गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं। वे गड़बड़ीको, अव्यवस्थाको बढ़ा रहे हैं। और कभी-कभी वे व्यक्तिके सामान्य विकासको भी हानि पहुंचाते हैं।

मैं सलाहोंको सदा ही खतरनाक समझती हूं और प्रायः ही बिलकुल निरर्थक।

तुम्हें दूसरोंकी बातोंमें टांगे नहीं अड़ानी चाहिये, जबतक कि, सबसे पहले तुम दूसरेसे असीम रूपमें अधिक बुद्धिमान् न होओ (स्वभावतया, व्यक्ति हमेशा अपने-आपको अधिक बुद्धिमान् मानता है!), किंतु मेरा मतलब यहां निष्पक्ष रूपसे है, अपने मतसे नहीं, जबतक कि तुम उससे अधिक अच्छी तरह वस्तुओंको देख नहीं सकते, जबतक तुम स्वयं आवेगों, इच्छाओं, अंध प्रतिक्रियाओंसे ऊपर नहीं होते। तुम्हें स्वयं इन सभी वस्तुओंसे ऊपर उठना होगा, केवल तभी तुम्हें दूसरेके जीवनमें हस्तक्षेप करनेका अधिकार हो सकता है — भले ही वह तुमसे इसकी मांग करे। और जब वह तुमसे इसकी मांग ही नहीं करता तो यह केवल एक ऐसी वस्तुमें टांग अड़ानेके समान हुआ जिससे तुम्हारा कोई संबंध नहीं है।

(माताजी एक लंबे चिंतनमें निमग्न हो जाती हैं और फिर आगे कहती हैं):

मैंने अभी एक बड़ा विचित्र-सा चित्र देखा! यह कुछ-कुछ पर्वतकी ढलानके समान था जो एकदम खड़ी ढलान थी और कोई व्यक्ति (मनुष्यके प्रतीकके रूपमें) उसके ऊपर चढ़ रहा था। एक सत्ताको...। यह बड़ी अजीब-सी बात है, मैंने इसको कई बार देखा, ऐसी सत्ताओंको जो बिना वस्त्रोंके थीं, पर फिर भी नंगी नहीं थीं। दूसरे शब्दोंमें, उन्होंने एक प्रकारके प्रकाशके वस्त्र पहन रखे थे। किंतु यह एक ऐसे प्रकाशका आभास नहीं देता जो विकीर्ण होता है, ऐसा कुछ भी नहीं। वह एक वायुमंडलकी भांति है, बलिक एक प्रभामंडल, ऐसा प्रभामंडल जो दिखायी देता है। अतएव, यह पारदर्शिता आकृतिको ढकती नहीं और साथ ही आकृति

नंगी भी नहीं रहती . . . । और तब आकाशसे — वहां एक विस्तृत आकाश था जो नीचेसे लेकर ऊपरतक व्याप्त था (यह एक चित्रके समान था), — अत्यंत स्वच्छ, अत्यन्त प्रकाशमय विशुद्ध आकाश — वहां अनगिनत . . . सैंकड़ों वस्तुएं थीं जो पक्षियोंके समान उस सत्ताकी ओर उड़ रही थीं और वह एक संकेतसे उन्हें अपनी ओर बुला रही थी। वह सब सामान्यतया हल्का नीला, श्वेत था; बीच-बीचमें एक पंखका ऊपरका सिरा या कलगी-का ऊपरी भाग जो कि कुछ गहरे रंगका था, प्रतीत होता था, किन्तु यह एक आकस्मिक घटना थी। वे पक्षी आये, वे सैंकड़ोंकी संख्यामें आये और उसने उन्हें एक संकेतके द्वारा इकट्ठा कर लिया। तब उसने उन्हें पृथ्वीपर भेज दिया (वह सत्ता एक सीधी ढलानपर खड़ी थी), उसने उन्हें नीचे घाटीमें भेज दिया। और तब वे वहां . . . (माताजी हंसी) मत या राय बन गये! वे मत या राय बन गये! उनमेंसे कुछ गहरे रंगके थे, कुछ हल्के रंगके, कुछ भूरे, कुछ नीले . . .

वे पक्षियोंकी कुछ जातियोंके समान थे जो इस ढंगसे पृथ्वीकी ओर आ रहे थे। किन्तु यह एक चित्र था, चित्र भी नहीं, क्योंकि वह हिल-डुल रहा था। बड़ा मनोरंजक था वह!

और उसने कहा: "देखो, इस ढंगसे मत बनाये जाते हैं।" . . . वे आकाशसे आये थे, विस्तृत आकाशसे, विस्तृत और प्रकाशपूर्ण स्वच्छ आकाशसे; जो न नीला था न श्वेत, न गुलाबी न . . . वह चमकीला था, केवल चमकीला, और उस आकाशमेंसे . . . जैसा कि मैंने कहा था, सैकड़ों, हजारोंकी संख्यामें आये और वह सत्ता भी वहां थी, उसने उन्हें अपने पास बुलाया, और तब अपने हाथोंसे संकेत किया और उन्हें पृथ्वीपर भेज दिया, और . . . वे मत या राय बन गये! मेरा ख्याल है, मैं तब हंसने लगी, मेरा इससे बड़ा मनोरंजन हुआ।

बड़ी विचित्र बात है यह।

और वे सब नीचे चले आये, हां, नीचे चले आये — नीचे, तुम देख नहीं सकते —, वे नीचे आते रहे।

हां, तो, मत भी प्रकाशके आकाशसे आ सकते हैं! (माताजी हंसती हैं)।

वस्तुतः, चित्र शब्दोंसे अधिक अभिव्यंजक होते हैं।

१४-९-६६

१२५ — प्रत्येक विधान चाहे जितना सर्वग्राही या स्वैराचारी क्यों न हो, कहीं-न-कहीं किसी ऐसे विरोधी विधानके सामने आ जाता है जिससे उसका कार्य रोका जा सकता है, बदला जा सकता है, नष्ट किया जा सकता है या टाला जा सकता है।

१२६ — प्रकृतिका सबसे अधिक बाध्यकारी विधान केवल एक सुनिश्चित पद्धति है जिसे प्रकृतिके अधीश्वरने रचा है और जिसका वह निरंतर उपयोग करते हैं; परमात्माने उसे बनाया था और परमात्मा उसको अतिक्रम भी कर सकते हैं, पर सर्वप्रथम हमें अपने कारागृहके द्वारोंको खोलना होगा तथा परमात्माकी अपेक्षा प्रकृतिमें कम जीवन यापन करना सीखना होगा।

प्रकृतिका ऐसा कोई विधान नहीं है जिसका अतिक्रम न किया जा सके या जिसे बदला न जा सके, केवल हममें यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् ही सबपर शासन करते हैं और यदि, हम अपने सहस्रों वर्षोंके पुराने अभ्यासोंके बन्दीगृहसे निकलना और अपने-आपको उनकी इच्छापर पूर्ण रूपसे छोड़ना सीख सकें तो हमारा उनके साथ सीधा संपर्क स्थापित हो सकता है।

सच पूछो तो कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है, सब कुछ सदा बदलता रहता है; और यह आरोहणकारी रूपांतर ही एक-एक पग करके इस निश्चेतन और मर्त्य सृष्टिको प्रभुकी शाश्वत और सर्वशक्तिमान् चेतनाकी ओर ले जायगा।

३-८-६९

१२७ — विधान एक प्रक्रिया अथवा एक सूत्र है; परंतु आत्मा प्रक्रियाओंका प्रयोग करती और सूत्रोंके परे चली जाती है।

प्रकृतिके नियम भौतिक प्रकृतिके लिये तब आवश्यक होते हैं जब यह आंतरात्मिक सत्ता (आत्मा) के प्रभावके तले नहीं होती, क्योंकि आंतरात्मिक सत्ताके पास ही दिव्य शक्ति होती है जो अपने उद्देश्योंकी पूर्तिके

लिये सभी प्रक्रियाओं और सूत्रोंका प्रयोग कर सकती है तथा उसे अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर सकती है।

५-८-६९

१२८ — प्रकृतिके अनुरूप जीवन यापन करो — यही है पश्चिमका सिद्धांत; पर किस प्रकृतिके अनुरूप, शरीरकी प्रकृतिके अनुरूप या उस प्रकृतिके अनुरूप जो शरीरको अतिक्रम करती है? सबसे पहले इसीका निर्णय करना होगा।

१२९ — हे अमृत पुत्र! तू प्रकृतिके अनुरूप नहीं, भगवान्के अनुरूप जी; और प्रकृतिको भी अपने अंतःस्थित देवताके अनुरूप जीवन यापन करनेके लिये विवश कर।

मां, यहां "शरीरका अतिक्रम करनेवाली प्रकृति" से श्रीअरविंदका क्या मतलब है?

जो प्रकृति शरीरका अतिक्रम करती है वह वह प्रकृति है जो शरीरके नष्ट होनेपर भी बनी रहती है, यह आंतरात्मिक प्रकृति है जो अमर है और दिव्य सारतत्त्वसे बनी है। अंतरात्मा भगवान्के प्रति सचेतन हो सकती है और उसे ऐसा होना चाहिये, क्योंकि वे उसके केंद्रमें हैं और उसे चेतन रूपमें उनके साथ संयुक्त होना चाहिये।

७-८-६९

१३० — भाग्य उन सब चीजोंका देश और कालके बाहर भगवान्का पूर्वज्ञान है जो देश और कालमें घटित होंगी; जो कुछ उन्होंने पहलेसे देखा है उसे ही शक्तियोंके संघर्षके द्वारा 'शक्ति' और 'प्रयोजन' कार्यान्वित करते हैं।

मां, यदि सब कुछ पूर्वदृष्ट है तो फिर अभीप्सा और मानव प्रयत्नका स्थान क्या हुआ?

प्रत्येक क्षेत्रमें (भौतिक, प्राणिक और मानसिक) सब कुछ पूर्वदृष्ट

है, किंतु उच्चतर क्षेत्र (अधिमानस और उससे ऊपर) का हस्तक्षेप घटनाओंमें एक और नियतिवाद ले आता है और वस्तुओंकी दिशाको बदल सकता है। यह कार्य अभीप्सा ही कर सकती है।

जहांतक मानव प्रयत्नका प्रश्न है, यह पूर्वनिश्चित घटनाओंका एक अंग है और इसकी भूमिका शक्तियोंकी क्रीड़ाके कुलयोगमें पहलेसे देखी जाती है।

९-८-६९

१३१ — चूंकि भगवान्ने प्रत्येक वस्तुको पहलेसे जाना और उसके लिये संकल्प किया है, इसलिये तुझे निष्क्रिय बनकर बैठ नहीं जाना चाहिये और उनके विधानकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि तेरा कार्य भी उनकी एक प्रधान कार्य-कारी शक्ति है। अतएव, उठ और कार्यमें लग जा, पर अहं-मन्यताके साथ नहीं, बल्कि उस घटनाके परिस्थित्यनुकूल यंत्र तथा बाह्य कारणके रूपमें जिसे भगवान्ने पहलेसे ही निर्धारित कर रखा है।

१३२ — जब मैं कुछ नहीं जानता था, तब मैं दोषी, पापी और अपवित्र लोगोंसे घृणा करता था, क्योंकि मैं स्वयं दोष, पाप और अशुद्धिसे भरा था; परंतु, जब मैं शुद्ध पवित्र हो गया और मेरी आंखें खुल गयीं तब मैं अपने अंतरमें चोर और हत्यारेके सामने नतमस्तक हो गया तथा बार-वनिताके चरणोंकी पूजा की; क्योंकि मैंने देखा कि इन आत्माओंने पापके प्रचंड बोझको स्वीकार किया है तथा विश्व-सागरसे मथित विषके सर्वाधिक अंशको हम सबके लिये पान कर लिया है।

जिसने यह भली-भांति समझ लिया है कि जगत् केवल अपनी अभि-व्यक्तिमें एक सर्वोच्च सत्ताके सिवाय और कुछ नहीं है, उसके लिये सभी मानवी नैतिक विचार निश्चित रूपसे लुप्त हो जाते हैं और उसके स्थान-पर उनके अंदर समग्रकी एक दिव्य दृष्टि प्रकट हो जाती है जिसमें सब वस्तुओंके मूल्य बदल जाते हैं — कितने अधिक बदल जाते हैं!

१४-८-६९

१३३ — असुर देवताओंसे भी अधिक बलशाली होते हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान्‌के कोप और शत्रु-भावका बोझ वहन करना और उनका सामना करना स्वीकार किया है। देवगण केवल भगवान्‌के प्रेम तथा सुखद आनंदके मधुर भारको ही स्वीकार करनेमें समर्थ हुए।

श्रीअरविंद सचमुच जो कुछ कहना चाहते हैं उसे समझनेके लिये उनके विचारमें जो अद्‌भुत विनोद-वृत्ति थी उसे जानना जरूरी है।

१६-८-६९

तो फिर देवता आलसी हैं? फिर उनकी महानता और उनका वैभव कहां है? हम निम्न सत्ताओंकी पूजा क्यों करते हैं? और तब तो दानव प्रभुके अधिक प्रिय बेटे होने चाहिये?

श्रीअरविंदने यहां जो लिखा है वह, जरा सोयी हुई सत्ताओंको जगानेके लिये एक विरोधोक्ति है। लेकिन उनके वाक्योंमें छिपे सारे व्यंगको समझना चाहिये और सबसे बढ़कर, उस तात्पर्यको समझना चाहिये जो उन्होंने शब्दोंके पीछे रखा था। इसके अलावा चाहे वे आलसी हों या न हों, मैं कोई आवश्यकता नहीं देखती कि हम इन छोटे या बड़े देवताओंकी पूजा करें। हमारी पूजा केवल परम प्रभुकी ओर जानी चाहिये जो सब वस्तुओं और सब सत्ताओंमें हैं।

६-११-६९

१३४ — जब तुम यह देखनेमें समर्थ होते हो कि किस तरह चरम आनंद पानेके लिये दुःख-कष्ट आवश्यक होते हैं, एकांत सफलताके लिये विफलता और चूड़ान्त क्षिप्रताके लिये विलंबका होना आवश्यक होता है, तब तुम भगवान्‌की क्रियाका कुछ अंश, चाहे कितने ही धीमे और अस्पष्ट रूपमें क्यों न हो, समझना आरंभ कर सकते हो।

१३५ — प्रत्येक रोग स्वस्थताके किसी नवीन आनंदकी ओर जानेका एक पथ है, प्रत्येक अमंगल और दुःख-ताप प्रकृतिका किसी अधिक तीव्र आनंद और मंगलके लिये स्वर मिलाना

है, प्रत्येक मृत्यु विशालतम अमरत्वकी ओर उद्घाटन है। यह क्यों और कैसे हो सकता है—यह भगवान्‌का गुप्त रहस्य है जिसकी तहमें केवल अहंकार-विमुक्त आत्मा ही पैठ सकती है।

१३६—तेरा मन या तेरा शरीर क्यों यंत्रणा भोग रहा है? क्योंकि पर्देके पीछे विद्यमान तेरी आत्मा उस यंत्रणाकी इच्छा करती है या उसमें आनंद मानती है; यदि तू चाहे—और अपने संकल्पपर डटा रहे—तो आत्माके शुद्ध आनंदका विधान तू अपने निम्नतर अंगोंपर लाद सकता है।

व्यक्तिको केवल इस अनुभूतिके लिये प्रयत्न करना है और फिर उस प्रयत्नमें लगे रहना है; तभी उसे पता लगेगा कि जो कुछ यहां कहा गया है वह बिलकुल सत्य है।

१९-८-६९

१३७—ऐसा कोई लौह-कठोर या अलंघ्य विधान नहीं है कि कोई विशिष्ट संस्पर्श दुःख या सुख उत्पन्न करेगा; सच पूछा जाय तो तेरे अंगोंके बाहरसे ब्रह्मका जो धक्का या दबाव उनके ऊपर आता है उसका मुकाबला तेरी आत्मा जिस तरीकेसे करती है, वह तरीका ही इन दोनों प्रतिक्रियाओंको उत्पन्न करता है।

स्पष्ट ही एक घटना या एक ही संपर्क एक व्यक्तिमें आनन्दकी भावना और दूसरेमें कष्टकी भावना उत्पन्न करता है और यह प्रत्येककी अपनी आन्तरिक वृत्तिपर निर्भर करता है।

और यह बोध तुम्हें महान् उपलब्धिके मार्गकी ओर ले जाता है, क्योंकि जब तुम यह केवल समझ ही नहीं, अनुभव भी कर लेते हो कि सर्वोच्च प्रभु ही समस्त वस्तुओंके रचयिता हैं और जब तुम उनके सतत संपर्कमें आ जाते हो, तो सब कुछ उनकी कृपाका परिणाम हो जाता है और एक उज्ज्वल और शान्त आनन्दमें परिणत हो जाता है।

२१-८-६९

१३८ – तेरे अन्दरकी आत्म-शक्ति जब बाहरसे आनेवाली वैसी ही शक्तिके संस्पर्शमें आती है तब वह मानसिक अनुभव तथा शारीरिक अनुभवके मूल्योंके अनुरूप उस संस्पर्शकी मात्राओंको सुसमंजस नहीं कर पाती; इसी कारण तुझे दुःख, शोक या अशान्ति होती है। विश्व-शक्तिके प्रश्नोंका जो उत्तर तेरे अन्दरकी शक्ति प्रदान करती है उसे यदि तू उपयुक्त रूपमें व्यवस्थित करना सीख जाय तो तू देखेगा कि दुख सुखदायी बन रहा है अथवा विशुद्ध आनन्दमें परिवर्तित हो रहा है। यथोचित सम्बन्ध ही आनन्दमय होनेकी शर्त्त है, ऋतम् ही आनन्दकी कुंजी है।

मनुष्यकी दूसरोंके साथ अपने सम्बन्धको शारीरिक, प्राणिक या मानसिक संपर्कोंपर आधारित करनेकी आदत है, इसी कारण, वहां प्रायः सदा ही असामंजस्य और कष्ट रहता है। इसके विपरीत, यदि उन्होंने अपने संबन्धोंको आन्तरात्मिक संपर्कों (आत्माका आत्माके साथ) पर आधारित किया होता तो वे देखते कि विक्षुब्ध बाह्य प्रतीतियोंके पीछे, एक गहन समस्वरता विद्यमान है जो जीवनकी सभी गतिविधियोंमें व्यक्त हो सकती है और इस समस्वरताके कारण ही यह अव्यवस्था और कष्ट शान्ति और आनन्दमें परिवर्तित हो जायेंगे।

२८-८-१९६९

१३९ – अतिमानव कौन है? वह जो इस जड़ाभिमुखी भग्न मनोमय मानव सत्तासे ऊपर उठ सके तथा एक दिव्य शक्ति, एक दिव्य प्रेम और आनन्द एवं एक दिव्य ज्ञानके अन्दर पहुंचकर अपने-आपको विश्व-भावापन्न और दिव्य-भावापन्न बना सके।

अतिमानवका अब निर्माण हो रहा है और एक नयी चेतना इस निर्माणको पूर्ण बनानेके लिये अभी हालमें ही पृथ्वीपर अभिव्यक्त हुई है।

किन्तु यह शायद ही संभव है कि एक भी मानव इस अंतिम परिणतिपर पहुंच चुका हो, यह इसलिये और भी कम संभव है कि इसके साथ-साथ शरीरका भी रूपान्तर होना चाहिये जो अभीतक नहीं हुआ है।

३०-८-६९

१४० — यदि तू इस संकीर्ण मानवीय अहंभावको बनाये रखे और अपनेको अतिमानव समझे तो तू अपनी ही अहंताके फेरमें पड़ा हुआ मूढ़ है, अपनी निजी शक्तिके हाथोंका खिलौना और अपनी निजी भूल-भ्रान्तियोंकी कठपुतली है।

स्वभावतया, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे सब महत्त्वाकांक्षी लोग जो इस समय अपने-आपको अतिमानव कहते हैं ढोंगी हैं, या अभिमानी हैं जो अपने-आपको तो धोखा देते ही हैं, दूसरोंको भी धोखा देनेका यत्न करते हैं।

३०-८-६९

१४१ — नीत्शेने अतिमानवको इस रूपमें देखा मानो ऊंटकी स्थितिसे बाहर निकलती हुई कोई सिंह-आत्मा हो, पर अतिमानवका सच्चा आभिजातिक चिह्न और लक्षण तो यह है कि सिंह कामधेनुके ऊपर खड़े हुए ऊंटकी पीठपर अवस्थित हो। यदि तू समस्त मानवजातिका दास न बन सके तो तू उसका स्वामी बननेके योग्य नहीं है, और यदि तू अपने स्वभावको वशिष्ठकी कामधेनु न बना सके जिसके थनसे सारी मनुष्यजाति अपनी अभीप्सित वस्तु ले सके तो भला तेरे सिंह-सरीखे अतिमानवत्वका क्या लाभ ?

समस्त मानवजातिका दास बननेका अर्थ उसकी सेवाके लिये तत्पर रहना है, और कामधेनु बननेका अर्थ है शक्ति, प्रकाश और सामर्थ्यको इतनी प्रचुर मात्रामें दे सकना जितनी से मनुष्यजाति अपने अज्ञान और अपनी अक्षमतासे बाहर निकल सके : यदि ऐसा न हो तो अतिमानव पृथ्वीके लिये एक सहायक नहीं बल्कि बोझ बन जायगा।

३१-८-६९

१४२ — संसारके सम्मुख निर्भयता और प्रभुतामें सिंह बनो; धैर्य और उपयोगितामें ऊंट बनो; अचंचलता, सहनशीलता और मातृसुलभ उपकारितामें गाय बनो। भगवान्‌के दिये सभी सुखोंपर टूट पड़ो जैसे सिंह अपने शिकारपर टूट पड़ता

है, परंतु आनंद-विलासके उस अनंत क्षेत्रमें लोट-पोट करने और चरनेके लिये समस्त मनुष्यजातिको भी ले आओ।

सत्ताके विकासके लिये इन गुणोंकी तबतक आवश्यकता रहती है जबतक वह दिव्य नहीं बन जाती; यह हमें इस बातकी भी याद दिलाती है कि जबतक मानवजाति ऊपर नहीं उठेगी तबतक रूपान्तर पूर्ण नहीं हो सकता।

१-९-६९

१४३ ––यदि कलाका कार्य प्रकृतिका अनुकरण करना ही हो, तो सभी चित्रशालाओंको जला डालो और उनके बदले छाया-चित्र (फोटोग्राफी) बनानेके लिये कार्यालय खोल दो। चूंकि कला उस चीजको प्रकट करती है जिसे प्रकृति छिपाये रखती है, इसी कारण एक छोटे-से चित्रका मूल्य लखपतियोंके समस्त जवाहरात और राजाओंके खजानोंसे भी कहीं अधिक होता है।

१४४ –– यदि तुम केवल दृश्य-प्रकृतिका ही अनुकरण करो तो तुम या तो किसी शवका चित्र या कोई निर्जीव खाका अथवा कोई दानवाकृति ही आंक डालोगे; सत्य तो उस वस्तु-में रहता है जो दृश्य और इंद्रियगोचर वस्तुओंके पीछे और परे रहती है।

यह कहा जाता है कि फोटोग्राफी आधुनिक कलाका माध्यम है। इस विषयमें आपकी क्या राय है?

सब कुछ फोटोग्राफीके प्रयोगपर निर्भर करता है। अपनी स्वाभाविक प्रकृति और प्रचलित उपयोगके अनुसार यह वास्तविक वस्तुका यथार्थ चित्रण होता है, जितनी अधिक यह यथार्थ और वास्तविक होती है, उतनी अधिक यह उपयोगी भी होती है।

किन्तु इस बातका खण्डन नहीं किया जा सकता कि कुछ कलाकार फोटोग्राफीको अपनी अभिव्यक्तिके साधनके रूपमें प्रयोग करते हैं। किन्तु तब जो वह करते हैं वह प्रकृतिकी ठीक नकल नहीं होती, वह केवल आकारों और रंगोंकी एक विशेष व्यवस्था होती है जो किसी अन्य वस्तुको

अभिव्यक्त करनेके लिये की जाती है, उस वस्तुको जो साधारणतया भौतिक रूपोंके द्वारा आवृत्त होती है।

४-९-६९

१४५ — ऐ कवि! ऐ कलाकार! यदि तू केवल प्रकृतिके सामने दर्पण पकड़े रखे तो क्या तू समझता है कि प्रकृति तेरे कार्यमें आनंद लेगी? वह तो अपना मुंह ही फेर लेगी। किस चीजके लिये भला तू उसके सामने दर्पण पकड़े रखता है? स्वयं उसके लिये नहीं, बल्कि एक जीवनहीन रेखाचित्र और प्रतिबिंबके लिये, एक छायामय अनुकरणके लिये। सच पूछो तो तुझे प्रकृतिकी गुप्त अंतरात्माको पकड़ना होगा, तुझे चिर-दिन शाश्वत प्रतीकमें विद्यमान सत्यका पीछा करना होगा, और उसे कोई दर्पण तेरे लिये पकड़ न सकेगा, उस प्रकृति-के लिये भी नहीं जिसे तू खोजता है।

प्रकृतिका वह "शाश्वत प्रतीक" क्या है जिसकी चर्चा श्री-अरविन्द यहां करते हैं?

यह 'प्रकृति'की वह गुप्त आत्मा है जो एक सनातन प्रतीक है और इस आत्माके इस सत्यको ही कवि और कलाकारको खोजना एवं अभिव्यक्त करना चाहिये।

७-९-६९

१४६ — मैं यूनानियोंकी अपेक्षा शेक्सपीयरके अंदर अधिक महान् और अधिक सुसमंजस सार्वभौम कलाकार पाता हूं। लैंसलाट गोब्बो[1] और उसके कुत्तेसे लेकर लियर[1] और हेमलेट[1] तक उसकी सभी सृष्टियां सार्वभौम हैं।

१४७ — यूनानियोंने व्यक्तिके समस्त सूक्ष्मतर मनोभावोंकी उपेक्षा करके सार्वभौमताकी खोज की; शेक्सपीयरने व्यक्तिगत

---

[1]शेक्सपीयरके नाटकोंके पात्र।

स्वभावके अत्यंत विरल व्योरोंको विश्वजनीन बनाकर कहीं अधिक सफलताके साथ सार्वभौमताकी खोज की। जिस चीजका व्यवहार प्रकृति हमसे अनंतको छिपानेके लिये करती है उसीका उपयोग शेक्सपीयरने मानवताकी आंखोंके सम्मुख मनुष्यमें विद्यमान 'अनंतगुण'को प्रकट करनेके लिये किया।

१४८ — शेक्सपीयरने ही प्रकृतिके सामने दर्पण पकड़ रखनेके रूपका आविष्कार किया था, पर वही एकमात्र कवि भी था जो कभी प्रतिलिपि, छायाचित्र या प्रतिकृति उतारनेके लिये राजी नहीं हुआ। जो पाठक फालस्टाफ[1], मैकबेथ,[1] लियर[1] या हेमलेट[1]में प्रकृतिका अनुकरण देखता है उसे या तो अंतरात्माकी आंतरिक आंख प्राप्त नहीं है अथवा वह किसी प्रचलित सूत्रद्वारा विमोहित हो गया है।

१४९ — भला तू भौतिक प्रकृतिके अंदर कहां फालस्टाफ, मैकबेथ या लियरको पायेगा? उसके पास उसकी छायाएं और संकेत तो हैं, पर स्वयं वे तो उस (प्रकृति) से बहुत ऊंचे हैं।

१५० — केवल दोके लिये आशा है, एक तो, उस व्यक्तिके लिये जिसने भगवान्‌का स्पर्श अनुभव किया है और उसकी ओर आकर्षित हुआ है तथा दूसरे, उसके लिये जो संदेहवादी जिज्ञासु तथा अपने मतसे संतुष्ट नास्तिक है; परंतु सभी धर्मोंके कर्मकांडियों तथा स्वतंत्र चिंतनकी रट लगानेवाले शुक पक्षियोंका जहांतक प्रश्न है, वे तो ऐसी मृतात्मा हैं जो मृत्युका अनुसरण करती हैं और उसे जीवंत कहती हैं।

धर्मोंको सूत्रबद्ध करनेवाले लोग भगवान्‌की प्रतिमा बनाकर क्या साधारण जनताकी सहायता नहीं करते? क्या आप इस बातपर विश्वास नहीं करतीं कि धर्म सामान्य लोगोंको सहायता पहुंचाता है?

---

[1]शेक्सपीयरके नाटकोंके पात्र।

जो कुछ होता है वह सब सर्वोच्च प्रभुकी इच्छासे होता है, जिससे कि समूची सृष्टि भगवान्के विषयमें ज्ञान प्राप्त कर सके।

किन्तु कार्यका अधिकांश भाग विपरीत विचार और निषेधके द्वारा संपन्न होता है। इसी ढंगसे धर्म इन तथाकथित धर्मावलंबियोंके एक ऐसे बड़े भागके लिये कार्य करते हैं जो बिना श्रद्धा-विश्वासके, या उससे भी कम अनुभवके साथ धर्मका अनुसरण करते हैं।

१४-९-६९

१५१ —— एक मनुष्य एक वैज्ञानिकके पास आया और उसने उससे शिक्षा लेनी चाही; उस शिक्षकने उसे सूक्ष्म दर्शक तथा दूरदर्शक यंत्रोंमें दिखायी देनेवाली चीजोंको दिखाया, पर उस आदमीने हंसते हुए कहा: "यह तो स्पष्ट ही है कि जिस शीशेका व्यवहार आप माध्यमके रूपमें कर रहे हैं उसी शीशेने आंखोंके सामने यह सब इंद्रजाल फैला दिया है; मैं तबतक विश्वास नहीं कर सकता जबतक आप हमारी खाली दृष्टिके सामने इन सब आश्चर्योंको न दिखा दें।" तब वैज्ञानिकने उसके सामने बहुतेरे आनुषंगिक तथ्यों तथा प्रयोगोंके द्वारा यह सिद्ध किया कि उसका ज्ञान विश्वसनीय है, फिर उस आदमीने मुस्कराते हुए कहा: "जिसे आप प्रमाण कहते हैं उसे मैं संयोग कहता हूं, संयोगोंकी संख्या प्रमाणका निर्माण नहीं करती; और आपके प्रयोगोंका जहांतक प्रश्न है वे तो स्पष्ट ही असामान्य परिस्थितियोंसे प्रभावित हैं और वे प्रकृतिके एक प्रकारके पागलपनके अंग हैं।" जब उसके सामने गणितके परिणामोंको रखा गया तब तो वह क्रोधित होकर चिल्ला उठा: "निस्संदेह यह सब धोखा-धड़ी, प्रलाप और कुसंस्कार हैं; क्या आप मुझे यह विश्वास करा देनेकी कोशिश करेंगे कि ये निरर्थक दुर्बोध संख्याएं सच्ची शक्ति और अर्थ रखती हैं?" तब वैज्ञानिकने उसे एकदम निकम्मा, मूढ़ समझकर बाहर निकाल दिया; क्योंकि उसने स्वयं अपनी अस्वीकृतिकी पद्धति तथा स्वयं अपनी नकारात्मक तर्क-प्रणालीको ही नहीं समझा। अगर हम किसी निष्पक्ष और उदार मनकी खोजको अस्वीकार करना चाहें तो हम अपनी अस्वीकृतिको छिपानेके लिये सदा ही अत्यंत आदरणीय लंबे-लंबे शब्द पा सकते हैं तथा ऐसे परी-

क्षण एवं शर्त्तें लाद सकते हैं जो खोजको असत्य सिद्ध कर दें।

वैज्ञानिक जो अधिकतर जड़वादी होते हैं गुह्य और आध्यात्मिक ज्ञानका निषेध करनेके लिये उसी प्रणालीको अपनाते हैं, जिसका प्रयोग अज्ञानी और मूर्ख विज्ञानका निषेध करनेके लिये करते हैं।

क्योंकि एक सद्‌भावनावाले व्यक्तिको जो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतीत होता है वह कुछ सीखनेके अनिच्छुकको पाखण्ड लगता है।

१७-९-६९

१५२ — जब हमारा मन जड़तत्त्वमें सन्निहित होता है तब हम समझते हैं कि केवल जड़तत्त्व ही सत्य है; जब हम जड़ातीत चेतनामें पीछे हट आते हैं तब हम जड़तत्त्वको एक छद्मवेशके रूपमें देखते तथा यह अनुभव करते हैं कि केवल चेतनाके अंदर ही जीवनको सद्वस्तुका स्पर्श प्राप्त है। तब भला इन दोनोंमेंसे कौन सत्य है? मालूम नहीं, भगवान् जानें। परंतु जिस मनुष्यको दोनों अनुभव हो चुके हों वह आसानीसे कह सकता है कि कौन-सी अवस्था अधिक ज्ञानदायक, अधिक सामर्थ्यपूर्ण तथा अधिक आनंदमय है।

१५३ — मैं विश्वास करता हूं कि अभौतिक चेतना भौतिक चेतनाकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है। क्योंकि मैं पहलीमें यह जानता हूं कि दूसरीमें मुझसे क्या छिपा हुआ है तथा साथ ही जड़तत्त्वमें मन जो कुछ जानता है उसे भी मैं अधिकृत कर सकता हूं।

हम सदा ही अभौतिक चेतनामें कैसे निवास कर सकते हैं?

तुम ऐसा नहीं कर सकते और यह ठीक भी नहीं होगा।

श्रीअरविन्द जिस भौतिक चेतना और अभौतिक चेतनाकी चर्चा कर रहे हैं उससे अधिक उच्च चेतनाके विषयमें यहां उन्होंने कुछ नहीं कहा है; — दूसरे शब्दोंमें, वे उस अतिमानसिक चेतनाके विषयमें कुछ नहीं कह रहे जो अन्य समस्त चेतनाओंको अपने अन्दर धारण करती है तथा इस प्रकार सत्ताके सभी स्तरोंका ज्ञान प्राप्त कर सकती है। इसी चेतनाके

लिये व्यक्तिको अभीप्सा करनी चाहिये, केवल यही हमें समग्र सत्यका ज्ञान प्रदान कर सकती है।

१८-९-६९

१५४ — स्वर्ग और नरक केवल आत्माकी चेतनामें अस्तित्व रखते हैं। ठीक है, पर उसी तरह यह पृथ्वी और उसके भू-खंड समुद्र और खेत, रेगिस्तान, पहाड़ और नदियां भी अस्तित्व रखते हैं। समूचा जगत् ही परमात्माके दर्शनकी अभिव्यक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

१५५ — मात्र एक ही आत्मा और एक ही सत् है; अतएव, हम सब एक ही विषय-वस्तुको देखते हैं; परंतु एक आत्म-सत्ताके अंदर मन और अहंकारकी बहुतेरी गांठें हैं, अतएव, हम एक ही विषय-वस्तुको विभिन्न प्रकारके आलोक और छायामें देखते हैं।

१५६ — आदर्शवादी भूल करता है; सच पूछो तो मनने इन सब जगतोंकी सृष्टि नहीं की थी, बल्कि जिसने मनकी सृष्टि की थी उसीने उनकी भी सृष्टि की। मन केवल गलत रूप-में देखता है, क्योंकि जो कुछ सृष्ट हुआ है उसे वह आंशिक रूपमें तथा एक-एक ब्योरेको देकर देखता है।

यहां, हमारे जीवनमें, आदर्शवाद हमें किस ढंगसे सहायता पहुंचा सकता है?

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीअरविन्द यहां दर्शनकी उस पद्धतिकी चर्चा करते हैं जो यह घोषणा करती है कि 'विचार'ने ही जगतोंका निर्माण किया है। स्वभावतया, यह बात गलत है।

जो आदर्शवादी जड़ पदार्थके दास बननेसे इंकार करते हैं उन्हें इस दर्शनका अनुसरण करनेकी आवश्यकता नहीं है, वे अपने आदर्शवादके द्वारा दूसरोंको भौतिक इच्छाओंके दास न बने रहनेमें सहायता कर सकते हैं।

२२-९-६९

१५७ — रामकृष्णने यह कहा था और विवेकानंदने यह कहा था। हां, परंतु मुझे उन सत्योंको भी जान लेने दो जिन्हें अवतारने वाणीबद्ध नहीं किया और पैगंबरने अपनी शिक्षाओं-में प्रकट नहीं किया। मनुष्यके विचारने हमेशा जो कुछ चिंतन किया है और मनुष्यकी जिह्वाने जो कुछ कभी उच्चारित किया है भगवान्में उससे बहुत अधिक सर्वदा बना रहेगा।

१५८ — रामकृष्ण क्या थे? मानव-शरीरमें अभिव्यक्त भगवान्; परंतु पीछेकी ओर अपनी अनंत नैर्व्यक्तिकता तथा अपने विश्वमय व्यक्तित्वके साथ स्वयं भगवान् विराजमान रहते हैं। और विवेकानंद क्या थे? शिवके नेत्रके एक उज्जवल कटाक्ष; परंतु उनके पीछे विद्यमान है वह भागवत दृष्टि जिससे वह उत्पन्न हुए और स्वयं शंकर उत्पन्न हुए और ब्रह्मा, विष्णु तथा सर्वातीत ॐ प्रकट हुए।

जब एक बार अतिमानसिक चेतना दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायगी तो क्या तब भी अवतारोंको पृथ्वीपर जन्म लेनेकी आवश्यकता पड़ेगी?

इस प्रश्नका उत्तर देना तब अधिक सरल होगा जब अतिमानस सजीव सत्ताओंके द्वारा पृथ्वीपर अभिव्यक्त होगा।

मैंने सदा लोगोंको यह कहते सुना है कि श्रीअरविन्द अंतिम अवतार थे; किन्तु निश्चय ही वे मनुष्य-शरीरमें अंतिम अवतार हैं — बादकी बात किसीको नहीं पता . . .।

२३-९-६९

१५९ — जो कृष्णको, नरमें अवस्थित नारायणको नहीं पहचानता वह भगवान्को संपूर्णतः नहीं जानता; जो केवल कृष्णको जानता है वह कृष्णको भी नहीं जानता; फिर यह विपरीत सत्य भी पूर्णतः सत्य है कि यदि तू एक नन्हे मुर्झाये हुए, कुरूप और सुगंधहीन पुष्पमें संपूर्ण भगवान्को देख सके तो तूने उनके परम सत्यको आयत्त कर लिया है।

एक बार जब किसीने श्रीअरविन्दका योगमार्ग पकड़ लिया है, तो क्या उसे अन्य सब देवी-देवताओंके पंथोंको छोड़ नहीं देना चाहिये ?

जो व्यक्ति सच्चे रूपसे श्रीअरविन्दके मार्गका अनुसरण करता है, जैसे ही उसे इस मार्गका अनुभव प्राप्त होना शुरू होगा, उसके लिये अपनी चेतना-को किसी भी देवी और देवताके या उन सबके सम्मिलित मततक उतारना असंभव हो जायेगा।

२६-९-६९

१६० — निःसार दार्शनिक ज्ञानके व्यर्थ जालों तथा अनुर्वर बौद्धिकताकी सूखी धूलको त्याग दो। केवल वही ज्ञान पाने योग्य है जिसका उपयोग जीवंत आनन्द प्राप्त करनेके लिये किया जा सके और जिसे स्वभाव, कर्म, रचना और सत्तामें व्यक्त किया जा सके।

१६१ — जो ज्ञान तुझे प्राप्त है बस वैसा ही बन और उसीको जीवनमें उतार; तभी तेरा ज्ञान तेरे अंदर विद्यमान जीवंत भगवान् होगा।

किस हदतक "बौद्धिक शिक्षण" हमारे मार्गमें सहायता पहुंचा सकता है ?

यदि बौद्धिक शिक्षण अपनी चरम सीमातक ले जाया जाय तो वह मनको इस असंतोषजनक निष्कर्षतक ले जाता है कि वह 'सत्य'को जाननेमें असमर्थ है और उन लोगोंको जिनकी अभीप्सा सच्ची है यह (बौद्धिक शिक्षण) निश्चल रहनेकी और उस निश्चलतामें उच्चतर स्तरोंकी ओर खुलनेकी आवश्यकताकी ओर ले जाता है जिनसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

२७-९-६९

१६२ — क्रमविकास अभी समाप्त नहीं हुआ ह; बुद्धि ही प्रकृतिका अंतिम तत्त्व नहीं है, न चिंतनशील पशु ही उसकी सर्वोच्च रचना है। जैसे मनुष्य पशुमें से आविर्भूत हुआ, वैसे ही मनुष्यमेंसे अतिमनुष्य प्रकट हो रहा है।

मैं इस सूत्रको अंगरेजीमें देखना चाहूंगी कि श्रीअरविन्दने "आविर्भूत होना" क्रियाको किस कालमें प्रयुक्त किया है, वर्तमान कालमें या भविष्यमें।

यदि यह भविष्यत्कालमें प्रयुक्त हुई है तो यह एक आश्वासन है जिसे हम सब जानते हैं और जिसकी संसिद्धिके लिये हम कार्य कर रहे हैं। और यदि वर्तमान कालमें ... तो मुझे और कुछ नहीं कहना है।

२९-९-६९

१६३ — कठोरतापूर्वक नियम पालन करनेकी शक्ति ही स्वाधीनताकी भित्ति है; इसी कारण अधिकांश साधनाओंमें जीवको अपने दिव्य स्वरूपकी पूर्ण स्वाधीनतामें ऊपर उठ जानेसे पहले अपने निम्नतर अंगोंमें विधि-विधानके अधीन रहना पड़ता तथा उसे जीवनमें संसिद्ध करना पड़ता है। जो साधनाएं स्वाधीनतासे आरंभ होती हैं वे केवल उन शक्तिधर मनुष्योंके लिये हैं जो स्वभावतः मुक्त हैं अथवा अपने पूर्व जन्मोंमें अपनी स्वतंत्रता स्थापित कर चुके हैं।

वे कौन-सी साधनाएं हैं जो "स्वाधीनतासे आरंभ होती हैं", जिनकी यहां श्रीअरविंदने चर्चा की है ?

मैं सोचती हूं कि इससे श्रीअरविन्दका अभिप्राय प्रारंभिक दीक्षा-सम्बन्धी उन विभिन्न अनुशासनोंसे है जिनका ऐसे दीक्षागृहोंमें अभ्यास किया जाता था — उन दिनों, जब कि इनका एक अपना महत्त्व था और अपनी सत्ता होती थी।

हमारा युग बहुत भौतिकवादी बन गया है; वह अब ऐसे दीक्षागृहोंको वही महत्त्व या वही अधिकार नहीं देता।

३०-९-६९

१६४ — जो स्वेच्छा-स्वीकृत विधानको स्वतंत्रतापूर्वक तथा पूर्णता और समझदारीके साथ पालन करनेमें पीछे रह जाते हैं, उन्हें दूसरोंकी इच्छाके अधीन रखना चाहिये। राष्ट्रोंकी पराधीनताका यह एक प्रधान कारण है। जब किसी शासकके पैरों तले उनका ऊधमी अहंकार कुचला जा चुकता है, तब उन्हें स्वतंत्रताद्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करनेके योग्य बननेका एक नवीन अवसर प्रदान किया जाता है अथवा, यदि उनमें शक्ति होती है तो वे इसे स्वयं आयत्त कर लेते हैं।

१६५ — हमारी असंस्कृत स्थितिमें स्वतंत्रताका अर्थ है दूसरोंके विधानको नहीं, वरन् स्वयं अपने लादे हुए विधानको मानना। मात्र भगवान्के अंदर तथा आत्माकी प्रधानताके द्वारा ही हम पूर्ण स्वतंत्रताका उपभोग कर सकते हैं।

सच्ची स्वाधीनताका अर्थ है भगवान्के साथ सतत रूपमें एक होकर रहना और केवल वही करना जो भगवान् हमसे कराते हैं।

किन्तु तबतक दूसरे व्यक्तियोंके नियम और सामाजिक एवं नैतिक परिपाटियोंको माननेकी अपेक्षा अपने ऊपर एक कर्म और व्यवहार-संबंधी उच्चतर नियम लागू करना तथा सच्चे दिलसे उसका पालन करना अधिक अच्छा है।

१-१०-६९

जब व्यक्ति समाजमें रहता है, तो क्या उसके लिये अक्सर अपनी इच्छाद्वारा प्रयुक्त नियमोंको माननेके स्थानपर दूसरों-द्वारा लागू नियमोंको माना आवश्यक नहीं हो जाता?

स्पष्ट ही, यदि व्यक्ति समाजमें रहना चाहे या रहनेको सम्मत हो तो उसे समाजके नियम मानने ही होंगे, अन्यथा व्यक्ति अव्यवस्था और गड़बड़ी-का तत्त्व बन जाता है।

किन्तु जो अनुशासन स्वेच्छासे स्वीकार किया जाता है वह उच्चतर चेतनाके आन्तरिक विकास और प्रगतिके लिये हानिकारक नहीं हो सकता।

३-१०-६९

१६६ — पाप और पुण्यका द्विविध विधान हमारे ऊपर इस कारण लाद दिया गया है कि अभी हमें वह आदर्श जीवन और आंतरिक ज्ञान नहीं प्राप्त है जो आत्माको सहज-स्वाभाविक तथा अभ्रांत रूपसे उसकी आत्मपरिपूर्णताकी ओर ले जाता है। पाप-पुण्यका विधान हमारे लिये समाप्त हो जाता है जब भागवत सूर्य अपनी अनावृत गरिमाके साथ सत्य एवं प्रेममें स्थित अंतरात्माके ऊपर चमकता है। उस समय मूसाका स्थान ईसा, शास्त्रका स्थान वेद[1] ले लेता है।

क्या आपके ख्यालमें पाप और पुण्यके इस विचारने मानवजातिका कुछ हित किया है?

जैसा कि श्रीअरविन्दने कहा है, पाप और पुण्यका नियम उस समय जब कि हजारों वर्ष पहले यह मानवजातिपर लागू किया गया था, निश्चय ही उसके विकासके लिये आवश्यक था। किन्तु आज इसका न कोई अर्थ रह गया है न उपयोगिता। और, अब इसकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं।

यह अतीतका वह अंग है जिसका अधिकार अब और नहीं माना जाना चाहिये।

किंतु ऐसा करनेके लिये, इसका स्थान एक अधिक आलोकित और सच्चे नियमको लेना होगा, अव्यवस्था और भ्रष्टताको नहीं।

४-१०-६९

और यह आलोकित नियम[2] कौन-सा है?

भागवत आदेशके प्रति पूर्ण और सहज आज्ञाकारिता। इसी आदेशको समस्त नियमोंका स्थान लेना चाहिये।

२६-९-७०

---

[1]शास्त्र — ग्रंथ; वेद — ज्ञान।

[2]यह प्रश्न इन टिप्पणियोंको प्रकाशित करते समय बादमें श्रीमांसे पूछा गया था।

क्या सभी सामाजिक और नैतिक प्रथाओंको तोड़ना अच्छा है, जैसा कि नयी पीढ़ी कर रही है? क्या इन चीजोंका कुछ मूल्य नहीं है?

जिस चीजका एक युगमें मूल्य होता है उसका दूसरे युगमें कोई मूल्य नहीं रह जाता, क्योंकि मानव-चेतना विकास करती रहती है। किंतु तुम्हें एक बातपर विशेष ध्यान देना होगा कि जिस नियमको मानना बंद किया जाय उसके स्थानपर एक ऐसे अधिक ऊंचे और अधिक सच्चे नियमको रखा जाय जो आनेवाली पूर्णताके रास्तेमें सहायता कर सके।

तुम्हें किसी कानूनको तोड़नेका अधिकार तबतक नहीं है जबतक कि तुम उससे ऊंचे और अच्छे नियमको जान न लो और उसका पालन न कर सको।

५-१०-६९

उच्चतर नियम[1]का कैसे पालन किया जाय?

प्रत्येक क्षण वही करो जो भगवान् तुमसे चाहते हैं।

२६-९-७०

१६७ — जब हम अज्ञानके बंधनोंमें जकड़े रहते हैं तब भी अंतरस्थ भगवान् हमें सर्वदा ठीक-ठीक पथसे ले चलते हैं; परंतु उस हालतमें, यद्यपि लक्ष्य सुनिश्चित होता है, हम उसे चक्कर काटते हुए तथा गलत रास्तेमें भटकते हुए प्राप्त करते हैं।

भगवान्के द्वारा पूर्वदृष्ट लक्ष्य सदा प्राप्त होता है, किंतु केवल वही लोग उसे सीधे और चेतन रूपमें प्राप्त कर सकते हैं जिनकी चेतना भागवत चेतनाके साथ एक हो गयी है। अन्य लोग — उनकी एक बड़ी संख्या जो केवल अपनी बाह्य सत्ताके प्रति सचेतन है — बहुत-से चक्कर काटकर ही लक्ष्यको प्राप्त करते हैं, और इसमें कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि वे अपने लक्ष्यसे विमुख हो गये हैं।

६-१०-६९

---

[1]यह प्रश्न ये टिप्पणियां प्रकाशित करते समय बादमें श्रीमांसे पूछा गया था।

१६८ —— योगमें 'क्रॉस' (+) सूचित करता है उस अंतरात्मा और प्रकृतिको जो अपने प्रगाढ़ तथा पूर्ण एकत्वको प्राप्त कर चुके हैं; परंतु अज्ञानकी गन्दगियोंके अंदर हमारा पतन हो जानेके कारण यह दुःख-भोग और पवित्रीकरणका प्रतीक बन गया है।

१६९ —— ईसामसीह पवित्र बनानेके लिये जगत्में आये, पूर्ण बनानेके लिये नहीं। स्वयं उनको यह भविष्य-ज्ञान प्राप्त था कि उनका जीवन-कार्य असफल हो जायगा तथा उन्हें फिरसे भगवान्की तलवार लेकर उसी जगत्में वापस आनेकी आवश्यकता होगी जिसने उनको अस्वीकार कर दिया था।

इस सूत्रमें "भगवान्की तलवार"का क्या अर्थ है?

भगवान्की तलवार वह शक्ति है जिसका सामना कोई नहीं कर सकता।

७-१०-६९

१७० —— मुहम्मदका मिशन आवश्यक था, अन्यथा हम आत्म-शुद्धिके प्रयासकी अतिरंजनाके कारण इस विचारके साथ ही इतिश्री कर देते कि पृथ्वी केवल साधु-संन्यासियोंके लिये ही अभिप्रेत है तथा नगरोंका निर्माण रेगिस्तानकी ड्योढ़ीके रूपमें ही हुआ था।

१७१ —— अन्ततः प्रेम और शक्ति एक साथ मिलकर ही जगत्की रक्षा कर सकते हैं, केवल प्रेम या केवल शक्ति नहीं। इसी कारण ईसाको एक दूसरे आविर्भावकी प्रतीक्षा करनी पड़ी तथा मुहम्मदका धर्म, जहां वह पंगु नहीं बना है, इमामोंके द्वारा किसी मेहदीकी प्रतीक्षा करता है।

अकेला प्रेम, जिसका प्रचार ईसाने किया था, मनुष्योंको बदल नहीं सका। अकेली शक्ति भी, जिसकी शिक्षा मुहम्मदने दी, मनुष्योंको परिवर्तित नहीं कर सकी, यह बहुत दूरकी बात है।

इसीलिये जो चेतना आज मनुष्यके रूपांतरके लिये कार्य कर रही है

उसने शक्ति और प्रेमको संयुक्त कर दिया है और जिसने इस रूपांतरको साधित करना है वह भागवत प्रेमकी शक्तिके साथ ही पृथ्वीपर अव-तरित होगा।

१०-१०-६९

१७२ — नियम-कानून जगत्की रक्षा नहीं कर सकता, इसी-लिये मूसाके अध्यादेश मानवताके लिये मर गये हैं तथा ब्राह्मणोंके शास्त्र दूषित और म्रियमाण हैं। जो विधान स्वतंत्रताके अंदर मुक्त कर दिया जाता है वही मुक्तिदाता बनता है। पंडित नहीं योगी, संन्यास नहीं कामना, अज्ञान तथा अहंभावका आंतरिक परित्याग आवश्यक है।

यह एक निर्विवाद स्पष्टीकरण है, और हम ठीक यही करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। किंतु मानव प्रकृति विद्रोही होती है, उसे कामना, अज्ञान और अहंभावके त्यागके मूल्यपर स्वाधीनता प्राप्त करना कठिन लगता है। अधिकतर लोग कामना, अज्ञान और अहंभावसे रहित मुक्ति-की अपेक्षा उनकी दासता अधिक पसंद करते हैं।

१३-१०-६९

१७३ — एक बार विवेकानंदने भी भावावेशमें आकर इस मिथ्या सिद्धांतको स्वीकार कर लिया था कि साकार भगवान् इतने अधिक अनैतिक होंगे कि उन्हें सहा नहीं जा सकता और सभी भले आदमियोंका यह कर्तव्य है कि उन (भगवान्) का विरोध करें। परंतु कोई सर्वशक्तिमान् अतिनैतिक संकल्प-शक्ति और बुद्धि यदि जगत्का संचालन करती हो तो निश्चय ही उसका विरोध करना असंभव है; हमारा विरोध केवल उन्हींके उद्देश्योंको पूरा करेगा और वास्तवमें वह उन्हींके द्वारा निर्देशित होगा। अतएव, उन्हें तिरस्कृत या अस्वीकृत करनेके बदले क्या उनकी खोज करना और उन्हें जानना कहीं अधिक अच्छा नहीं है?

१७४ — अगर हम भगवान्को जानना चाहें तो हमें अपने

अहंकारपूर्ण तथा अज्ञानमय मानवीय मानदण्डोंका त्याग करना होगा अथवा उन्हें उन्नत और सार्वभौम बनाना होगा।

मानव-बुद्धिके अनुसार संसार भयंकर रूपसे अनैतिक है, दुःख और कुरूपतासे भरा हुआ है, विशेषतया मनुष्यजातिके आविर्भावके बादसे। इसलिये मानव चेतनाके लिये यह स्वीकार करना कठिन है कि यह संसार भगवान्‌की अपनी कृति है। कारण, यह मनुष्यको एक सर्वशक्तिमान् दैत्यका कार्य प्रतीत होता है।

किंतु श्रीअरविंद यह भी कहते हैं कि बुरा-भला कहनेके स्थानपर समझनेका प्रयत्न करना अधिक अच्छा है।

और समझनेका सर्वश्रेष्ठ ढंग क्या यही नहीं है, अपने-आपको इस सर्वोच्च चेतनाके साथ संयुक्त करना ताकि हम उसी प्रकार देखें जैसे वह देखती है और उसी प्रकार समझें जैसे वह समझती है? निश्चय ही यही एकमात्र सच्ची बुद्धिमत्ता है।

और योग ही सर्वोच्च सत्ताके साथ संयुक्त होनेका सच्चा ढंग है।

१५-१०-६९

१७५ — चूंकि एक भला मनुष्य मर जाता या असफल होता है और बुरे लोग जीते रहते और विजयी होते हैं, इसलिये क्या भगवान् बुरे हैं? इसमें मुझे कोई तर्क नहीं दीखता। सबसे पहले तो मुझे यह प्रतीति हो जानी चाहिये कि मृत्यु और असफलता अशुभ हैं; मैं कभी-कभी सोचता हूं कि जब वे आती हैं तब, उस समय, हमारे लिये परम शुभ होती हैं। परंतु हम अपने हृदयों और स्नायुओंके धोखेमें रहते हैं और यह तर्क करते हैं कि जिस वस्तुको वे पसंद नहीं करते या नहीं चाहते वह निस्संदेह बुरी होगी।

किंतु उन लोगोंके बारेमें क्या कहा जाय जो अभागे हैं और जो कुछ हाथमें लेते हैं उसमें असफल होते हैं?

सबसे पहले, और सदाके लिये यह जान लेना चाहिये कि संयोग जैसी कोई चीज नहीं है, न अच्छी, न बुरी।

जो वस्तु हमारे अज्ञानको संयोग प्रतीत होती है, वह बस उन कारणोंका फल है जिनकी हम अवज्ञा करते हैं।

यह निश्चित है कि जिसमें इच्छाएं हैं और जिसकी इच्छाएं पूरी नहीं होतीं उसके लिये यह इस बातका चिह्न है कि भागवत कृपा उसके साथ है और वह उसे अनुभवके द्वारा द्रुत वेगसे प्रगतिके पथपर चलाना चाहती है और उसे यह सिखाती है कि भगवदिच्छाके प्रति सहज और स्वेच्छापूर्वक किया गया समर्पण किसी भी इच्छाकी तुष्टिसे निश्चित रूपमें कहीं अधिक प्रसन्नता प्रदान करता है, एक ऐसी प्रसन्नता जो शांति और प्रकाशसे युक्त होती है।

१७-१०-६९

१७६ — जब मैं अपने विगत जीवनका सिंहावलोकन करता हूं तो देखता हूं कि यदि मैं असफल न हुआ होता और कष्ट न भोगता तो अपने जीवनके चरम वरदानोंको ही खो देता; फिर भी पीड़ा और विफलताके समयमें दुर्भाग्यका अनुभव करके विकल हो गया था। चूंकि हम अपनी नाकके नीचे घटित एक घटनाके अतिरिक्त और कोई चीज नहीं देख पाते इसीलिये हम इस तरह रोते-धोते और हो-हल्ला मचाते हैं। शांत हो जाओ, ऐ मूर्ख हृदयो! अहंभावका वध कर डालो, विशालता तथा विश्वमयताकी दृष्टिसे देखना और अनुभव करना सीखो।

१७७ — पूर्ण विश्वव्यापक दृष्टि तथा विश्वमय भाव समस्त भूल-भ्रांति तथा दुःख-कष्टकी दवा हैं; परंतु अधिकांश व्यक्ति केवल अपनी अहंताके क्षेत्रको ही विस्तारित करनेमें सफल होते हैं।

"विश्व व्यापक दृष्टि और विश्वमय भाव" क्या है और इन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

इसका अर्थ बस यही है, एक ही साथ समग्र पृथ्वीका दर्शन और उस समग्र दर्शनके परिणामस्वरूप पैदा होनेवाली भावना। इस सबमें **एक साथ** सब कुछ विद्यमान होता है, प्रकाश और अंधकार, कष्ट और आनंद, सुख और

दुःख, और यह सब फिर भगवान्‌के प्रति पूजा-भावका एक स्पंदन उत्पन्न कर देता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सभी ध्वनियां एक साथ सुनी जानेपर परम आवाहनकी एक ही ध्वनि ॐ बन जाती हैं।

१८-१०-६९

१७८ — मनुष्य कहते हैं और सोचते हैं : "अपने देशके लिये !" "मनुष्यजातिके लिये !" "जगत्‌भरके लिये !" परंतु सच पूछो तो उनका मतलब होता है : "अपने देशके अंदर दृष्ट स्वयं अपने स्वके लिये!", "मनुष्यजातिमें दृष्ट अपने स्वके लिये !", अपने ख्यालके अनुसार संसारके रूपमें कल्पित अपने स्वके लिये !" वह एक प्रकारकी विस्तृति हो सकती है, पर वह मुक्ति नहीं है। विशालतामें निर्बन्ध होकर रहना और एक विशाल कारागारमें बद्ध रहना — ये दोनों स्वतंत्रताकी एक जैसी अवस्थाएं नहीं हैं।

स्वतंत्र होनेके लिये, कारागारमेंसे निकलना ही होगा। और यह कारागार अहं है — पृथक् व्यक्तित्वकी यह भावना। मुक्त होनेके लिये व्यक्तिको चेतन और समग्र रूपमें सर्वोच्च सत्ताके साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा, और इस तादात्म्यके द्वारा अपने अहंकी सीमाओंको तोड़ना होगा और अपने-आपको वैश्व रूप देकर अहंके अस्तित्वको ही समाप्त कर देना होगा, चाहे चेतनाका व्यष्टि रूप बना भी रहे।

१९-१०-६९

१७९ — अपने पड़ोसीके अंदर विद्यमान भगवान्‌के लिये, स्वयं अपने अंदर विद्यमान भगवान्‌के लिये, अपने देशमें तथा अपने शत्रुके देशमें विद्यमान भगवान्‌के लिये, मनुष्यजातिमें विद्यमान भगवान्‌के लिये, वृक्ष, पत्थर और पशुमें विद्यमान भगवान्‌के लिये, जगत्‌में और जगत्‌से बाहर विद्यमान भगवान्‌के लिये जीवन धारण करो और तब समझो कि तुम स्वतंत्रताके सीधे पथपर हो।

इसके साथ कुछ और जोड़नेको नहीं है। यह सत्य है — स्पष्ट रूपसे सत्य

है — और निश्चयता प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिको यह अनुभूति प्राप्त करनी होगी, क्योंकि केवल अनुभूति ही पूरी तरह विश्वास दिलाती है।

२१-१०-६९

१८० — क्षुद्रतर और बृहत्तर दोनों प्रकारके सनातनत्व हैं; क्योंकि सनातनत्व आत्मासे संबंधित एक शब्द है और वह कालके अंदर भी विद्यमान रह सकता है तथा साथ ही काल-का अतिक्रमण भी कर सकता है। जब शास्त्र "शाश्वतीः समाः" कहते हैं तब उनका मतलब कालके एक दीर्घ प्रसार और स्थायित्वसे या प्रायः एक अपरिमेय कल्पसे होता है; एकमात्र पूर्ण भगवान्में ही पूर्ण शाश्वतता है। फिर भी जब कोई भीतर प्रवेश करता है तब देखता है कि यथार्थमें सभी वस्तुएं शाश्वत हैं; कहीं अंत नहीं है और न कभी कोई आरंभ ही था।

अनन्तताकी अनुभूति कैसे प्राप्त की जाय?

शाश्वत, अर्थात्; भगवान्के साथ अपने-आपको संयुक्त करके।

२३-१०-६९

१८१ — जब तुम किसी दूसरेको मूर्ख कहते हो, जैसा कि तुम कभी-कभी करते ही हो, तब उसके साथ यह भी मत भूलो कि तुम स्वयं भी सारी मनुष्यजातिमें सबसे बड़े मूर्ख रहे हो।

१८२ — भगवान् मौकेपर मूर्ख बनना पसंद करते हैं; मनुष्य मौके-बेमौके मूर्ख बनता है। अंतर बस इतना ही है।

बहुत वर्षोंसे हम देख रहे हैं कि हमारे प्रायः सभी बच्चे, छोटे और बड़े, अपनी नित्यप्रतिकी भाषामें असभ्य शब्दोंका व्यवहार करने लगे हैं, उदाहरणार्थ, प्रत्येक वाक्यके बीचमें वे "मूर्ख", "बेवकूफ" आदि, तथा इसी प्रकारकी अन्य भारतीय भाषाओं-की गालियां प्रयुक्त करते हैं, यद्यपि उनका उसमें कोई बुरा

भाव नहीं होता। उनकी इस बुरी आदतको, जो अब काफी बढ़ चुकी है, कैसे दूर किया जाय?

इसका एकमात्र उपाय है उन्हें यह सिखाना कि बोलनेसे पहले सोच लें तथा केवल वही शब्द मुंहसे निकालें जो विचारको प्रकट करनेके लिये अति अनिवार्य हों।

जितना कम बोला जाय, उतना ही अच्छा। और यदि किसी दूसरे-को या दूसरोंको कुछ बताना अनिवार्य हो तो बुद्धिमत्ता इसीमें है कि अनि-वार्य शब्द ही बोले जायं, उससे अधिक कुछ नहीं।

२४-१०-६९

१८३ — बौद्धोंकी दृष्टिमें एक चींटीको डूबनेसे बचा लेना एक साम्राज्य स्थापित करनेसे भी अधिक बड़ा कार्य ह। इस विचारमें एक सत्य है, पर एक ऐसा सत्य जिसे आसानीसे अतिरंजित किया जा सकता है।

१८४ — एक गुणको, — करुणातकको, — अनुचित रूपमें सभी गुणोंसे ऊंचा उठा देनेका तात्पर्य है अपने ही हाथोंसे प्रज्ञाकी आंखोंको बंद कर देना। भगवान् निरंतर एक समन्वयकी ओर अग्रसर होते हैं।

सभी अतिशयोक्तियों, सभी पृथक्करणोंका अर्थ है संतुलनका अभाव और समस्वरता-संबंधी दोष; अतएव, यह सब उस व्यक्तिके लिये एक भूल होती है जो कि पूर्णताकी खोज करता है। कारण, पूर्णता केवल सर्वोच्च सम-स्वरतामें ही निवास कर सकती है।

२८-१०-६९

१८५ — जबतक तेरी आत्मा भेद-भाव करती है तबतक तू दुःखी पशुओंके प्रति दया-भाव बनाये रख सकता है; परंतु मानवता तुझसे कोई और महत्तर वस्तु पानेकी अधिकारिणी है, वह तुझसे प्रेमकी, सहानुभूतिकी, बंधुत्वकी, समान व्यक्ति तथा भाईसे प्राप्त होनेवाली सहायताकी मांग करती है।

१८६ — संसारके कल्याणमें अशुभके योगदानसे तथा कभी-कभी पुण्यात्माओंसे पहुंचनेवाली हानिसे कल्याणकामी अंतरात्माको कष्ट पहुंचता है। फिर भी न तो दुःखी होओ न विभ्रांत, बल्कि मानवताके साथ भगवान् जिन तरीकोंसे व्यवहार करते हैं उनकी खोज करो तथा उन्हें शांतिपूर्वक समझो।

"श्रीअरविन्द यहां यह कहना चाहते हैं कि चेतनाकी एक ऐसी ऊंचाई है जहां शुभ और अशुभकी सामान्य धारणाएं अपना समस्त मूल्य खो देती हैं।

वे हमें अपनी चेतनामें ऊपर उठनेकी, पृथ्वीपर जिस प्रकार वस्तुएं घटती हैं उससे प्रभावित होनेके स्थानपर भगवान्के साथ संयुक्त होनेकी सलाह देते हैं। तभी हम समझ सकेंगे कि चीजें ऐसी क्यों हैं।

२९-१०-६९

१८७ — भगवान्के विधानमें अशुभ नामकी कोई वस्तु नहीं है, बल्कि केवल शुभ है या उसके लिये तैयारी।

१८८ — पुण्य और पाप इसलिये बनाये गये थे कि तेरी आत्मा संघर्ष और प्रगति करे; परंतु जहांतक परिणामका संबंध है वह भगवान्के हाथोंमें है, जो पाप और पुण्यसे परे रहकर अपने-आपको चरितार्थ करते हैं।

पाप और पुण्य विकास और प्रगतिकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये मानव मनके आविष्कार हैं — किंतु दिव्य चेतनामें पाप और पुण्यका अस्तित्व नहीं है।

समूचा विश्व ही उस वस्तुकी ओर एक धीमी विकास-क्रिया है जिसे उसे अभिव्यक्त करना है।

३०-१०-६९

१८९ — अंतरमें निवास करो; बाह्य घटनाओंसे विचलित मत होओ।

१९० — दानशीलताके दिखावेके लिये अपने दानोंको सर्वत्र

न बिखेरो; तुम जिसकी सहायता करते हो उसे समझो और उससे प्रेम करो। अपने अंदर अपनी आत्माको वर्द्धित होने दो।

१९१ — जब तुम्हारे संग गरीब हों तो गरीबोंकी सहायता करो; परंतु इस बातका भी ख्याल रखो और प्रयास करो कि तुम्हारी सहायता पानेके लिये कोई गरीब ही न बना रहे।

भगवान्‌के लिये सतत अभीप्सा करते हुए अपने अंदर निवास करना ही हमें जीवनकी ओर एक मुस्कराहटके साथ देखने तथा शांतिपूर्वक रहनेके योग्य बनाता है, बाह्य परिस्थितियां कैसी भी क्यों न हों।

गरीबोंके बारेमें श्रीअरविन्द कहते हैं कि गरीबोंकी सहायता करना अच्छा है बशर्त्ते कि यह दानका एक व्यर्थ दिखावा न हो। किंतु दुःख और कष्टका इलाज करनेकी चेष्टा करना कहीं अधिक बड़ा कार्य है, जिससे कि पृथ्वीपर कोई गरीब ही न रहे।

३१-१०-६९

१९२ — भारतका प्राचीन सामाजिक आदर्श यह मांग करता था कि पुरोहित स्वेच्छापूर्वक सादा जीवन यापन करे, पवित्रता और विद्वत्तासे परिपूर्ण हो तथा समाजको निःशुल्क शिक्षा प्रदान करे, राजा युद्ध करे, शासन करे, दुर्बलोंकी रक्षा करे एवं युद्धक्षेत्रमें अपना जीवन अर्पित कर दे, वैश्य व्यापार करे, उपार्जन करे तथा अपना उपार्जित धन मुक्तहस्त होकर समाजको वापस लौटा दे, और शूद्र शेष समाजके लिये एवं भौतिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये परिश्रम करे। शूद्रके दासत्वकी क्षतिपूर्तिके लिये उसने उसे आत्म-त्यागके कर, रक्तके कर तथा धन-संपत्तिके करसे मुक्त कर दिया था।

आरंभमें, कोई छः हजार वर्ष पहले, यह बिलकुल ठीक था, और प्रत्येकका **उसकी प्रकृतिके अनुसार** वर्गीकरण किया जाता था। बादमें यह एक कठोर सामाजिक प्रथा बन गयी, अर्थात्, जन्मके अनुसार वर्गीकरण होने लगा और अंतमें यह इतना मनमाना हो गया कि इसमें व्यक्तिके सच्चे गुण-स्वभावकी बिलकुल ही उपेक्षा कर दी गयी। तब यह विचार ही गलत हो गया और इसे समाप्त हो जाना पड़ा।

किंतु ज्यों-ज्यों मनुष्य विकसित होता जा रहा है, त्यों-त्यों उसके व्यवसाय अब अपनी प्रकृति और योग्यताके अनुसार अधिकाधिक वर्गीकृत हो रहे हैं, और अब उनमें कठोरता कम है और वे अधिकाधिक सच्चे बनते जा रहे हैं।

७-११-६९

१९३ — दरिद्रताका होना एक अन्यायपूर्ण तथा कुव्यवस्थित समाजका प्रमाण है, और हमारी सार्वजनिक दानशीलता एक डाकूके विवेकका प्रथम और धीमा जागरण है।

१९४ — हमारे प्राचीन महाकाव्यके रचयिता, वाल्मीकि, एक न्यायपरायण और प्रबुद्ध सामाजिक स्थितिके लक्षणोंमें केवल सार्वजनीन शिक्षा, नैतिकता तथा आध्यात्मिकताको ही नहीं, वरन् इस बातको भी अंतर्गत करते हैं कि ऐसा एक भी आदमी नहीं रह जाना चाहिये जो मोटा अन्न खानेके लिये बाध्य हो, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होना चाहिये जो मुकुट-हीन और राजतिलकविहीन हो अथवा जो भोग-विलासका एक तुच्छ और हीन दास बनकर जीवन यापन करता हो।

१९५ — श्रेणीगत या व्यक्तिगत रूपसे दरिद्रताका वरण करना महान् और उपकारी कार्य है, पर इसे यदि विकृत रूपसे सर्वसामान्य या राष्ट्रीय आदर्शके रूपमें स्थापित किया जाय तो यह संहारक बन जाता है तथा जीवनसे उसकी समृद्धि और प्रसारताको छीनकर उसे निःस्व बना देता है।

१९६ — नैसर्गिक शरीरके लिये जैसे रोग आवश्यक नहीं है वैसे ही सामाजिक जीवनके लिये दरिद्रताकी कोई आवश्यकता नहीं है; जीवनके अनुचित अभ्यास तथा समाज-संबंधी समुचित संगठनके विषयमें हमारा अज्ञान ही इन दोनों क्षेत्रोंमें परिहार्य विशृंखलताका भ्रमपूर्ण कारण है।

क्या ऐसा दिन आयेगा जब कोई गरीब नहीं रहेगा, न ही संसारमें कोई दुःख रहेगा ?

यह उन लोगोंके लिये, जो श्रीअरविन्दकी शिक्षाको समझते हैं एवं उसमें श्रद्धा रखते हैं, बिलकुल निश्चित है।

क्योंकि हम एक ऐसा स्थान बनाना चाहते हैं जहां ऐसा हो सके, इसीलिये हम ओरोवीलकी स्थापना करना चाहते हैं।

किंतु हममेंसे प्रत्येकको अपना रूपांतर करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि यह उपलब्धि संभव हो सके। कारण, मनुष्योंके कष्टका एक अधिक बड़ा भाग उसकी अपनी भूलों — भौतिक और नैतिक दोनों — का परिणाम है।

८-११-६९

> यह आप कैसे कहती हैं कि ओरोवीलमें कोई दुःख या कष्ट नहीं होगा, जब कि जो लोग ओरोवीलमें रहनेके लिये आयेंगे वे इसी संसारके हैं, और इन्हीं दुर्बलताओं और इन्हीं दोषोंके साथ पैदा हुए हैं ?

मैंने यह कभी नहीं सोचा कि ओरोवीलमें कभी दुःख-कष्ट नहीं होगा, क्योंकि मनुष्योंकी वर्तमान स्थिति यह है कि वे कष्टको पसंद करते हैं और उसे बुरा-भला कहते समय भी उसे पुकारते रहते हैं।

किंतु हम उन्हें शांतिके साथ सचमुच प्रेम करने तथा आत्माकी समताको बनाये रखनेकी शिक्षा देनेका प्रयत्न करेंगे।

मैं उस गरीबी और भिखारीपनकी बात कहना चाहती थी जो लाचारीसे हमें स्वीकार करने पड़ते हैं।

ओरोवीलमें जीवनकी व्यवस्था इस प्रकार की जायगी कि गरीबी वहां रहेगी ही नहीं — और यदि भिखारी बाहरसे आयें भी, तो या तो उन्हें वहांसे चले जाना पड़ेगा या उन्हें अतिथिशालामें रखकर कामका आनंद लेना सिखाया जायगा।

९-११-६९

> आश्रम और ओरोवीलके आदर्शमें मूल अंतर क्या है ?

भविष्यके प्रति और भगवान्‌की सेवाके प्रति अपनायी गयी वृत्तिके विषयमें कोई मूल अंतर नहीं है।

किंतु आश्रमके निवासियोंके विषयमें यह समझा जाता है कि उन्होंने अपना जीवन योगके प्रति अर्पण कर दिया है (विद्यार्थियोंको छोड़कर जो यहां केवल अध्ययनके लिये आये हैं और जिनसे जीवनमें अपना चुनाव करनेके लिये नहीं कहा जाता)।

जब कि ओरोवीलमें प्रवेश पानेके लिये मानवजातिके विकासके लिये एक सामूहिक प्रयोग करना तथा इस प्रयोगके लिये केवल सद्भावनाका होना ही पर्याप्त है।

१०-११-६९

१९७ — स्पार्टा नहीं वरन् एथेंस मानवजातिके लिये विकास-का आदर्श नमूना है। प्राचीन भारत अपनी विशाल धन-संपत्ति और विशाल उपभोगके आदर्शके साथ सबसे अधिक महान् था। आधुनिक भारत, जिसकी प्रवृत्ति राष्ट्रव्यापी तापस जीवनकी है, अपने जीवनमें दुर्बलता एवं अवनतिको प्राप्त हो गया है।

१९८ — यह स्वप्न मत देखो कि जब तुम भौतिक दरिद्रता-से मुक्त हो जाओगे तो मानवजाति प्रसन्न और संतुष्ट हो जायेगी अथवा समाजके सब दुःख-दरिद्र तथा समस्याएं दूर हो जायंगी। यह केवल पहली और निम्नतम आवश्यकता है। जबतक अंतरस्थित आत्माकी व्यवस्था दोषपूर्ण रहेगी, तबतक बाह्य अशांति, अव्यवस्था और विप्लवकी अवस्था हमेशा बनी रहेगी।

यह बिलकुल स्पष्ट है; और हम यही बात लोगोंको समझानेकी चेष्टा कर रहे हैं। एक सुरक्षित और शांत जीवन लोगोंको सुखी बनानेके लिये काफी नहीं है। एक आंतरिक विकास आवश्यक है और एक ऐसी शांति भी जो भगवान्के साथ चेतन संपर्कसे आती है।

१३-११-६९

१९९ — यदि आत्मामें दोष हुआ तो शरीरको रोग दुबारा घेरेगा ही; क्योंकि मनके पाप शरीरके पापोंके गुप्त कारण होते हैं। इसी प्रकार गरीबी और कष्ट भी तबतक मनुष्य-पर आते ही रहेंगे, जबतक कि मानवजातिका मन अहंभावके अधीन रहेगा।

२०० — धर्म और दर्शन मनुष्यको उसके अहंभावसे मुक्त करने-में सबसे अधिक सहायक होते हैं। तब अंतरस्थित स्वर्गका राज्य सहज हो जायगा और स्वभावतः वह एक बाह्य दिव्य नगरमें प्रतिबिंबित हो उठेगा।

श्रीअरविन्द 'दर्शन' और 'धर्म' शब्दोंका प्रयोग करते हैं ताकि सब समझ सकें। किंतु वे यह अच्छी तरह जानते थे कि मानव अहंभावका फलप्रद इलाज धर्म और दर्शनसे परे, सच्चे आध्यात्मिक जीवनमें है, एक ऐसे जीवन-में जिसे भौतिक चेतनाने पृथ्वीपर स्वीकार कर लिया है और अपना लिया है — यह एक ऐसी वस्तु है जो अंततः उसे अहंकारसे मुक्त होनेकी सामर्थ्य प्रदान करेगी।

१५-११-६९

२०१ — मध्य युगके ईसाई धर्मने मनुष्यजातिसे कहा: "मनुष्य, तू अपने पार्थिव जीवनमें एक बुरी वस्तु है और भगवान्‌के सामने एक कीटमात्र है; अपने अहंभावका त्याग कर दे, भविष्यके राज्यके लिये जीवन धारण कर और अपने-आपको भगवान् और उसके पुरोहितके अधीन कर दे।" इसके परि-णाम मनुष्यजातिके लिये कोई अधिक अच्छे नहीं निकले। आधुनिक ज्ञान मनुष्यजातिसे कहता है: "मनुष्य, तू एक क्षण-भंगुर जीव है और जीव प्रकृतिके सामने एक चींटी या केंचुए-से अधिक नहीं है, विश्वमें एक क्षणिक बिंदु है। अतएव, राज्यके लिये जीवन धारण कर और चींटीके समान ही अपने प्रशिक्षित शासक और विज्ञान-विशारदके अधीन होकर रह।" क्या यह शिक्षा पहलीसे कुछ अधिक सफल होगी?

२०२ — उधर वेदांत कहता है: "मनुष्य, तू भगवान्‌के तत्त्व

और स्वभावसे ही बना है, अन्य मनुष्योंके साथ एकात्म है। जाग, और चरम दिव्यताको प्राप्त कर, अपने अंदर और दूसरोंके अंदर भगवान्‌के लिये जीवन धारण कर।" यह उपदेश जो केवल कुछ ही लोगोंको दिया गया था अब समूची मानवजातिको उसकी मुक्तिके लिये दिया जाना चाहिये।

इसमें जोड़नेके लिये कुछ नहीं है। श्रीअरविंदने बड़ी स्पष्टता और निपुणतापूर्वक पहले अशुभकी व्याख्या की है और फिर उसका इलाज बताया है। जो कुछ उन्होंने हमें सिखाया है उसे व्यवहारमें लानेके सिवाय और अब कुछ नहीं करना है।

१६-११-६९

२०३ — मानवजाति सदा ही सबसे अधिक विकास तब करती है जब वह प्रकृतिके सामने अपने महत्त्वकी, अपनी स्वतंत्रता और वैश्व-भावकी पुष्टि करती है।

२०४ — पशु-रूपी मानव एक अंधकारमय आरंभिक बिंदु है, वर्तमान प्राकृतिक मानव बहुरंगी और उलझा हुआ और बीचका रास्ता है, किंतु अलौकिक मानव हमारी मानव यात्राका आलोकपूर्ण और परमोच्च लक्ष्य है।

मनुष्यको पूरी विकास-शक्ति तब प्राप्त होती है जब वह यह अनुभव करने लगता है कि वह प्रकृतिसे न तो बंधा है न ही उसके नियमोंद्वारा सीमित है।

प्रकृति भगवान्‌की एक सीमित अभिव्यक्तिमात्र है, जब कि मनुष्य शक्ति और ज्योतिकी सब संभावनाओंको लाता हुआ भगवान्‌की सचेतन अभिव्यक्ति बननेके लिये बना है।

१८-११-६९

२०५ — जीवन और कर्म तब अपने शिखरपर पहुंच जाते हैं और तुम्हारे लिये सदाके लिये गौरवान्वित हो उठते हैं जब तुम प्रत्येक विचार और कर्ममें, कला, साहित्य और

जीवनमें, घर, राज्य और समाजमें, संपत्तिको प्राप्त, अधिकृत और वितरण करनेमें तथा अपनी निम्नतर मर्त्य सत्तामें एक-मेव अमर सत्ताको मूर्त्त और अभिव्यक्त करनेकी शक्ति पा लेते हो।

निःसंदेह यह मनुष्यकी उस अवस्थाका वर्णन है जब वह अपनी सत्ता-की चोटीपर पहुंच जायगा। किंतु अतिमानवकी ओर तो यह केवल पहला कदम होगा।

२४-११-६९

कर्म

आत्मविकास और आध्यात्मिक अभीप्सा व्यक्तिको अपने कर्मपर नियंत्रण रखनेमें समर्थ बना देती है।

★

सीखना अच्छा है, वैसा बनना अधिक अच्छा है।

२५-११-६९ ——श्रीमां

२०६ — भगवान् मनुष्यको रास्ता दिखाते हैं, जब कि मनुष्य अपने-आपको उलटी ओर ले जाता है; उच्चतर प्रकृति निम्नतर मर्त्य सत्ताके स्खलनोंपर चौकसी रखती है। यही वह उलझन और विरोध है जिसमेंसे निकलकर हमें एक स्पष्ट ज्ञान और आत्म-एकत्वमें प्रवेश करना है, केवल यही निर्दोष कर्मको संभव बनाता है।

जीवनमें एकमात्र सुरक्षा, अपनी पुरानी भूलोंके परिणामोंसे बचनेका एकमात्र रास्ता आंतरिक विकास है, जो भागवत उपस्थितिके साथ सचेतन एकत्व स्थापित करनेमें सहायक होता है। वह एकमात्र सच्चा पथ-प्रदर्शक हमारी सत्ताका और सभी सत्ताओंका 'सत्य' है।

२५-११-६९

२०७ — तुम्हें सब जीवोंपर दया करनी चाहिये, यह बात अच्छी है किंतु यह तब अच्छी नहीं रहती जब तुम अपनी दयाके दास बन जाते हो। भगवान्के सिवाय और किसीके दास मत बनो, उनके अत्यधिक ज्योतिपूर्ण देवदूतोंके भी नहीं।

जो लोग सत्यके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उनके लिये एकमात्र मार्ग है भागवत उपस्थितिके प्रति सचेतन होना और केवल उन्हींकी इच्छाके अनुसार जीवन बिताना।

अशुभ और कष्टसे बचनेका एकमात्र मार्ग यही है; सदा शांति, प्रकाश और आनंदमें निवास करनेका भी यही एकमात्र मार्ग है।

२६-११-६९

२०८ — दिव्यानंद है भगवान्का उद्देश्य जिसे उन्होंने मनुष्यजातिके लिये निश्चित किया है; सबसे पहले तू इस परम श्रेयको अपने लिये प्राप्त कर ताकि तू इसे संपूर्णतः अपने साथी प्राणियोंमें भी विस्तारित कर सके।

२०९ — जो केवल अपने लिये ही अर्जन करता हैं वह बुरे रूपमें अर्जन करता है, भले ही वह उसे स्वर्ग और पुण्यका ही नाम क्यों न दे।

मनुष्यको परमानंद पानेका अधिकार है क्योंकि उसकी रचना इसीके लिये हुई थी। किंतु सभी अहंभावपूर्ण क्रियाएं इस परमानंदकी विरोधी होती हैं। अतः यदि व्यक्ति उसे केवल अपने लिये ही खोजता है तो वह उसे अपनी ओर खींचनेके स्थानपर दूर हटा देता है। आत्म-विस्मृति और आत्म-निवेदनके द्वारा, बदलेमें कुछ भी मांगे बिना या यूं कहें अपने-आपको परमानंदमें इस प्रकार लीन करके कि वह सभीपर फैल जाय, व्यक्ति आंतरिक शांति और आनंद प्राप्त करता है, जो उसे कभी नहीं छोड़ते।

२९-११-६९

मां, "आत्म-विस्मृति" और "आत्म-निवेदन" में क्या अंतर है?

आत्म-विस्मृति केवल एक निष्क्रिय अवस्था हो सकती है जो अहंभावकी पूर्ण अनुपस्थितिके परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। जब कि आत्म-निवेदन, जिसका कि पूरा मूल्य तभी होता है जब वह भगवान्‌के प्रति किया जाता है, एक सक्रिय प्रक्रिया है जो अपने अंदर प्रेमके विशुद्धतम एवं उच्चतम रूपको लिये रहती है।

भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण ही मनुष्यके अस्तित्वका सच्चा हेतु है।

३०-११-६९

२१० — अपनी अज्ञानावस्थामें मैंने समझा था कि क्रोध महत् और प्रतिहिंसा गौरवपूर्ण हो सकती है; परंतु अब जब मैं अकिलीस[1] को प्रचंड कोपमें देखता हूं तो एक बहुत सुन्दर

---

[1]यह होमरके महाकाव्य 'इलियड'का मुख्य पात्र है और यूनानी सभ्यतामें मनुष्यत्वका आदर्श गिना जाता है।

बालकको एक बहुत सुन्दर क्रोधमें देखता हूं और मैं प्रसन्नता तथा आमोदसे भर जाता हूं।

२११ ––शक्ति जब क्रोधसे ऊपर उठ जाती है तो महान् होती है; विनाश भव्य होता है, परंतु वह प्रतिहिंसासे आरंभ हो तो अपनी जाति खो देता है। इन चीजोंका त्याग कर दो, क्योंकि ये निम्नतर मानवतासे संबंध रखती हैं।

क्रोध और बदलेकी भावना निचली मानवताकी वस्तुएं हैं, ये बीते कलकी मानवजातिकी चीजें हैं, आनेवाले कलकी नहीं।

१-१२-६९

२१२ ––कविगण मृत्यु और बाहरी क्लेशोंको बहुत अतिरंजित कर देते हैं, पर एकमात्र दुःखांत नाटक हैं अंतरात्माकी असफल सफलताएं तथा एकमात्र महाकाव्य है मानवका देवत्वकी ओर विजयपूर्ण आरोहण।

साधारणतया, मनुष्य जो एकमात्र दुःखद वस्तु है उससे पीड़ाका अनुभव नहीं करता, वह प्रभावित नहीं होता, अर्थात्, आत्माको प्राप्त करने तथा उसीके नियमके अनुसार जीवन बितानेमें असफलता[1]।

सच तो यह है कि एकमात्र सच्ची दुःखद बात है अपनी आत्माके प्रति, आंतरात्मिक सत्ताके प्रति सचेतन न होना, अपने जीवनको संपूर्णतः उसीके द्वारा संचालित होनेकी अनुमति न देना।

सच्ची पराजय तब होती है जब व्यक्ति अपनी आत्माको पाये बिना, उसके नियमके अनुसार जीवन बिताये बिना ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

और सच्चा महाकाव्य, सच्चा गौरव भगवान्को अपने अंदर प्राप्त करने और उन्हींके विधानके अनुसार जीनेमें है।

३-१२-६९

---

[1]यह वाक्य मूलमें अंग्रेजीमें था।

२१३ — हृदय और शरीरके दुःख-शोक हैं बालकोंका अपने तुच्छ कष्टों और अपने टूटे खिलौनोंके लिये रोना। अपने भीतर हंसो, पर बच्चोंको सांत्वना दो; यदि तुम्हारे लिये संभव हो तो, उनके खेलमें भी भाग लो।

मानवी चेतनाकी संकीर्णता ही उन घटनाओंको दुःखांत बना देती है जो दिव्य चेतनाके लिये सामान्य विकासकी क्रियाएं मात्र होती हैं। किंतु जब व्यक्ति यह जान भी ले, तो भी उसके अंदर उन लोगोंके लिये, जो अभीतक अज्ञानके दुःखमें निवास करते हैं, गहरी सहानुभूति हो सकती है और होनी चाहिये।

४-१२-६९

२१४ — "प्रतिभाशाली व्यक्तियोंमें सर्वदा कोई चीज असाधारण होती है और अव्यवस्थित होती है।" और क्यों न हो? क्योंकि स्वयं प्रतिभा भी एक असामान्य उपज है और मनुष्यके साधारण केंद्रके बाहर होती है।

२१५ — प्रतिभा है प्रकृतिका अपने मानव-सांचेके भीतरसे कारावद्ध देवताको मुक्त करनेका प्रथम प्रयास; इस प्रक्रिया-में सांचेको क्षति-ग्रस्त होना पड़ता है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि दरारें इतनी कम और सामान्य होती हैं।

ज्यों ही मनुष्य भगवान्‌के प्रति सचेतन हो जाता है और उनके साथ जुड़ जाता है, वह निश्चय ही सामान्य दृष्टिके लिये असामान्य बन जाता है, क्योंकि तब उसमें सामान्य मानव प्रकृतिका निर्माण करनेवाली दुर्बलताएं नहीं रहतीं।

किंतु सौभाग्यवश आंतरिक प्राप्तिके तथ्यके कारण वह सामान्य लोगों-में पायी जानेवाली शेखी बघारनेकी आदत भी खो देता है और इस तरह औरोंकी बुरी भावनाओंसे भी बच सकता है।

५-१२-६९

२१६ — कभी-कभी प्रकृति स्वयं अपनी बाधाके ऊपर अत्यंत कुपित हो उठती है और तब वह अंतःप्रेरणाको मुक्त करनेके लिये मस्तिष्कको ही बिगाड़ देती है; क्योंकि इस प्रयासमें साधारण भौतिक मस्तिष्ककी समतोलता ही उसकी प्रधान विरोधिनी होती है। ऐसे लोगोंके पागलपनकी उपेक्षा करो और उनकी अंतःप्रेरणासे लाभ उठाओ।

वस्तुतः, वस्तुओंको पूर्ण विश्वासकी शांत मुस्कानके साथ देखना ही बुद्धिमत्ता है। कारण, मनुष्य इस समय जिस चेतनामें निवास करता है वह परम प्रभुके प्रयोजनोंको बिलकुल नहीं समझ सकती।

७-१२-६९

२१७ — अपनी प्रचंड शक्ति तथा ज्वलंत देवत्वके साथ आधारमें अत्यंत वेगसे प्रवेश करती हुई कालीको भला कौन सह सकता है? केवल वही जिसे कृष्णने पहलेसे ही अधिकृत कर रखा हो।

यह इस बातको कहनेका सुन्दर और व्यंजनापूर्ण ढंग है कि केवल भगवान्‌की सचेत उपस्थिति ही सब उग्रताओंको वशमें कर सकती है और जीत सकती है।

८-१२-६९

२१८ — अत्याचारीसे घृणा मत कर, क्योंकि, यदि वह प्रबल हो तो तेरी घृणा उसके विरोधकी शक्तिको बढ़ा देगी; यदि वह दुर्बल हो तो तेरी घृणा निरर्थक है।

२१९ — घृणा एक शक्तिशाली तलवार है, पर इसकी धार सर्वदा दोहरी होती है। यह प्राचीन जादूगरोंकी क्रियाके जैसी है जो, यदि अपने शिकारसे वंचित कर दी जाती तो भेजनेवालेको ही निगल जानेके लिये क्रोधके साथ वापस आ जाती थी।

२२० — जब तू अपने शत्रुपर आघात करता हो तब भी उसके

अंदर विद्यमान भगवान्‌से प्यार कर; इस तरह दोनोंमेंसे कोई भी नरकका भागीदार न होगा।

२२१—मनुष्य शत्रुओंकी बात करते हैं पर, कहां हैं वे? मैं तो केवल विश्वके विशाल अखाड़ेमें किसी एक या दूसरे पक्षके पहलवानोंको ही देखता हूं।

यह सब मानवजातिको अपनी एकताके प्रति जगानेके उद्देश्यसे लिखा गया है। जब व्यक्ति इस एकताके प्रति चेतन हो जाता है तथा सब व्यक्तियोंमें भगवान्‌को देखता है तब उस वस्तुको अनुभव करना सरल हो जाता है जिसकी श्रीअरविंद सलाह दे रहे हैं।

९-१२-६९

२२२—संत और देवदूत ही दिव्य सत्ताएं नहीं हैं; दैत्य और असुरके लिये भी प्रशंसाके शब्द कहो।

२२३—पुराने ग्रंथोंमें असुरोंको ज्येष्ठ देवता कहा जाता है। और वे अब भी वही हैं, कोई भी देवता पूरी तरहसे दिव्य नहीं होता जबतक कि उसमें एक असुर न छिपा हुआ हो।

२२४—यदि मैं राम नहीं हो सकता तो मैं रावण होऊंगा; क्योंकि वह विष्णुका अंधकारमय पक्ष है।

इसका अर्थ यह है कि बिना बलके मधुरता और बिना शक्तिके भलाई अपूर्ण होती है और वे भगवान्‌को पूरी तरहसे व्यक्त नहीं कर सकतीं।

श्रीअरविंदने जिस प्रकारकी अलंकारिक भाषाका प्रयोग किया है उसीको आगे चलाते हुए, मैं यह कह सकती हूं कि जो असुर रूपांतरित हो चुका है, उसकी दयालुता और उदारता एक सीधे-सादे देवदूतकी दयालुता और उदारतासे अनंतगुनी प्रभावशाली है।

११-१२-६९

२२५ — त्याग करो, त्याग करो, सदा त्याग करो, पर भगवान् के और मानवताके लिये, त्यागके लिये त्याग नहीं।

२२६ — स्वार्थपरता अंतरात्माका हनन कर देती है; इसे नष्ट कर दो। किंतु इस बातका ध्यान रखो कि तुम्हारी परोपकार-वृत्ति दूसरोंकी आत्माओंको नष्ट न कर दे।

२२७— अधिकतर परोपकार-वृत्ति स्वार्थपरताका ही अत्यधिक उन्नत रूप होती है।

मां, परोपकार-वृत्ति दूसरोंकी आत्माका हनन कैसे कर सकती है?

दूसरोंकी (परोपकार-भावनामें) धनादिसे सहायता करके साथ-साथ यदि तुम उनपर अपना दृष्टिकोण भी लादो तो इससे तुम उनकी अंतरात्माका हनन ही कर डालोगे, क्योंकि नैतिक और सामाजिक नियम किसी तरह उस आंतरिक नियमका स्थान नहीं ले सकते जिसे प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आत्मासे पाना चाहिये।

१३-१२-६९

२२८ — भगवान्के आदेशपर जो व्यक्ति वध नहीं करता, वह संसारमें बहुत बड़े विनाशका कारण होता है।

२२९ — जबतक हो सके मानव जीवनका सम्मान करो; किंतु मानवजातिके जीवनको और भी अधिक सम्मान दो।

२३० — मनुष्य क्रोध, घृणा अथवा बदलेकी बेलगाम भावनासे किसीका वध करते हैं; उसके परिणामस्वरूप उन्हें देर या सवेर कष्ट उठाना ही पड़ेगा। या फिर वे अपनी स्वार्थपूर्तिके लिये ठंडे भावमें यह कार्य करते हैं; भगवान् उन्हें क्षमा नहीं करेंगे। वध करनेसे पहले मनुष्योंको अपनी आत्मामें यह जान लेना चाहिये कि मृत्युका अर्थ कष्टसे मुक्ति है,

वे उसमें, जिसपर प्रहार किया जा रहा है, स्वयं प्रहारमें तथा प्रहार करनेवालेमें, भगवान्‌को देख लें।

मां, किन परिस्थितियोंमें भगवान् वध करनेका आदेश देते हैं?

यह ठीक वह प्रश्न है जिसका उत्तर मैं नहीं दे सकती, क्योंकि भगवान्‌ने मुझे कभी वध करनेके लिये नहीं कहा।

१४-१२-६९

२३१ — साहस और प्रेम ही अनिवार्य गुण हैं; और सब गुण यदि धुंधले या निस्तेज पड़ जायं तो भी ये दोनों आत्माको जीवित रखेंगे।

२३२ — नीचता और स्वार्थपरता ही ऐसे पाप हैं जिन्हें क्षमा करनेमें मैं कठिनाई अनुभव करता हूं; पर ये दोनों प्रायः सभी लोगोंमें पाये जाते हैं। अतएव, इन्हें दूसरोंमें देखकर हमें इनसे घृणा नहीं करनी चाहिये, बल्कि अपने अंदर इनका नाश करना चाहिये।

२३३ — सज्जनता और उदारता आत्माका सूक्ष्म आकाश हैं; इनके बिना व्यक्ति काल-कोठरीमें पड़ा कीड़ा ही दिखायी देता है।

२३४ — तुम्हारे गुण ऐसे न हों जिन्हें मनुष्य सराहें या पुरस्कृत करें, बल्कि ऐसे हों जो तुम्हें पूर्णता प्रदान करें, जिनकी तुम्हारी प्रकृतिमें निवास करनेवाले भगवान् तुमसे मांग करते हैं।

मां, क्या आप निम्नलिखित शब्दोंकी व्याख्या कर सकेंगी?

१. साहस और प्रेम
२. नीचता और स्वार्थपरता
३. सज्जनता और उदारता

१. साहसका अर्थ है भयके सभी रूपोंकी पूर्ण अनुपस्थिति।

२. प्रेम है बदलेमें कुछ भी चाहे बिना अपने-आपको देना।

३. नीचता एक प्रकारकी दुर्बलता है जो हिसाब-किताब करती है और दूसरोंसे उन गुणोंकी मांग करती है जो स्वयं उसमें नहीं हैं।

४. स्वार्थपरताका अर्थ है अपने-आपको विश्वके केंद्रमें रखना और यह चाहना कि सबका अस्तित्व मेरे संतोषके लिये ही हो।

५. सज्जनताका अर्थ है समस्त वैयक्तिक हिसाब-किताबको अस्वीकार कर देना।

६. उदारताका अर्थ है दूसरोंके संतोषमें अपना संतोष पाना।

१५-१२-१९६९

२३५ — परोपकार, कर्तव्य, परिवार, देश, मानवजाति — ये जब आत्माके उपकरण नहीं रहते तो ये उसके बंदीगृह बन जाते हैं।

२३६ — हमारा देश मातृरूप भगवान् है; उसके बारेमें तबतक बुरी बात न कहो, जबतक कि तुम उसे प्रेम और कोमल-भाव-के साथ न कह सको।

२३७ — मनुष्य अपने लाभके लिये ही देशके प्रति मिथ्या व्यवहार करते हैं; फिर भी यह मानते रहते हैं कि उन्हें मातृहत्याकी ओरसे घृणामें मुंह मोड़ लेनेका अधिकार है।

स्नेहमयी मां, परोपकार, कर्तव्य, परिवार, देश, मनुष्यजाति — ये आत्माके सच्चे उपकरण कैसे हो सकते हैं?

अंतरात्मा भगवान्की है, और उसे केवल भगवान्की ही आज्ञा और सेवामें रहना चाहिये। यदि भगवान् उसे परिवार, देश या मनुष्यजातिके लिये कार्य करनेका आदेश दें तो यह बहुत अच्छा है और वह बिना बन्दी हुए ऐसा कर सकती है।

यदि यह आदेश उसे भगवान्से प्राप्त नहीं होता तो इनकी सेवा करने-का अर्थ केवल सामाजिक और नैतिक परंपराओंका पालन करना है।

१७-१२-६९

२३८ — अतीतके सांचोंको तोड़ दो, किंतु उसकी प्रतिभाको, उसकी भावनाको सुरक्षित रखो, अन्यथा तुम्हारा कोई भविष्य नहीं होगा।

२३९ — क्रांतियां पुरानी वस्तुओंको तोड़-फोड़ देती हैं और उन्हें एक कड़ाहेमें डाल देती हैं, किंतु उसमेंसे निकलता है वही पुराना दास जिसका बस चेहरा ही नया होता है।

२४० — संसारमें सफल क्रांतियां केवल छः ही हुई हैं और इनमेंसे भी अधिकांश असफल जैसी ही रही हैं; फिर भी महान् और श्रेष्ठ असफलताओंके द्वारा ही मानवजाति आगे बढ़ती है।

स्नेहमयी मां, "महान् और श्रेष्ठ असफलताओं" से श्रीअरविन्दका क्या अभिप्राय है?

कसी घटनाकी महानता और श्रेष्ठता उसकी भौतिक सफलतापर नहीं, बल्कि उन भावनाओंपर निर्भर है जो उसे प्रेरित करती हैं और उस लक्ष्यपर निर्भर है जिसके लिये मनुष्य काम करते हैं।

सफलता महानताका कारण नहीं होती, बल्कि कार्यको प्रेरित करनेवाला उद्देश्य और भावनाओंकी श्रेष्ठता ही उसका कारण होती है।

१८-१२-६९

२४१ — नास्तिकता गिरजाघरोंकी दुष्टता और धर्मोंकी संकीर्णताके विरुद्ध किया गया एक आवश्यक प्रतिवाद है। भगवान् इन दूषित ताशके महलोंको चकनाचूर करनेके लिये इसका प्रयोग पत्थरके रूपमें करते हैं।

२४२ — न जाने कितनी ही अधिक घृणा और मूर्खताको मनुष्य पेटीमें भरकर, सजाकर उसपर 'धर्म'का ठप्पा लगानेमें सफल हो जाते हैं।

स्नेहमयी मां, क्या अधिक अच्छा है, धर्म या नास्तिकता?

जबतक धर्मोंका अस्तित्व रहेगा, तबतक उनके विरोधका पलड़ा बराबर रखनेके लिये नास्तिकता अनिवार्य रहेगी। अच्छा तो यह है कि दोनों ही स्वयं मिटकर अपना स्थान सत्यकी एक सच्ची और निःस्वार्थ खोजको तथा इस खोजके उद्देश्यके लिये पूर्ण आत्म-निवेदनको दे दें।

२१-१२-६९

२४३ —— जब भगवान् बुरे-से-बुरा प्रलोभन देते हैं तभी भगवान् सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शन करते हैं, जब वे निर्दयतापूर्वक दण्ड देते हैं तभी पूर्ण रूपसे प्रेम करते हैं, जब वे उग्रतापूर्वक विरोध करते हैं तभी वे पूर्ण सहायता देते हैं।

२४४ —— यदि भगवान् मनुष्योंको प्रलोभन देनेका भार अपने ऊपर न लें तो जगत् शीघ्र ही नष्ट हो जाय।

२४५ —— अपने अंदर प्रलोभनोंको आने दो, जिससे कि इनके साथ संघर्ष करनेमें तुम्हारी निम्न प्रवृत्तियां समाप्त हो जायं।

२४६ —— यदि तुम अपना शोधन भगवान्के ऊपर छोड़ दो तो वे तुम्हारे अशुभको तुम्हारे अंदरसे समाप्त कर देंगे; किंतु यदि तुम अपना पथ-प्रदर्शन आप ही करनेका हठ करो तो तुम बहुत-से बाहरी पाप-तापमें जा गिरोगे।

२४७ —— ऐसी प्रत्येक वस्तुको जिसे मनुष्य अशुभ कहते हैं, तुम भी अशुभ न कहो, केवल उसी वस्तुको अस्वीकार करो जिसे भगवान्ने अस्वीकार किया है; ऐसी प्रत्येक वस्तुको जिसे मनुष्य अच्छा कहते हैं, तुम भी अच्छा न कहो, केवल उसीको अंगीकार करो जिसे भगवान्ने अंगीकार किया है।

स्नेहमयी मां, यदि व्यक्ति भगवान्के प्रति पूर्ण समर्पण कर दे तो भी क्या उसे अपने व्यक्तिगत संकल्पको, चुनावकी शक्ति आदिको विकसित करनेकी आवश्यकता पड़ेगी? क्या ये वस्तुएं मार्गकी बाधाएं नहीं बन जायेंगी?

व्यक्तिगत संकल्प और चुनाव-शक्ति उन लोगोंके लिये आवश्यक गुण हैं जो साधारण अज्ञान और भ्रमकी अवस्थामें निवास करते हैं।

भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पणका अर्थ ही है इनका त्याग। किन्तु दुर्भाग्यसे बहुत-से लोग अपने-आपको भुलावा दे लेते हैं कि उन्होंने अपने-आपको पूरी तरहसे भगवान्‌को सौंप दिया है, और फिर भी वे अपने अदंर एक अत्यंत सक्रिय 'अहं' को बचाये रखते हैं जो उन्हें भागवत इच्छाको स्पष्ट रूपमें देखने नहीं देता; यदि ऐसे लोग व्यक्तिगत इच्छा एवं विवेकका त्याग कर दें तो उनके असंगत एवं अस्थिर-बुद्धि हो जानेका डर रहता है।

सबसे पहले तो व्यक्तिको एक पूर्ण सच्चाई प्राप्त करनी होगी जिससे कि उसे यह निश्चय हो जाय कि वह अपने-आपको धोखा नहीं दे रहा है, और उसे इस बातके स्पष्ट प्रमाण मिल जाने चाहिये कि भागवत इच्छा ही व्यक्तिका पथप्रदर्शन करती है तथा उसे कर्मके लिये प्रेरित करती है।

२२-१२-६९

२४८ — संसारमें मनुष्योंके पास दो प्रकारके आलोक हैं, कर्तव्य और सिद्धान्त; किन्तु जिस व्यक्तिने भगवान्‌का आश्रय ले लिया है, वह इन दोनोंको त्यागकर इनके स्थानपर भागवत इच्छाको ले आया है। यदि लोग इसके लिये तुम्हें गाली दें तो, हे दिव्य यंत्र, परवाह मत कर, पर हवा अथवा सूर्यके समान अपनी राहपर बढ़ा चल जो पोषण भी करते हैं और नाश भी।

२४९ — भगवान्‌ने तुझे लोगोंकी प्रशंसाएं बटोरते फिरनेके लिये नहीं, वरन् निर्भय होकर अपना आदेश माननेके लिये अपनाया है।

२५० — संसारको भगवान्‌की नाटयशाला मानो, तुम अभिनेताका मुखौटा बनो और फिर उन्हें ही अपने द्वारा अभिनय करने दो। यदि लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हैं या तुम्हें दुत्कारते हैं, तो यह जान लो कि वे मुखौटे ही हैं; केवल अंतर्स्थित भगवान्‌को अपना एकमात्र आलोचक और दर्शक मानो।

सबसे पहले यह आवश्यक है कि तुम भागवत संकल्पके प्रति सचेतन होओ और इसके लिये तुम्हारे अन्दर न कोई कामना होनी चाहिये न व्यक्तिगत इच्छा।

इस स्थितिको पानेके लिये सबसे अच्छा उपाय यह है कि व्यक्ति अपनी सारी अभीप्सा भागवत पूर्णताकी ओर मोड़ दे, बिना कुछ शेष रखे अपने-आपको उसके प्रति समर्पित कर दे तथा अपनी सभी तुष्टियोंके लिये उसीकी ओर निहारे।

बाकी सब कुछ स्वयं इसके फलस्वरूप हो जायगा।

२३-१२-६९

२५१ — यदि अकेले कृष्ण एक तरफ हों और सेना और गोले-बारूद तथा अपने सिद्धान्तों और नारोंके साथ लैस और संगठित संसार दूसरी ओर हो, तो भी भगवान्‌के एकाकीपनको ही चुनो। परवाह मत करो यदि संसार तुम्हारे शरीरको रौंद दे और उसकी गोलियां तुम्हारे चिथड़े कर दे, तथा उसकी घुड़सवार सेना तुम्हारे अंगोंको कुचलकर उसे आकाररहित लौंदा बनाकर एक ओर डाल दे; कारण, मन तो सदा ही मिथ्यारूप रहा है और शरीर एक मृत ढांचा। इसके खोलोंसे मुक्त होकर ही आत्मा ऊपरकी ओर उठकर विजय प्राप्त करती है।

यह सूत्र हमें यह बताता है कि हमें केवल एक ही चुनाव करना है — सब कुछके बावजूद हमें भगवान्‌के साथ जुड़ना है, तब भी, जब कि सारा संसार हमारे विरुद्ध हो जाय, क्योंकि संसारके पास अपनी मानसिक और शारीरिक सत्तामें एक ऊपरी शक्ति ही है, जब कि भगवान्‌के पास सत्यकी सनातन शक्ति है।

२६-१२-६९

२५२ — यदि तुम यह सोचते हो कि पराजय ही तुम्हारा अंत है तो युद्धके लिये आगे मत बढ़ो, अधिक शक्तिशाली हो तो भी न बढ़ो। कारण, भाग्यको कोई खरीद नहीं सकता, न ही शक्ति अपने अधिकर्ताके साथ बंधी हुई है। किंतु

पराजय अंत नहीं है, यह केवल एक द्वार है या एक आरंभ है।

२५३ — तुम कहते हो मेरे हाथ असफलता लगी है। इसकी जगह यह कहो कि भगवान् अपने लक्ष्यकी ओर चक्राकार गतिसे बढ़ रहे हैं।

२५४ — संसारसे निराश होकर तुम भगवान्को पकड़नेके लिये दौड़ते हो। यदि संसार तुमसे अधिक बलशाली है तो क्या तुम भगवान्को अपनेसे दुर्बल समझते हो? तुम उनके आदेशके लिये तथा उसे पूरा करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये उन्हींकी ओर मुड़ो।

स्नेहमयी मां, भगवान्को अपने लक्ष्यकी ओर जानेके लिये चक्कर क्यों काटने पड़ते हैं? वे इच्छा करते ही आसानीसे उसे एकदम प्राप्त कर सकते हैं, इससे अन्य सबका कार्य भी अधिक सुगम और प्रभावकारी हो जायगा, क्या यह ठीक नहीं है?

निश्चय ही श्रीअरविंदने यह नहीं कहा है कि "भगवान्"को चक्कर काटनेकी आवश्यकता है, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् हैं, किंतु उनमें ऐसी निरंकुश शक्ति नहीं है जैसा कि मनुष्य समझते हैं।

किसी वस्तुको समझना शुरू करनेके लिये व्यक्तिको यह जानना और समझना होगा कि समस्त विश्वमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उनकी सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक संकल्प-शक्तिकी अभिव्यक्ति 'न हो'; उनके साथ चेतन रूपसे संयुक्त होनेसे ही व्यक्ति इसे समझना आरंभ कर सकता है, पर मानसिक रूपसे नहीं, बल्कि चेतना और अंतर्दृष्टिकी अद्भुत क्रियाके रूपमें।

अपनी सामान्य चेतनामें, विशालतम बुद्धिमत्ताके होते हुए भी, मनुष्य सृष्टिके एक अत्यंत छोटे-से कणको ही देख सकता है, अतएव वह उसे समझ तो सकता नहीं, और निर्णय तो और भी कम दे सकता है।

यदि हम संसारके रूपांतरको शीघ्र लाना चाहते हैं तो हम अच्छे-से-अच्छा यही कर सकते हैं कि निःशेष भावमें, बिना हिसाब-किताब किये अपने-आपको उन्हें सौंप दें, जो सब कुछ जानते हैं।

२८-१२-६९

२५५ — जबतक किसी महान् ध्येयके पक्षमें एक भी अविचल विश्वासवाला व्यक्ति हो, वह कभी असफल नहीं हो सकता।

२५६ — तुम बड़बड़ाते हो : तर्क इस विश्वासका आधार नहीं बन पाता। मूर्ख! यदि ऐसा होता तो तुम्हें न तो विश्वासकी आवश्यकता होती न तुमसे उसकी मांग ही की जाती।

२५७ — हृदयका विश्वास एक गुप्त ज्ञानका अस्पष्ट एवं प्रायः ही विकृत प्रतिबिंब होता है। प्रायः जितना अधिक संशय विश्वासीको सताता है उतना अत्यधिक हठी अविश्वासीको नहीं। वह स्थिर इसलिये रहता है कि उसके अवचेतनमें कोई ऐसी वस्तु होती है जो जानती है। वह उसके अंधविश्वासको और धूमिल संशयोंको सहती है और उसे उस वस्तुके प्रकट करनेमें सहायता पहुंचाती है जिसे वह जानता है।

स्नेहमयी मां, क्या ऐसा "अंध-विश्वास" रखना अच्छा है जो न प्रश्न करे न तर्क?

जिसे सामान्यतः मनुष्य अंध-विश्वास कहते हैं वह वास्तवमें वह वस्तु होती है जिसे भागवत कृपा कभी-कभी उन लोगोंको प्रदान करती है जिनकी बुद्धि इतनी विकसित नहीं हुई कि वे सच्चे ज्ञानको प्राप्त कर सकें। अतएव, अंध-विश्वास बहुत सम्माननीय हो सकता है, यद्यपि यह बात ठीक है कि जिस व्यक्तिके पास सच्चा ज्ञान है वह इससे कहीं उच्च अवस्थामें है।

२९-१२-६९

स्नेहमयी मां, विश्वास किस स्तरकी वस्तु है — मानसिक स्तरकी या आंतरात्मिककी?

विश्वास संपूर्णतया आंतरात्मिक विषय है।

३०-१२-६९

२५८ —— संसार सोचता है कि वह तर्कके प्रकाशके सहारे आगे बढ़ रहा है, किंतु वास्तवमें उसे आगे चलाते हैं विश्वास और सहज प्रेरणाएं।

२५९ —— तर्क अपने-आपको विश्वासके अनुकूल बना लेता है और सहज प्रेरणाओंको भी न्यायोचित ठहराता है, किंतु वह प्रेरणाको अवचेतन रूपमें ग्रहण करता है; अतएव, लोग सोचते हैं कि वे तर्क-संगत व्यवहार कर रहे हैं।

२६० —— तर्कका एक ही कार्य है, इंद्रिय-बोधोंको व्यवस्थित ढंगसे रखना और उनकी आलोचना करना। उसके अपने अंदर न तो प्रत्यक्ष निष्कर्षका कोई साधन है, न कार्य करनेका आदेश। जब वह सोचता है कि वह मौलिक रूपसे किसी वस्तुको चला रहा है, तो वह अन्य साधनोंपर पर्दा डाल रहा होता है।

२६१ —— जबतक तुममें 'प्रज्ञा' न उत्पन्न हो, तबतक तर्कका प्रयोग करो, उसके ईश्वर-प्रदत्त प्रयोजनके लिये, इसी प्रकार विश्वास और सहज प्रवृत्तिको भी उनके प्रयोजनोंके लिये। अपने विभिन्न अंगोंको परस्पर लड़ाते क्यों हो?

स्नेहमयी मां, सामान्य जीवन और आध्यात्मिक जीवनमें तर्क, श्रद्धा, और सहजप्रवृत्तिका सबसे बड़ा प्रयोजन क्या है?

प्रत्येकका अपने स्वभावके अनुसार अपना प्रयोजन होता है; वह उस लक्ष्यपर निर्भर है जिसे व्यक्ति अपने सामान्य जीवनमें प्राप्त करना चाहता है।

जहांतक आध्यात्मिक जीवनका प्रश्न है, उसका केवल एक ही उद्देश्य है: भगवान्‌को जानना और उसके साथ संयुक्त होना; इसमें सभी साधन प्रयुक्त किये जा सकते हैं, विशेषतया विश्वास, जो निश्चित ही नए जिज्ञासुओंके लिये अत्यधिक शक्तिशाली रूपमें प्रेरणारूप होता है।

३१-१२-६९

२६२ — सदा अपने उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वस्तु-बोधके प्रकाशमें देखो और कार्य करो, पर यह बोध केवल तर्क करनेवाले मस्तिष्कका न हो। जब मस्तिष्क भगवान्‌को नहीं समझ सकता तो वे हृदयके साथ बात करते हैं।

२६३ — यदि तुम्हारा हृदय तुम्हें कहे कि कोई बात इस प्रकार, इन साधनोंके द्वारा और इस समय होगी तो उसमें विश्वास न करो। किंतु यदि वह तुम्हें भगवान्‌के आदेशके रूपमें पवित्रता और विशालताका आभास दे तो उसकी बात सुनो।

२६४ — जब तुम्हें आदेश मिले तो उसको माननेमें ही अपनी सारी शक्ति लगा दो। बाकी सब भगवान्‌की इच्छा और व्यवस्थापर छोड़ दो, इन्हें ही लोग संयोग, दैव और भाग्य कहते हैं।

स्पष्ट ही, मनकी नीरवतामें ही व्यक्ति भागवत आदेशको जान सकता है। जाननेकी सच्ची विधि शब्दों और विचारोंसे परे है।

ऐसा होनेपर सब कुछ बड़ा स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति भागवत आदेशको पहले जान लेता है और उसका वर्णन करनेवाले शब्द पीछे आते हैं।

१-१-७०

२६५ — यदि तुम्हारा लक्ष्य महान् हो और साधन छोटे, तो भी कार्य करते रहो, कारण कर्मके द्वारा ही ये बढ़ सकते हैं।

२६६ — समय और सफलताकी चिंता न करो। अपनी भूमिका निभाते रहो, चाहे उसमें सफलता मिले या असफलता।

२६७ — आदेश तीन रूपोंमें आ सकता है, तुम्हारी प्रकृतिका संकल्प और विश्वास, तुम्हारा आदर्श जिसे तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क स्वीकार करते हैं और भगवान् और उसके देवदूतोंकी आवाज।

२६८ — कई ऐसे समय होते हैं जब कार्य करना बुद्धिमानी-का काम नहीं होता या उसे करना संभव ही नहीं होता; तब तुम एकांत स्थानमें जाकर या अपनी आत्माके एकाकीपन-में बैठकर तपस्या करो और भगवान्‌के आदेश अथवा उनके प्रकट होनेकी प्रतीक्षा करो।

२६९ — सभी आवाजोंके आदेशपर ही एकदमसे कूद मत पड़ो, क्योंकि तुच्छ सत्ताएं तुम्हें ठगनेके लिये उतावली बैठी हैं, अपना हृदय पवित्र रखो और फिर सुनो।

सच ही, यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक आवाजको भगवान्‌की आवाज नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार किसी ठगके आदेशको मानकर व्यक्ति खतरेमें पड़ जायगा। एकमात्र सुरक्षा समस्त व्यक्तिगत इच्छाके पूर्ण अभावमें है, भगवान्‌की सेवा करने और पूर्ण शांतिमें निवास करनेकी इच्छा भी वहां नहीं होनी चाहिये। केवल तभी व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धिपर भरोसा रख सकता है।

३-१-७०

२७० — कुछ ऐसे समय होते हैं जब ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् कठोरतापूर्वक भूतकालको प्रश्रय दे रहे हैं; तब जो कुछ हो चुका है और है, वह मानों सिंहासनपर जमकर बैठ जाता है और अटल वाणीका बाना पहनकर कहता है: "मैं रहूंगा ही।" तब भी डटे रहो, चाहे तुम्हें ऐसा लगे भी कि तुम सर्वेश्वरसे लड़ाई कर रहे हो। कारण, यह उसकी सबसे अधिक तीखी परीक्षा है।

२७१ — मानवी रूपसे किसी कार्यमें असफलता या निराशाके हाथ लगनेसे बात समाप्त नहीं होती, स्थिरता केवल तब आती है जब आत्मा प्रयत्नका त्याग कर देती है।

इसका प्रयोजन हमें इस बातके लिये उत्साहित करना है कि हम बाह्य प्रतीतियोंसे प्रभावित हुए बिना अपने प्रयत्नमें लगे रहें, भले ही ऐसा प्रतीत हो कि कोई परिणाम नहीं आ रहा।

जीवनमें हमें वही करना चाहिये जो हमारे बोधको करने योग्य सच्ची वस्तु प्रतीत हो, चाहे दूसरे लोग हमारी कितनी भी आलोचना करें या हमारी हंसी उड़ायें। कारण, लोगोंके मतका कुछ मूल्य नहीं है, केवल भागवत इच्छा ही सच्ची है और उसीकी विजय होगी।

४-१-७०

२७२ — जो व्यक्ति उच्च आध्यात्मिक पदवियां प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अनंत कसौटियों और परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होना होगा। किंतु अधिकांश व्यक्ति तो केवल परीक्षकोंको घूस देनेको ही उत्सुक रहते हैं।

२७३ — जबतक तेरे हाथ मुक्त हैं, तबतक अपने हाथोंसे, वाणी और मस्तिष्कसे, सभी प्रकारके शस्त्रोंसे युद्ध करता रह। क्या तू अपने शत्रुकी कालकोठरीमें बंधा पड़ा है? क्या उसने तेरे मुखमें कपड़ा ठूंसकर तुझे चुप करा दिया है? अपनी मूक सर्वाक्रामक आत्मा और विशाल संकल्प-शक्तिसे युद्ध कर और जब तू मृत्युको प्राप्त हो जाय तब भी तू उस विश्वव्यापी शक्तिके साथ युद्ध करता रह जो तेरे अंदर स्थित भगवान्से प्रकट हुई थी।

सत्य एक कठिन और आयासपूर्ण विजय है। इस विजयको प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिको सच्चा योद्धा बनना होगा, एक ऐसा योद्धा जिसको किसीका भय न हो, न शत्रुका न मृत्युका। कारण, यह संघर्ष सारे संसारके विरुद्ध, शरीरमें या शरीरके बिना भी, चलता रहेगा और उसका अंत विजयमें ही होगा।

६-१-७०

२७४ — तू सोचता है कि अपनी गुहामें या पर्वतकी चोटीपर बैठा संन्यासी एक पत्थरके समान निठल्ला बैठा है। तुझे क्या पता? वह शायद संसारको अपनी संकल्प-शक्तिकी धाराओं-से प्लावित कर रहा हो तथा अपनी आत्माकी अवस्थाके दबावसे उसमें परिवर्तन ला रहा हो।

२७५ — जिस वस्तुको ये मुक्त व्यक्ति पर्वतकी चोटीपर बैठे अपनी आत्मामें देखते हैं उसे योद्धा और पैगंबर भौतिक जगत्‌में उद्‌घोषित एवं क्रियान्वित करनेको आगे आ जाते हैं।

२७६ — ब्रह्मविद्यावादी अपने कथनमें गलत होते हैं पर साररूपमें वे ठीक होते हैं। फ्रेंच क्रांतिका कारण यह था कि भारतकी हिममंडित चोटियोंपर बैठी आत्माने भगवान्‌की स्वतंत्रता, भ्रातृत्व और समानताके रूपमें कल्पना की थी।

यह केवल इस बातका द्योतक है कि आत्माकी शक्ति सभी भौतिक शक्तियोंसे बहुत बड़ी है। किंतु लक्ष्य-सिद्धिके लिये दोनोंकी आवश्यकता है।

७-१-७०

२७७ — समस्त वाणी और कर्म शाश्वत 'नीरवता'से तैयार होकर निकलते हैं।

२७८ — 'सागर'की गहराइयोंमें कोई हलचल नहीं होती, किन्तु ऊपरी तलपर उसके कोलाहल और किनारेसे टकराहटका आनंददायी शोर होता रहता है; प्रचंड कार्यके बीच वास करनेवाली मुक्त आत्माकी भी यही बात होती है। आत्मा कार्य नहीं करती; वह केवल अपने अंदरसे प्रचंड कार्यकी प्रेरणाको निस्सारित करती है।

यह बात भी हमें यही बताती है कि कार्यका उद्‌गम उसीमें प्रकट हुई 'चेतना' और 'शक्ति' के अंदर होता है जो भौतिक रूपमें कार्यरत सत्ताओंसे बिलकुल भिन्न होती हैं, जब कि ये सत्ताएं अज्ञानवश सोचती हैं कि स्वयं वे ही कार्य कर रही हैं।

८-१-७०

२७९ —— ओ भगवान्‌के सिपाही और योद्धा, तेरे लिये यह दुःख, कष्ट और लज्जा क्यों? कारण तेरा जीवन तो एक गौरव है, तेरे कार्य आत्मा-निवेदन हैं, विजय तेरा देवत्व और पराजय तेरी जीत है।

जो व्यक्ति भगवान्‌के प्रति पूर्णतया आत्म-निवेदित है, उसके लिये न कष्ट है न लज्जा, क्योंकि भगवान् सदा उसके साथ हैं और उनकी उपस्थिति सभी वस्तुओंको गौरवपूर्ण बना देती है।

९-१-७०

२८० —— क्या तुम्हारे निम्न अंग अभी भी पाप और शोकका आघात अनुभव करते हैं? किंतु ऊपर चाहे वे देखें या न देखें तेरी आत्मा राजसी ठाठमें विद्यमान है, शांत, मुक्त और विजेताके गौरवसे परिपूर्ण। निश्चय रख कि अंत आनेसे पहले ही भगवती मां अपने कार्यको कर लेंगी और तेरी सत्ताके उपादानको आनंद और पवित्रतासे परिपूर्ण कर देंगी।

२८१ —— यदि तेरा हृदय दुःखी है, यदि बहुत समयसे तूने कुछ भी प्रगति नहीं की है, यदि तेरी शक्ति शिथिल और निस्तेज हो गयी है, तो हमेशा हमारे प्रेमी प्रभुका यह शाश्वत शब्द याद रख: "मैं तुझे समस्त पाप और अशुभसे मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर।"

जिसे श्रीअरविन्द यहां आत्मा कहते हैं वह हममेंसे प्रत्येकमें उपस्थित भागवत उपस्थिति है; और हमारे अंदरकी इस उपस्थितिकी सुनिश्चितिको हमें अंतिम अनिवार्य विजयका विश्वास दिलाते हुए हमारे सब दुःख-दर्दमें सांत्वना देनी चाहिये।

१०-१-७०

२८२ —— पवित्रता तेरी आत्मामें विद्यमान है; किन्तु कार्योंमें पवित्रता या अपवित्रताका प्रश्न कहां?

श्रीअरविन्द पवित्रता शब्दको सामान्य नैतिक अर्थ नहीं देते। उनके लिये "पवित्रता" का अर्थ है "पूर्णतया भगवान्‌के प्रभावके तले" होना तथा भगवान्‌को ही अभिव्यक्त करना।

इस समय, पृथ्वीपर जो भी कार्य हो रहे हैं, उनके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता।

१२-१-७०

२८३ — ओ मृत्यु, हमारी प्रच्छन्न मित्र एवं अवसरोंकी निर्मात्री, जब तू द्वार खोलने लगे तो हमें पहलेसे ही सूचित करनेमें संकोच न करना; कारण, हम उन लोगोंमेंसे नहीं हैं जो लौह कपाटकी चरमराहटसे भयभीत हो जाते हैं।

२८४ — मृत्यु कभी-कभी एक धृष्ट दासके समान होती है, किंतु जब वह पृथ्वीके इस वेषको एक चमकीली पोशाकमें बदल देती है तो उसकी इस चालाकी और धृष्टताको क्षमा किया जा सकता है।

२८५ — ओ अमर आत्मा, तुझे कौन मार सकता है? तुझे कौन सता सकता है, ओ शाश्वत आनंदपूर्ण देव!

आरंभसे ही मृत्युके आस-पास इतना शोक क्यों मंडराता रहता है?

शोकका कारण मनुष्यका अज्ञान और अहंभाव होता है। किंतु इस शोककी भी मनुष्यजातिके विकासमें अपनी भूमिका रही है।

१३-१-७०

मानवजातिके विकासमें शोकने कौन-सी भूमिका की है?

शोक, कामना, कष्ट, महत्त्वाकांक्षा और इसी प्रकारकी भावनाओं और वेदनों-संबंधी अन्य सभी प्रतिक्रियाएं चेतनाको अचेतनामेंसे उद्‌भूत होने तथा फिर इस चेतनामें प्रगतिकी प्रबल इच्छाको जागृत करनेमें सहायता पहुंचाती हैं।

१४-१-७०

श्रीअरविन्द हमसे कहते हैं कि सभी परिस्थितियोंमें प्रेमको प्रक्षिप्त करते रहना ही देवत्वका लक्षण है, वह उसे भी प्यार करता है जो उसे थप्पड़ मारता है और उसे भी जो उसकी उपासना करता है — कैसा पाठ है यह मानवजातिके लिये !

१७-१-७०

२९१ — जो लोग तुम्हें नुकसान पहुंचाते हैं उन्हें क्षमा करना भला कार्य है, किंतु दूसरोंको हानि पहुंचानेवालेको क्षमा करना भला नहीं है। तो भी उन्हें क्षमा कर दो, किंतु जब आवश्यकता पड़े तो शांतिपूर्वक बदला भी ले लो।

२९२ — जब एशियावासी किसीका वध करते हैं तो वह क्रूरता कहलाती है; जब यूरोपीय ऐसा करते हैं तो सामरिक आवश्यकता। इस भेदको समझो और संसारकी अच्छाइयोंके ऊपर विचार करो।

यह सब हमें गहराईसे यह अनुभव करनेको बाध्य करता है कि मनुष्यके ऐसे निर्णय जो स्वार्थ और अहंभावकी प्रतिक्रियाओंपर आधारित होते हैं, कितने मूर्खतापूर्ण हैं।

जबतक मनुष्य अज्ञानकी अवस्थामें निवास करता है, जिसमें कि आजकल वह है, तबतक उसके मतों और निर्णयोंका सत्यके सामने कुछ मूल्य नहीं होता, इन्हें ऐसा ही समझना भी चाहिये।

२०-१-७०

२९३ — अत्यधिक जोशीली पुण्यात्माओंकी ओर जरा ध्यानसे दृष्टि डालो। शीघ्र ही तुम देखोगे कि जिस दोषकी वे इतने जोर-शोरसे निन्दा करते थे उसीको वे या तो स्वयं कर रहे हैं या उसकी ओरसे बेखबर हैं।

२९४ — "मनुष्यमें सचमुचका पाखंड बहुत ही कम होता है।" यह सत्य है, किंतु उनमें कूटनीति काफी है और इससे भी अधिक है आत्म-प्रवंचना। यह आत्म-प्रवंचना तीन प्रकारकी

२८६ — जब तेरी सत्ताके निम्न अंग निराशा और दुर्बलताके वशमें होने लगें तो यह सोच: "मैं 'बाकस', 'एरस' और 'अपोलो' हूं, मैं पवित्र अग्नि हूं और अजेय हूं; मैं सदा प्रचंड रूपसे प्रज्ज्वलित रहनेवाला सूर्य हूं।"

२८७ — अपने अंदरकी डायनिसियन पुकार और हर्षातिरेकसे पीछे न हट, किंतु इसका भी ख्याल रख कि कहीं तू लहरोंपर डूबता-उतराता तिनका ही न बन जाय।

२८८ — तुझे अपने अंदरके सभी देवताओंको सहना सीखना होगा, न उनके आक्रमणसे तुझे लड़खड़ाना है और न उनके बोझके नीचे टूट ही जाना है।

यह मनुष्यको यह सिखानेके लिये है कि उसे विभिन्न धर्मोंके देवताओंसे न तो अभिभूत हो जाना है न उनसे डरना है, क्योंकि मनुष्य, मानवसत्ता होनेके कारण, अपने अंदर सर्वोच्च प्रभुके साथ संयुक्त होने तथा उसके प्रति सचेतन होनेकी संभावना लिये रहता है।

१५-१-७०

२८९ — मानवजातिने शक्ति और आनंदसे तंग आकर शोक और दुर्बलताको एक गुण कहा, ज्ञानसे तंग आकर अज्ञानको शुद्धता कहा, प्रेमसे तंग आकर हृदयहीनताको विवेक और बुद्धिमत्ताका नाम दिया।

२९० — सहनशीलता कई प्रकारकी होती है। मैंने एक कायर देखा जिसने प्रहार करनेवालेके आगे अपना गाल कर दिया। मैंने एक ऐसे निःशक्त व्यक्तिको भी देखा जो एक बलवान् और अहंकारी गुंडेसे मार खाकर अपने आक्रमणकर्ताकी ओर चुपचाप ताकता रह गया; मैंने एक अवतारी देवताको देखा जो अपनेपर पत्थरकी वर्षा करनेवालोंकी ओर प्रेमपूर्वक निहारता रहा। पहला उपहासके योग्य था, दूसरा भयंकर एवं तीसरा दिव्य और पावन।

होती है : चेतन, अवचेतन और अर्ध-चेतन; किंतु इनमेंसे तीसरी बहुत भयावह है।

स्नेहमयी मां, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि चेतन आत्म-प्रवंचना सबसे अधिक बुरी है, क्या यह ठीक नहीं है?

चेतन आत्म-प्रवंचना विरले ही देखनेमें आती है, क्योंकि इसका अर्थ है चेतनाका विपुल विकास जिसका संबंध धोखा देनेवाली विरोधी इच्छासे जुड़ा होता है। यह फिर अत्यधिक भयानक झूठोंको जन्म देती है; किंतु इसका इलाज भी शायद सबसे अधिक सरल है। क्योंकि चेतना पहलेसे ही जाग्रत होती है, उसे केवल उसकी गलतीके प्रति सचेतन करना और उस गलतीको दूर करनेका निर्णय लेना ही काफी है क्योंकि उसमें ऐसा करनेकी शक्ति मौजूद होती है।

औरोंको पहले अपनी क्रियाओंके प्रति सचेतन होना पड़ता है और इसमें सामान्यतया काफी समय लगता है।

२१-१-७०

२९५ — लोगोंके अपने गुणोंके प्रदर्शनसे धोखा मत खाओ, न ही उनके प्रत्यक्ष या गुप्त दोषोंके लिये उनसे घृणा करो। ये वस्तुएं तो मानवजातिके लंबे संक्रमणकालमें आवश्यक परिवर्तन हैं।

२९६ — संसारकी कुटिलताके प्रति विरक्ति न दिखाओ; संसार एक घायल और विषधर नाग है जो निश्चित रूपसे अपनी केंचुली उतारने और पूर्णताकी ओर बढ़नेके लिये संघर्ष कर रहा है। थोड़ी प्रतीक्षा करो, यह भगवान्‌का एक दांव है; और फिर इसी निम्न अवस्थामेंसे भगवान् देदीप्यमान और विजयी होकर प्रकट होंगे।

श्रीअरविन्द हमें बताते हैं कि मनुष्य संक्रमणकालका प्राणी है और यह भी कि संसारकी सभी बुराइयोंमेंसे एक ऐसी प्रकाशपूर्ण सत्ता उत्पन्न होगी जो भगवान्‌को अभिव्यक्त कर सकेगी।

अतएव, जो लोग संसारके वर्तमान स्वरूपसे संतुष्ट नहीं हैं, वे सब यह

जानते हैं कि उनकी अभीप्सा निष्फल नहीं जायगी और यह भी कि संसार बदल रहा है।

यदि आत्म-निवेदन और प्रयत्न भी अभीप्साके साथ जुड़ जायें तो कार्य अधिक शीघ्रतासे होगा।

२२-१-७०

२९७ — बाह्य आवरणसे क्यों विरक्त होते हो ? इसकी घृणित, अहंगत अथवा भयानक प्रतीतियोंके पीछे श्रीकृष्ण तुम्हारे मूर्खतापूर्ण क्रोधपर और इससे भी अधिक तुम्हारी मूर्खतापूर्ण घृणा या विरक्तिपर तथा सबसे अधिक तुम्हारे मूर्खतापूर्ण आतंकपर हंस रहे हैं।

२९८ — जब तुम किसी दूसरेका तिरस्कार कर रहे होते हो तो तुम अपने हृदयकी ओर देखो और अपनी मूर्खतापर हंसो।

क्या हमारी अपनी मानसिक धारणा ही वस्तुओंको घृणित या अरुचिकर समझती हैं या क्या ये सचमुचमें वैसी हैं जैसा व्यक्ति उन्हें देखता है ?

तो फिर यही बात सौंदर्यपर भी लागू होनी चाहिये, है न ?

यह निश्चित है कि भौतिक जगत्की वर्तमान अवस्थामें बाह्य प्रतीतियां अभी-तक बहुत भ्रमोत्पादक हैं, भौतिक सुन्दरता सदैव एक सुन्दर आत्माका चिह्न नहीं होती, उधर एक कुरूप या बेडौल शरीर भी एक प्रतिभावान् और ज्योतिपूर्ण आनंदका धारक हो सकता है।

किंतु जिस मनुष्यमें आंतरिक वेदनशीलता अधिक होती है, उसे बाह्य प्रतीतियां धोखा नहीं दे पातीं और वह एक सुन्दर मुखमें छुपी कुरूपताको और एक कुरूप बाह्य आवरणके पीछे स्थित सौंदर्यको भी देख सकता है।

ऐसे उदाहरण भी हैं — इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है — जिनमें बाह्य प्रतीति उस आंतरिक सत्यताको उजागर कर देती है जो पीछे सबकी दृष्टिमें आ जाती है।

२३-१-७०

२९९ — व्यर्थके झगड़ेसे बचो; किंतु विचारोंका आदान-प्रदान स्वतंत्रतापूर्वक करो। यदि झगड़ना ही हो तो अपने विरोधी-से कुछ सीखो; कारण, एक मूर्खसे भी तुम बुद्धिमानीकी बातें सीख सकते हो, पर केवल तभी जब कि तुम अपने कानों या तर्कशील मनसे न सुनकर आत्माके प्रकाशमें उसकी बात सुनो।

३०० — सभी वस्तुओंको मधुरताकी ओर मोड़ दो; यही दिव्य जीवनका नियम है।

३०१ — निजी झगड़ेसे सदैव बचना चाहिये; किंतु सार्व-जनिक लड़ाईसे पीछे न हटो; किंतु वहां भी अपने शत्रुकी शक्तिका मूल्य अवश्य आंक लो।

३०२ — जब तुम किसी ऐसी सम्मतिको सुनते हो जो तुम्हें नापसंद हो, तो भी उसकी गहराईमें जाकर उसमें निहित सत्यको ढूंढो।

यदि व्यक्ति सच्चे दिलसे 'सत्य' के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे यह जान लेना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु उसे कुछ सिखा सकती है। प्रत्येक क्षण उसके सामने प्रगतिकी संभावना रहती है। प्राय: एक बड़ी मूर्खता ही तुम्हारे सामने महान् प्रकाशको प्रकट कर देती है। पर ऐसा तभी होता है जब व्यक्ति उसे देखना जाने।

२४-१-७०

३०३ — मध्यकालीन संन्यासी स्त्रियोंसे घृणा करते थे और यह सोचते थे कि उन्हें भगवान्‌ने साधु-संतोंको लुभानेके लिये ही बनाया है। हमें भगवान् तथा स्त्रीके विषयमें अधिक अच्छे विचार रखने चाहिये।

३०४ — यदि किसी स्त्रीने तुम्हें लुभाया है तो यह उसका दोष है या तुम्हारा? मूर्ख और आत्म-प्रवंचक मत बनो।

३०५ — स्त्रीके जालसे बचनेके दो ढंग हैं, एक है सभी स्त्रियोंका बहिष्कार करना और दूसरा सभी प्राणियोंसे प्रेम करना।

सामान्य जीवनमें आधुनिक स्त्रीका आदर्श क्या होना चाहिये ?[1]

सामान्य जीवनमें स्त्रियोंके, जो भी वे चाहें, आदर्श हो सकते हैं। इसका कोई अधिक महत्त्व नहीं है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे पुरुष और नारी, दोनों ही, भगवान्‌को प्राप्त करनेकी संभावनामें समान हैं, पर प्रत्येकको यह कार्य अपने ढंगसे, और अपनी संभावनाओंके अनुसार करना है।

२५-१-७०

३०६ — वैराग्य निस्संदेह बड़ा सुखकारी होता है, गुफा बहुत शांतिप्रद होती है और पर्वतकी चोटियां अद्‌भुत रूपसे आनंददायक ! फिर भी तुम संसारमें वही करो जो भगवान् तुमसे करवाना चाहते हैं।

श्रीअरविन्द हमें बताते हैं कि व्यक्ति त्यागके कारण नहीं अपनी रुचिके अनुसार वैरागी हो सकता है। इस प्रकार वे हमें समझाते हैं कि भगवान्‌का सेवक बनना और केवल उन्हींकी इच्छानुसार कार्य करना सभी व्यक्तिगत अभिरुचिसे कहीं अधिक श्रेष्ठ है, चाहे उसकी अभिरुचि कितनी ही साधु-संतों जैसी क्यों न प्रतीत हो।

२६-१-७०

३०७ — भगवान् शंकरपर तीन बार हंसे, पहले तब, जब वे अपनी मांका दाहसंस्कार करनेके लिये लौटे, फिर तब, जब उन्होंने ईश उपनिषद्‌की टीका की और तीसरी बार तब, जब वे

---

[1] बादमें माताजीने यह भी कहा था कि सामान्य जीवनमें स्त्रियोंका आदर्श "अच्छा स्वास्थ्य और सामंजस्य है"।

भारतभरमें अकर्मण्यताके प्रचारके लिये गरजते फिरे।[1]

भगवान् हंसे जब कि इस व्यक्तिने, जो अपने-आपको बहुत बुद्धिमान् समझता था, प्रचलित रीति-रिवाजोंका पालन किया, व्यर्थकी बातें लिखीं और अकर्मण्यताके प्रचारके लिये अत्यधिक क्रियाशीलताका उदाहरण रखा।

२७-१-७०

३०८ — लोग सफलताके पीछे दौड़-धूप करते हैं और यदि उन्हें असफल होनेका सौभाग्य प्राप्त होता है तो इसलिये कि प्रकृतिकी बुद्धिमत्ता और शक्ति उनकी बौद्धिक कुशलताको दबा देती हैं। केवल भगवान् ही यह जानते हैं कि कब और कैसे बुद्धिमत्तापूर्वक गलती की जाय और फलप्रद रूपमें असफल हुआ जाय।

३०९ — जो व्यक्ति कभी असफल न हुआ हो या जिसने कभी कष्ट न झेला हो, उसपर विश्वास मत करो; उसकी समृद्धिके पीछे मत चलो, न ही उसके झंडे तले युद्ध करो।

३१० — दो हैं जो महानता और स्वाधीनताके अयोग्य होते हैं, एक तो वह मनुष्य जो कभी किसीका दास नहीं रहा और दूसरा वह राष्ट्र जो कभी विदेशी जूए तले नहीं रहा।

कुछ ऐसे आवश्यक गुण होते हैं जो केवल कष्ट और कठिनाईमेंसे गुजरनेके बाद ही विकसित हो सकते हैं। लोग अज्ञानवश इनसे पीछे हटते हैं, किंतु परम प्रभु इन्हें उन लोगोंपर डालते हैं जिन्हें उन्होंने पृथ्वीपर अपना प्रति-

---

[1]शंकर (७८८-८२०) का सिद्धांत यह था कि संसार एक भ्रान्ति है। संन्यासी होनेके कारण उन्होंने संसारके बंधनोंका त्याग तो कर दिया था पर वह त्याग उन्हें भारतीय रीतिके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र होनेके कारण मांका अंतिम संस्कार करनेसे रोक न सका। ईश उपनिषद्की टीका करते समय उन्होंने उसके वास्तविक अर्थका अनर्थ करके अपने मायावादके सिद्धांतको सच्चा बताया था जब कि ईश उपनिषद् भगवान् और कर्मकी वास्तविकता-को सिद्ध करता है।

निधित्व करनेके लिये चुना है ताकि उनका विकास तेजीसे हो सके—क्योंकि भगवान् ही सर्वोच्च प्रज्ञा हैं।

२८-१-७०

३११—अपने आदर्शकी पूर्तिके लिये कोई समय या विधि निश्चित न करो। कार्य करो और समय एवं विधि उस सर्वज्ञ भगवान्पर छोड़ दो।

३१२—कार्य इस प्रकार करो मानों आदर्शकी पूर्ति शीघ्र ही, तुम्हारे जीवन-कालमें ही होनी है। काममें ऐसी दृढ़तासे लगे रहो मानों तुम जानते हो कि यह एक हजार वर्षके परिश्रमके बाद ही संपन्न होगा। जिस कार्यके होनेकी तुम पांच हजार वर्षसे पहले आशा नहीं कर सकते वह कल प्रभातसे पहले भी संपन्न हो सकता है और जिसकी तुम अभी आशा और चाहना कर रहे हो वह शायद तुम्हारे सौवें जन्ममें ही हो।

रूपांतरके विषयमें हम सबकी यही मनोवृत्ति होनी चाहिये; वही उत्साह और वही लगन हो मानों हमें इसे अपने वर्तमान जीवनमें प्राप्त कर लेनेका विश्वास हो और वही धैर्य और वही सहनशीलता हो मानों इसे चरितार्थ करनेमें कई शताब्दियोंकी आवश्यकता पड़ेगी।

२९-१-७०

३१३—हममेंसे प्रत्येकको अभी पृथ्वीपर लाखों जीवन धारण करने हैं। तब यह हड़बड़ी, कोलाहल और अधैर्य क्यों?

३१४—शीघ्रतासे डग बढ़ाओ, क्योंकि लक्ष्य दूर है। बिना आवश्यकता विश्राम मत करो; क्योंकि तुम्हारे प्रभु तुम्हारी यात्राके अन्तमें तुम्हारी बाट जोह रहे हैं।

यहां भी, सदाकी भांति श्रीअरविंद प्रश्नके सभी पहलुओंको देखते

हैं। उत्तेजित व्यक्तिको शांति और धैर्यका पाठ पढ़ाते हुए आलसियोंको झकझोरकर उत्साहकी शिक्षा देते हैं, विरोधी पक्षोंके मिलनमें ही सच्ची बुद्धिमत्ता और पूर्ण सामर्थ्यकी प्राप्ति हो सकती है।

३०-१-७०

३१५ — मैं उस बचकाने अधैर्यसे ऊब उठा हूं जो आदर्शको इस कारण नकारता, अस्वीकार करता एवं उसकी निन्दा करता है क्योंकि हम अपने छोटे-से जीवन या कुछ शताब्दियोंमें स्वर्णिम चोटियोंतक नहीं पहुंच सकते।

३१६ — कामनामुक्त होकर अपनी आत्माको लक्ष्यपर स्थिर रखो और अपने अन्दरकी भागवत शक्तिकी सहायतासे उसीपर दृढ़ रहो; और तब स्वयं लक्ष्य ही साधनको उत्पन्न करेगा; नहीं, वह अपना साधन आप बन जायगा। कारण, लक्ष्य स्वयं ब्रह्म है और वह साधित हो भी चुका है; उसे सदा ब्रह्मके रूपमें देखो, उसे सदा अपनी आत्मामें साधित हुआ ही देखो।

निश्चय ही हम उस शाश्वत यात्राके दैवी लक्ष्यको अपनी आत्मामें ही लिये रहते हैं और हमारी व्यक्तिगत अक्षमता ही वह चीज है जो इसके प्रति हमारे चेतन होनेमें बाधा पहुंचाती है।

परम प्रभु (ब्रह्म)के प्रति संपूर्ण एवं बिना शर्त समर्पण एक अद्भुत वस्तु है और इस अक्षमतासे छुटकारा पानेका एकमात्र साधन।

१-२-७०

३१७ — बुद्धिकी सहायतासे योजनाएं मत बनाओ, अपने लिये योजनाएं बनानेका कार्य अपनी दैवी दृष्टिपर छोड़ दो। जब कोई साधन तुम्हारे सामने किसी करणीय कार्यके रूपमें आता है, तो उसे अपना लक्ष्य बना लो; जहांतक लक्ष्यका संबन्ध है वह संसारमें तो अपने-आपको साधित कर रहा है और तुम्हारी आत्मामें साधित हो चुका है।

३१८ — लोग घटनाओंको इस प्रकार लेते हैं मानों वे चरितार्थ नहीं हुई हैं और उन्हें साधित करनेके लिये अभी प्रयत्न करना है। देखनेका यह ढंग गलत है। घटनाएं साधित नहीं होतीं, विकसित होती हैं। कार्य ब्रह्म है, वह पहलेसे पूरा हो चुका है, अब वह केवल अभिव्यक्त हो रहा है।

यह बात ऐसे कही जा सकती है : सब कुछ सनातन कालसे चला आ रहा है, हम ही इस तथाकथित भौतिक जगत्‌में उसके प्रति उत्तरोत्तर सचेतन होते हैं।

वस्तुओंको इस प्रकारसे देखने तथा उनके विषयमें बात करनेका यह ढंग सामान्य मनुष्यकी चेतनासे बिलकुल उल्टा है।

२-२-७०

३१९ — जिस प्रकार तारेके अस्तित्वके समाप्त होनेके सैकड़ों वर्षों बाद उसका प्रकाश पृथ्वीतक पहुंचता है उसी प्रकार जो घटना शुरूमें ही ब्रह्ममें घट चुकी है वह हमारे भौतिक अनुभवमें अब दृष्टिगोचर होती है।

हां, किंतु ब्रह्मकी यह इच्छा कि हम घटनामें हस्तक्षेप करें यह उसी पुराने क्षणकी बात है और इनके बीचका संबंध भी वही रहता है। अतएव, महत्त्वपूर्ण बात केवल यह है कि व्यक्तिगत आवेगके वश काम न करो, ब्रह्मसे मिले आदेशानुसार करो।

४-२-७०

३२० — सरकार, समाज, राजा, पुलिस, न्यायाधीश, संस्था, धर्म-मन्दिर, नियम-कानून, रीति-रिवाज, सैन्य-सामंत आदि सभी चीजें सामयिक आवश्यकताएं हैं जो हमारे ऊपर कुछ शताब्दियोंके लिये लादी गयी हैं, क्योंकि भगवान्‌ने हमसे अपना मुंह छिपा लिया है। जब वह फिर अपने सत्य-स्वरूप तथा सौन्दर्यके साथ हमारे सामने प्रकट होंगे तब उस प्रकाशमें ये सब चीजें विलीन हो जायेंगी।

३२१ —— जैसे आरंभमें, वैसे ही अन्तमें, अराजक स्थिति ही मनुष्यकी सच्ची दिव्य स्थिति है; पर मध्यवर्ती कालमें वह हमें सीधे शैतान और उसके राज्यकी ओर ले जाती है।

प्रत्येकका स्वयं अपने लिये शासन ही अराजकता है।

पूर्णशासन तभी बनेगा जब प्रत्येक अपने अंदर स्थित भागवत सत्ताके प्रति सचेतन होकर उसकी और केवल उसीकी आज्ञा मानेगा।

५-२-७०

३२२ —— समाज-सम्बन्धी साम्यवादी सिद्धान्त मूलतः व्यक्तिवादसे उतना ही श्रेष्ठ है जितना भ्रातृत्व-भाव ईर्ष्या तथा पारस्परिक मार-काटसे श्रेष्ठ है; परन्तु यूरोपमें आविष्कृत समाजवादकी जितनी भी व्यावहारिक योजनाएं हैं वे सभी एक प्रकारका जुआ, अत्याचार और कारागार हैं।

३२३ —— यदि साम्यवाद (कम्यूनिजम) कभी सफलतापूर्वक पृथ्वीपर पुनः स्थापित हो तो उसे अन्तरात्माके भ्रातृभाव तथा अहंकारकी मृत्युकी नींवपर ही स्थापित होना होगा। बलपूर्वक स्थापित संघ और यांत्रिक साहचर्यका अन्त तो एक विश्वव्यापी विफलतामें ही होगा।

३२४ —— जीवनमें उपलब्ध वेदान्त ही साम्यवादी समाजके लिये एकमात्र व्यवहार्य आधार है। यही वह "साधूनां साम्राज्यम्" (सन्तोंका साम्राज्य) है जिसका स्वप्न ईसाई, मुस्लिम तथा पौराणिक हिन्दू धर्मने देखा था।

जैसा कि श्रीअरविंद हमें इतनी अच्छी तरह बताते हैं व्यक्तिवाद एक प्रकारकी न्यायसंगत ईर्ष्या है, अर्थात्, प्रत्येकका राज्य स्वयं अपने लिये है।

किंतु इसका वास्तविक उपचार एक ही है, उन परम प्रभुका संपूर्ण और व्यापक राज्य जो सभी प्राणियोंमें चेतन रूपमें उपस्थित है, बाकी संक्रमण कालकी सरकारें उनकी हों जो सचमुच उनके प्रति सचेतन तथा उन्हींकी इच्छाके प्रति पूर्णतया समर्पित हों।

७-२-७०

३२५ — फ्रांसके क्रान्तिकारियोंने "स्वाधीनता, समानता, और भ्रातृत्व" का मंत्रोच्चार किया, परन्तु यथार्थमें एक घूंट समानताके साथ केवल स्वाधीनताको ही लानेका प्रयास किया गया है। भ्रातृत्वका जहांतक सम्बन्ध है, केवल 'कॅन'[1]का भ्रातृत्व ही स्थापित किया गया — और फिर 'बाराब्बास'[2]का। कभी-कभी इसे "ट्रस्ट" या "व्यापारिक" संघ नाम दिया जाता है और कभी-कभी "यूरोपका एकत्व" कहा जाता है।

३२६ — यूरोपका उन्नत विचार घोषित करता है: "चूंकि स्वतंत्रता असफल हो गयी है, इसलिये आओ, हम समानतासहित स्वतंत्रताके लिये प्रयास करें, अथवा, चूंकि इन दोनोंको एक साथ जोड़ना कुछ कठिन है इसलिये स्वतंत्रताके बदले समानताका ही प्रयत्न करें। भ्रातृत्वका जहांतक प्रश्न है, वह तो असंभव है; अतएव हम उसके स्थानपर "औद्योगिक संघ" रखेंगे।" परन्तु इस बार भी, मैं समझता हूं, भगवान्‌को धोखा न दिया जा सकेगा।

अभीतक तो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व कोरे शब्द ही हैं जिन्हें बड़े जोर-शोरसे घोषित तो किया गया था किंतु जिन्हें अभीतक व्यवहार-में नहीं लाया गया है और ये तबतक व्यवहारमें लाये भी नहीं जा सकते जबतक मनुष्य वही बने रहेंगे जो अब हैं — केवल एकमेव सर्वोच्च एवं परम दिव्य सत्ताद्वारा शासित होनेकी जगह अपने अहंभाव और उसकी सभी इच्छाओंद्वारा शासित होते रहेंगे।

८-२-७०

३२७ — भारतमें सामाजिक जीवनके तीन गढ़ थे, ग्राम्य समाज, विशालतर सम्मिलित परिवार और संन्यासी-संप्रदाय। ये सब सामाजिक जीवन-सम्बन्धी अहंजन्य परिकल्पनाओंके पदचापसे भंग हो गये हैं या हो रहे हैं; परन्तु क्या, आखिर-

---

[1]कॅन — आदम और हौवाका पहला लड़का था जिसने अपने भाई एबेलको मार डाला था।

[2]बाराब्बास — एक डाकू था जिसका जिक्र बाइबिलमें आया है।

कार इन अपूर्ण सांचोंका टूटना केवल एक विशालतर और दिव्यतर समाजवादकी ओर जानेके लिये ही नहीं है?

३२८ — व्यक्ति तबतक पूर्ण नहीं हो सकता जबतक वह अभी जिसे "मैं" कहता है उसे संपूर्णतः भागवत सत्ताको समर्पित न कर दे। ठीक उसी तरह मानवजाति जो कुछ है वह सब वह जबतक भगवान्‌को नहीं दे देती तबतक पूर्णताप्राप्त समाजकी सृष्टि नहीं हो सकती।

श्रीअरविंद यहां एक स्पष्ट और निश्चित ढंगसे वही कह रहे हैं जिसे मैंने पहले व्यक्त करनेका प्रयत्न किया था: कोई भी पूर्णता तबतक प्राप्त नहीं की जा सकती जबतक परम प्रभुके शासनको सर्वत्र, सब वस्तुओं-में मान्यता एवं प्रतिष्ठा नहीं मिलती।

★

स्वाधीनता तभी अभिव्यक्त हो सकती है जब सब मनुष्य परम प्रभु-की स्वाधीनताको जान लेंगे।

समानता तभी अभिव्यक्त हो सकती है जब सब व्यक्ति परम प्रभुके प्रति सचेतन हो जायंगे।

और बंधुभाव तभी प्रकाशमें आयेगा जब सब मनुष्य यह अनुभव करने लगेंगे कि वे सभी परम प्रभुसे समान रूपमें उत्पन्न हुए हैं तथा उनके 'एकत्व'में सब एक हैं।

९-२-७०

३२९—भगवान्‌की नजरोंमें कोई चीज तुच्छ नहीं है; तेरी नजरोंमें भी कोई चीज तुच्छ न हो। भगवान् एक सीपीकी रचनामें भी दिव्य शक्तिका उतना ही श्रम प्रयुक्त करते हैं जितना कि एक साम्राज्यके गठनमें। तेरे लिये एक विलासी और अयोग्य राजा होनेकी अपेक्षा एक निपुण मोची होना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

३३० — जो कार्य तेरे लिये अभिप्रेत है उसमें अपूर्ण क्षमता

तथा अधूरा फल किसी कृत्रिम दक्षता एवं उधार ली हुई पूर्णतासे कहीं अधिक अच्छा है।

३३१ — कर्मका उद्देश्य फल नहीं है, बल्कि उद्देश्य है होने, देखने और करनेमें भगवान्‌का शाश्वत आनन्द।

यह बात स्पष्ट है कि कोई तराजू किसी कार्यकी महानताको नहीं नाप सकती, न ही उसकी पूर्णता किन्हीं बाह्य परिस्थितियों अथवा अवस्थाओंपर निर्भर है, वरन् उसका आधार होता है व्यक्तिके आत्म-निवेदन-की वह सच्चाई जिसके साथ वह कार्य करता है।

भगवान् हमसे जो करवाना चाहते हैं वही अपनी सत्ताके पूर्ण समर्पण-के भावमें करना — बस, यही है एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु; कार्यका बाह्य मूल्यांकन कुछ अर्थ नहीं रखता।

१०-२-७०

३३२ — भगवान्‌का जगत् बृहत्तर इकाईके ऊपर गंभीरतापूर्वक प्रयास करनेसे पहले अपेक्षाकृत छोटी इकाईको परिपूर्ण बनाते हुए एक-एक पग आगे बढ़ता है। यदि तू कभी संपूर्ण संसारको एक राष्ट्रका रूप देना चाहे तो सबसे पहले स्वतंत्र राष्ट्रीयताको स्थापित कर।

३३३ — एक ही रक्त, एक ही भाषा या एक ही धर्मसे कोई राष्ट्र नहीं बनता; ये सब केवल महत्त्वपूर्ण सहायक और शक्तिशाली सुविधाएं हैं। परन्तु जहां कहीं पारिवारिक बन्धनोंसे रहित मनुष्योंके समाज एक ही भाव और अभीप्सा रखकर अपने पूर्वजोंसे प्राप्त एक ही उत्तराधिकारकी रक्षा करनेके लिये या अपनी संततिके लिये एक जैसे भविष्यको प्रतिष्ठित करनेके लिये ऐक्यबद्ध होते हैं वहां, समझ लेना चाहिये कि, एक राष्ट्रका अस्तित्व पहलेसे ही विद्यमान है।

३३४ — राष्ट्रीयता परिवारकी अवस्थासे परे जानेवाले प्रगतिशील भगवान्‌का एक पदक्षेप है; अतएव एक राष्ट्रके उत्पन्न होनेसे पहले कुल और जातिकी आसक्तिको दुर्बल और नष्ट होना होगा।

इस प्रकार श्रीअरविंद हमें वह महान् राजनीतिक रहस्य बताते हैं जो प्राप्त किये जानेपर हमें समस्त राष्ट्रोंकी एकता तथा अंतमें मानव एकताकी ओर ले जा सकता है।

११-२-७०

३३५ — परिवार, राष्ट्र और मानवता पृथग्भूत एकत्वसे सामूहिक एकत्वकी ओर जानेके लिये विष्णुके तीन पग[1] हैं। इनमेंसे पहला चरितार्थ हो गया है, दूसरेकी पूर्णताके लिये अभी हम प्रयास कर रहे हैं, तीसरेकी ओर हम अपने हाथ फैला रहे हैं और पथ परिष्कृत करनेका प्रयास किया जा चुका है।

३३६ — मनुष्यजातिकी जो वर्तमान नैतिकता है उसकी सहायतासे एक सुदृढ़ तथा स्थायी एकत्वका निर्माण करना अभी संभव नहीं; परन्तु यह कोई कारण नहीं कि हम अपनी उत्कट अभीप्सा और अथक प्रयासके पुरस्कारस्वरूप अस्थायी रूपसे उसके समीप भी न पहुंच सकें। निरन्तर निकटवर्ती होते हुए, आंशिक उपलब्धियां प्राप्त करते हुए तथा क्षणिक सफलताएं प्राप्त करते हुए ही प्रकृति माता आगे बढ़ती है।

जैसी कि श्रीअरविंदने भविष्यवाणी की है, वस्तुएं तेजीसे आगे बढ़ रही हैं, और जबसे श्रीअरविंदने सूक्ष्म भौतिक जगत्में कार्य करना आरंभ कर दिया है तबसे मानवजातिकी अवस्था बहुत बदल चुकी है: मानव एकताके विचारने सामान्य जनताकी बुद्धिमें काफी प्रगति कर ली है।

१२-२-७०

---

[1]भारतीय परंपराके अनुसार विष्णुने — विकासक्रममें — वामन रूप धारण किया और राजा बलिके पास गये। बलिने पूछा कि वे क्या चाहते हैं। "तीन पग पृथ्वी", विष्णुने कहा। उनकी इच्छा पूर्ण की गयी। अब वामनने विराट् रूप धारण कर लिया, उन्होंने समूची पृथ्वी ही अपने एक पगमें नाप ली, आकाशको दूसरे पगमें, और अपना तीसरा पग बलिके सिरपर रख दिया।

३३७ — अनुकरण कभी-कभी एक अच्छे शिक्षण-पोतका काम देता है परंतु उसपर नौसेनाध्यक्षका झंडा कभी नहीं फहरायेगा।

३३८ — सफल अनुकर्ताओंके झुंडमें मिलनेकी अपेक्षा अपने-आपको फांसी लगा लेना कहीं अधिक अच्छा है।

यह बात कलाकारों और लेखकोंपर लागू होती है — प्रायः सभी अनुकरण और नकल करते हैं। फिर भी, जो सृजन करते हैं, जिनके पास कुछ कहने या दिखानेके लिये कोई नयी वस्तु है, उन्हें ही सृजन करना चाहिये।

१३-२-७०

३३९ — संसारमें कार्य करनेकी विधि बड़ी उलझी हुई है। जब अवतार रामने बाली[1]का वध किया, अथवा कृष्णने, जो स्वयं भगवान् थे, अपनी जातिको अपने अत्याचारी मामा कंससे मुक्त करनेके लिये उसका वध किया तो यह कौन कहेगा कि उन्होंने उचित किया या अनुचित, उनका यह कार्य ठीक था या गलत? किंतु हम यह अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने जो किया दिव्य रूपमें किया।

यह इस बातको कहनेका एक बहुत ही सुन्दर ढंग है कि भले और बुरेका विचार पूरी तरह मानवी है और भगवान्की दृष्टिमें इसका कुछ मूल्य नहीं है।

१६-२-७०

३४० — प्रतिक्रिया अपने अंदर निहित शक्तिको बढ़ाकर और शुद्ध करके ही विकासको पूर्ण एवं द्रुत बनाती है। इस बातको अधिकांश दुर्बल व्यक्ति नहीं देख सकते, ये वे व्यक्ति होते हैं जो अपने जहाजको अंधड़में निःसहाय अवस्थामें डूबता-उतराता देखकर बंदरगाहके बारेमें निराश होने लगते हैं, किंतु तो भी वह वर्षा और सागरकी धारमें छुपा भगवान्के इच्छित स्थानकी ओर दौड़ता ही रहता है।

---

[1]वानरोंका राजा।

यह हमें कभी निराश न होनेका पाठ सिखानेके लिये है। कारण जिन लोगोंका हृदय शुद्ध और श्रद्धा अडोल है, उन लोगोंके लिये अत्यधिक प्रत्यक्ष पराजय वह गुप्त मार्ग मात्र है जो अंतिम विजयकी ओर ले जाता है।

१७-२-७०

३४१ — लोकतंत्र निरंकुश राजा, पुरोहित और सामंतकी गुटबंदीके विरुद्ध मानव आत्माका विद्रोह था, और समाजवाद धनिक वर्गके प्रजातंत्रकी तानाशाहीके विरुद्ध, जब कि अराजकता नौकरशाही समाजवादके अत्याचारके विरुद्ध उसका विद्रोह हो सकता है। एक भ्रांतिसे दूसरी भ्रांतितक, एक असफलतासे दूसरी असफलतातक उग्र और उत्सुक भावमें बढ़ते रहना यूरोपीय प्रगतिका चित्रण करता है।

३४२ — यूरोपमें जनतंत्र मंत्रीमंडलके सदस्यका, किसी भ्रष्टाचारी प्रतिनिधि या स्वार्थी पूंजीवादीका शासन होता है जिसपर संशयपूर्ण सर्वसाधारणके अस्थायी प्रभुत्वका मुखौटा चढ़ा होता है। यूरोपमें समाजवाद अफसरशाही और पुलिसका एक ऐसा शासन हो सकता है जो एक आदर्शवादी राज्यके अव्यावहारिक शासनके परिवेशमें हो। यह पूछना भ्रमकारी होगा कि इनमेंसे कौन-सी प्रणाली ज्यादा अच्छी है; साथ ही यह निश्चय करना भी कठिन होगा कि कौन-सी प्रणाली ज्यादा गलत है।

३४३ — लोकतंत्रका लाभ है अत्याचारी या कुछ स्वार्थरत व्यक्तियोंकी सनकोंसे व्यक्तिके जीवनको, उसकी संपदा एवं स्वतंत्रताको सुरक्षा प्रदान करना; और उसकी बुराई है मानवजातिकी महानताकी अधोगति।

सभी मानव सरकारें मिथ्या या भ्रामक होती हैं। यह आशा की जा सकती है कि एक दिन पृथ्वीपर केवल सत्यका साम्राज्य होगा किंतु केवल तभी, जब सर्वोच्च प्रभु इस सत्यको सबके लिये स्पष्ट कर देंगे।

१८-२-७०

३४४ — मनुष्योंकी यह भ्रांतिशील जाति सदा ही अपने परिवेशको सरकारों और समाजकी मशीनरीसे पूर्ण बनानेका स्वप्न देखती रहती है। किंतु अन्तरस्थित आत्माकी पूर्णताके द्वारा ही बाह्य परिवेश पूर्ण बनाया जा सकता है। जो कुछ तुम अंदर होगे उसीका तुम अपनेसे बाहर भी उपभोग कर सकोगे, कोई भी मशीनरी तुम्हारी अपनी सत्ताके विधानसे तुम्हें छुटकारा नहीं दिला सकती।

३४५ — जब कि तुम सच्ची बातके बाह्य स्वरूप या प्रतीककी पूजा कर रहे हो, उस समय उसे दोष देने या उसकी उपेक्षा करनेकी अपनी प्रवृत्तिसे सदा सावधान रहो। मनुष्यकी दुष्टता नहीं बल्कि उसकी दुर्बलता ही 'अशुभ'को अवसर देती है।

हम जो कुछ हैं, जीवनमें उसके परिणाम भोगनेसे कोई भी कानून, कोई भी सरकार हमें नहीं बचा सकती।

एकमात्र भागवत सत्यका ही आदेश मानो और तब वह जीवनको समस्त कानून और मानवनिर्मित सरकारोंसे अलग रखकर जीवनका परिचालन करेगा।

१९-२-७०

३४६ — संन्यासीके वेशको सम्मान अवश्य दो, किंतु उस वेशको धारण करनेवालेको भी देखो, कहीं ऐसा न हो कि पवित्र स्थानोंपर पाखंडका राज्य हो जाय और आंतरिक साधुता एक कहानी बनकर रह जाय।

३४७ — कितने ही लोग योग्यता अथवा धनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते रहते हैं, कुछ गरीबीको दुलहिनके रूपमें स्वीकार कर लेते हैं; किंतु तुम केवल भगवान्के पीछे ही दौड़ो और उन्हींको गले लगाओ। तुम उन्हें ही अपने लिये चुननेका अवसर दो, चाहे वह राजाका महल हो या भिखारीका भिक्षा-पात्र।

३४८ — पाप अपने-आपको दास बनानेकी वृत्तिका अभ्यास है और पुण्य एक मानवी विचारमात्र। भगवान्को देखो और उन्हींकी

इच्छाका पालन करो, जिस भी मार्गको उन्होंने तुम्हारे लिये निश्चित किया है उसीपर चलो।

सबसे अच्छी बात यही है। सच्ची साधुताका अर्थ वही कुछ चाहना और प्राप्त करना है जो भगवान् तुम्हारे लिये चाहते हैं; और सच्ची बुद्धिमत्ता उनके साथ इतना जुड़ जानेमें है कि तुम यह स्पष्ट रूपमें जान सको कि वे तुमसे और तुम्हारे लिये क्या चाहते हैं। बाकी सब तो मानवीय रूढ़ियां और सिद्धांत ही होते हैं।

२०-२-७०

३४९ — संसारके संघर्षोंमें धनियोंका उनके धनके लिये अथवा गरीबोंका उनकी गरीबीके लिये पक्ष न लो, न राजाका उसकी शक्ति और उपाधिके लिये और न ही लोगोंका उनकी आशाओं और उत्साहके लिये। बल्कि सदा भगवान्‌के पक्षमें रहो जबतक कि उसने तुम्हें अपने विरुद्ध युद्ध करनेकी आज्ञा न दी हो! तब अपने पूरे हृदय और शक्तिसे उल्लासपूर्वक उसी कार्यको करो।

३५० — यह मैं कैसे जानूं कि भगवान् मुझसे क्या चाहते हैं? इसके लिये मुझे अपने अहंभावको अपने अंदरसे, कोने-कोनेसे निकाल देना होगा और अपनी दोषमुक्त और निष्कलुष आत्माको उनकी असीम क्रियाओंमें निमज्जित करना होगा; तब वे स्वयं ही अपनी इच्छाको मेरे सामने प्रकट कर देंगे।

३५१ — केवल वही आत्मा जो निष्कलुष और संकोचविहीन होगी निर्दोष एवं निष्कलंक हो सकती है, उसी प्रकार जिस प्रकार आदम मानवजातिके पुरातन उद्यानमें था।

"निष्कलुष और संकोचविहीन आत्मा"का क्या अर्थ है? क्या आत्मा सदा ही शुद्ध और पवित्र नहीं होती?

हां, यही बात श्रीअरविन्द कहते हैं। आत्मा छद्मवेश नहीं पहनती, वह अपने-आपको असली रूपमें प्रकट करती है, वह मनुष्यके मूल्यांकनकी परवाह

नहीं करती; कारण वह भगवान्की निष्ठावान सेविका है, उन भगवान्की जिनका वह वासस्थल है।

२३-२-७०

३५२ — धन-संपत्तिकी शेखी मत बघारो, न ही लोगोंसे अपनी गरीबी और आत्म-त्यागकी प्रशंसा मांगते फिरो; ये दोनों वस्तुएं अहंभावका स्थूल या सूक्ष्म भोजन हैं।

३५३ — परोपकारकी भावना मनुष्यके लिये अच्छी है, पर तब उतनी अच्छी नहीं रहती जब वह अपनी ही सर्वोच्च तुष्टिका रूप धारण कर लेती है और दूसरोंके स्वार्थको पोसकर ही जीती है।

३५४ — परोपकारसे तुम अपनी आत्माकी रक्षा कर सकते हो, किन्तु ध्यान रखो कि तुम अपने भाईके विनाशमें रस लेकर उसकी रक्षा न करो।

३५५ — आत्म-त्याग शोधन-क्रियाका एक बड़ा साधन अवश्य है; किन्तु यह न तो अपने-आपमें कोई उद्देश्य है, न ही जीवनका कोई चरम नियम। आत्म-पीड़न नहीं बल्कि संसारमें भगवान्की संतुष्टि तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये।

३५६ — अधर्म और पापसे किये हुए बुरे कर्मको जान लेना सरल है, किन्तु एक प्रशिक्षित आंख उस बुरे कर्मको भी देख लेती है जो अपने-आपको सच्चा या गुणवान् माननेवाला व्यक्ति करता है।

क्रमिक रूपमें और सभी दृष्टिकोणसे श्रीअरविन्द हमें बताते हैं कि किस प्रकार सत्य सभी विपरीत और विरोधी वस्तुओं और मतभेदोंसे ऊपर और परे है — वह एक दीप्तिपूर्ण और समग्र एकत्वमें स्थित है।

२५-२-७०

३५७ — पहले ब्राह्मणने शास्त्र और कर्मकांडकी पद्धतिसे शासन किया, उसके बाद क्षत्रियने तलवार और ढालसे; अब वैश्य मशीन और मुद्रासे शासन करता है और शूद्र, विमोचित दास, "संयुक्त-श्रम राज्य"के सिद्धान्तसे कार्य करता है। किन्तु न तो पुरोहित, न राजा, न वैश्य, और न ही श्रमिक मनुष्यजातिका सच्चा शासक है और औजारों और कुदालकी यह तानाशाही पहलेके सभी तानाशाहियोंकी तरह ही असफल होगी। जब अहंभाव नष्ट हो जाता है और मनुष्यके अन्दर स्थित भगवान् अपनी विश्व-मानवतापर शासन करते हैं, केवल तभी पृथ्वी एक प्रसन्न और सन्तुष्ट जातिको धारण कर सकती है।

इस विषयपर कुछ कहनेको नहीं है। सब कुछ स्पष्ट रूपसे समझा दिया गया है — केवल दिव्य शासन ही सच्चा शासन हो सकता है।

२६-२-७०

३५८ — लोग सुखके पीछे दौड़ते हैं और बड़े आवेशपूर्वक उस अग्निशिखा-सी दुलहिनको अपने क्षुब्ध हृदयसे लगा लेते हैं, जब कि उसी समय एक दिव्य और निर्दोष परम आनंद उनके पीछे खड़ा, देखे और बुलाये जाने और अधिकृत किये जानेकी प्रतीक्षा करता है।

३५९ — लोग तुच्छ सफलताओं और अति साधारण वस्तुओं-को अधिकृत करनेकी चेष्टामें रहते हैं, और फिर उनसे थकान और परिश्रांतिमें जा गिरते हैं, जब कि इस बीच विश्वमें स्थित भगवान्‌की असीम शक्ति व्यर्थ ही इस प्रतीक्षामें रहती है कि वे आयें और उसे प्राप्त कर लें।

३६० — लोग ज्ञानकी छोटी-छोटी बारीकियोंको खोदकर निकालते रहते हैं और फिर उन्हें इकट्ठा करके कुछ एक सीमित और क्षणिक विचार-प्रणालियोंका रूप दे देते हैं, जब कि समस्त असीम बुद्धिमत्ता उनके सिरके ऊपर खड़ी हंसती है और अपने रंग-बिरंगे पंखोंके वैभवको उनके सामने बिखेरती है।

३६१ — लोग अपनी सीमित और छोटी-सी सत्ताको — उस सत्ताको जो उनके हीन और तृष्णापूर्ण अहंभावके चारों ओर एकत्रित मानसिक धारणाओंसे निर्मित हुई है — संतुष्ट और सम्मानित करनेके लिये काफी जोर लगाते हैं जब कि स्थान और कालसे अतीत आत्माको अपनी आनंद और वैभव-पूर्ण अभिव्यक्तिसे वंचित रखा जाता है।

इस वस्तुस्थितिको बदलना ही होगा ताकि अतिमानसिक चेतनाका शासन पृथ्वीपर स्थापित हो सके। यद्यपि अतिमानसिक चेतना एक वर्ष'से अधिक पृथ्वीपर कार्य कर रही है, फिर भी क्या इस दुःखद अवस्थामें कोई परि-वर्तन हुआ है? . . .

२८-२-७०

चूंकि अतिमानसिक चेतना पृथ्वीपर कार्य कर रही है, तो चाहे कुछ भी होता रहे क्या इस दुःखद अवस्थाको बदलना नहीं होगा?

स्वभावतया पहला परिणाम होगा चेतनाका परिवर्तन, पर यह पहले उनमें होगा जो सबसे अधिक ग्रहणशील होंगे, उसके बाद ही कुछ अधिक व्यक्तियोंमें हो सकता है।

सामूहिक जीवनकी सामान्य अवस्थामें परिवर्तन केवल बादमें ही आ सकता है; जब वैयक्तिक प्रतिक्रियाएं बदल जायंगी, उसके बहुत समय बाद ही शायद यह परिवर्तन आयेगा। उसका सबसे पहला प्रभाव, जो हम इस समय देख सकते हैं, यह है कि सामान्य अस्तव्यस्तता आगेसे बहुत बढ़ गयी है, क्योंकि पुराने सिद्धांतोंने अपनी शक्ति खो दी है, और मनुष्य (बहुत कम लोगोंको छोड़कर) दिव्य विधानका आदेश माननेको तैयार नहीं हैं, क्योंकि वे उसे देखनेमें समर्थ नहीं हैं।

१-३-७०

'माताजी यहां इस नई चेतना (या सर्वोच्च चेतना) का उल्लेख कर रही हैं जो १ जनवरी, १९६९ को अभिव्यक्त हुई थी।

३६२ — ओ भारतकी आत्मा, कलियुगके अज्ञानी पंडितोंके पीछे अपने-आपको रसोईगृह और मंदिरमें न छुपा, भावहीन पूजा-पाठ, दक्षिणाकी पुरानी विधि और अभिशप्त पैसोंके आवरणसे अपने-आपको न ढक, बल्कि अपनी आत्मामें खोज कर, भगवान्‌से प्रार्थना कर, और सनातन वेदके द्वारा अपने सच्चे ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वको पुनः प्राप्त कर: वैदिक यज्ञके छुपे हुए सत्यको पुनः स्थापित कर, एक प्राचीनतर और अधिक शक्तिशाली वेदान्तको चरितार्थ कर।

इसका अर्थ है कि व्यक्तिको उन तथाकथित धार्मिक परंपराओंसे मुक्त होना चाहिये जो यह बताती हैं कि व्यक्तिको क्या करना चाहिये, क्या नहीं। उसे सच्चे ज्ञानको ढूंढना चाहिये तथा सीधे भगवान्‌से ही सत्यमें और सत्यके लिये जीवन बितानेके यथार्थ निर्देशोंको प्राप्त करना चाहिये।

२-३-७०

३६३ — अपने यज्ञको सांसारिक वस्तुओं या कुछ इच्छाओं और कामनाओंके त्यागतक ही सीमित न करो, बल्कि अपने प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य और प्रत्येक आनंदोपभोगको अंतरस्थित भगवान्‌के प्रति अर्पित कर दो, तुम्हारे पग तुम्हारे प्रभुके अंदर ही प्रवेश करें, तुम्हारी निद्रा और जाग्रत अवस्था कृष्णके प्रति ही निवेदित हो।

३६४ — यह मेरे शास्त्र या मेरी विद्याके अनुसार नहीं है, ऐसा नियमप्रिय और रूढ़िवादी कहते हैं। मूर्ख! क्या भगवान् केवल एक पुस्तक हैं कि उसमें लिखे हुए के सिवाय और कुछ सत्य या शुभ नहीं हो सकता?

३६५ — मैं किस मापदण्डके अनुसार चलूं, उस वाणीके अनुसार जिसमें भगवान् मुझसे कहते हैं: "यह मेरी इच्छा है, मेरे दास", अथवा उन नियमोंके अनुसार जिनके लिखनेवाले मरखप चुके हैं? न, यदि मुझे किसीका डर या आदेश मानना है तो मैं भगवान्‌का ही डर और आदेश मानूंगा, किसी पुस्तकके पृष्ठों या किसी पंडितकी भृकुटिका नहीं।

३६६ — तुम्हें धोखा हो सकता है, क्या तुम यह कहोगे कि तुम्हें चलानेवाली आवाज भगवान्‌की आवाज नहीं है? फिर भी मैं यह जानता हूं कि वे उन लोगोंका भी त्याग नहीं करते जिन्होंने, भले अज्ञानपूर्वक सही, उनपर विश्वास किया है; मैंने यह भी देखा है कि वे तब भी जब कि वे पूरी तरह धोखा देते प्रतीत होते हैं, बुद्धिमत्तापूर्वक रास्ता दिखा रहे होते हैं। बहरहाल मैं मृत नियम-विधानमें विश्वास रखकर बच जानेकी अपेक्षा सजीव भगवान्‌के जालमें फंसना अधिक पसंद करूंगा।

३६७ — अपने ही हठ और इच्छासे कार्य करनेकी अपेक्षा शास्त्रोंके अनुसार कार्य करो, इस प्रकार तुम अपने अंदर स्थित लुटेरेपर नियंत्रण रखनेमें समर्थ हो सकोगे; किंतु शास्त्रकी अपेक्षा भगवान्‌के आदेशानुसार कार्य करो, इस प्रकार तुम उनकी सर्वोच्च स्थितितक पहुंच जाओगे जो कि सब नियमों और सीमाओंसे बहुत परेकी वस्तु है।

३६८ — नियम उन लोगोंके लिये है जो बद्ध हैं, जिनकी आंखें बंद हो चुकी हैं, यदि वे उसके सहारे नहीं चलेंगे तो रास्तेमें लड़खड़ायेंगे। किंतु तुम तो स्वतंत्र रूपसे श्रीकृष्णमें हो, या तुमने उसके जीवंत प्रकाशको देख लिया है, तुम अपने 'सखा'का हाथ पकड़कर 'सनातन वेद'के प्रकाशमें आगे बढ़ो।

३६९ — वेदान्त तुम्हें बंधन और अहंभावकी इस अंधकारपूर्ण रात्रि-मेंसे निकालकर आगे चलानेवाला भगवान्‌का प्रकाश है; किंतु जब वेदका प्रकाश तुम्हारी आत्मामें अवतरित हो जाय तब तुम्हें उस दिव्य प्रकाशकी भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि अब तुम सनातन प्रकाशमें स्वतंत्रता और विश्वासपूर्वक विचर सकते हो।

केवल सर्वोच्च प्रभुके आदेशको ही सुननेकी चेष्टा करो, और यदि तुममें पूर्ण सच्चाई होगी तो वे तुम्हें सुनाने और अपने आदेशको विश्वासपूर्वक पहचाननेका रास्ता भी स्वयं ढूंढ निकालेंगे।

यह आश्वासन उन सबको प्रदान किया गया है जो सर्वोच्च सत्यके अनुसार अपना जीवन बिताना चाहते हैं।

३-३-७०

३७० — केवल जाननेका क्या लाभ? मैं तुमसे कहता हूं, कुछ करो और कुछ होओ। कारण, भगवान्‌ने तुम्हें इस मनुष्यके शरीरमें इसीलिये भेजा है।

३७१ — केवल 'होने'का भी क्या लाभ? मैं तुमसे कहता हूं, वैसा ही बन जाओ; क्योंकि इस जड़तत्त्वके जगत्‌में मनुष्य-रूपमें तुम्हारी स्थापना इसीलिये हुई है।

३७२ — कर्मका पथ एक प्रकारसे भगवान्‌के तिहरे मार्गका एक अत्यधिक कठिन पक्ष है; तो भी क्या यह, कम-से-कम, इस जड़ जगत्‌में सबसे अधिक सरल, विस्तृत और आनंद-दायक भी नहीं है? कारण, प्रत्येक क्षण हम भगवान्‌से, जो कि स्वयं कर्मी हैं, टकराते हैं, तथा उनके सहस्रों दिव्य स्पर्शोंसे उन्हीं जैसे बन जाते हैं।

३७३ — कर्म-पथका चमत्कार यह है कि भगवान्‌के साथ शत्रुता भी मुक्तिका साधन बनायी जा सकती है। कभी-कभी भगवान् हमें अपनी ओर खींचकर द्रुत वेगसे अपने साथ सटा लेते हैं और फिर हमारे साथ एक भयानक, अजेय और दुराग्रही शत्रुके रूपमें युद्ध भी करते हैं।

संक्षेपमें, भागवत कृपा इतनी अद्‌भुत है कि तुम कुछ भी करो वह तुम्हें भागवत लक्ष्यकी ओर देर या सवेर ले ही जायगी।

५-३-७०

३७४ — क्या मैं मृत्युको स्वीकार कर लूं या उसके साथ संघर्ष करके उसपर विजय प्राप्त करूं, इसका निर्णय मेरे अंतर-स्थित भगवान्‌को ही करना होगा। मैं जीवित रहूं या मृत्यु-को प्राप्त होऊं, मेरा अस्तित्व सदा ही रहेगा।

३७५ — तब वह है क्या जिसे तुम मृत्यु कहते हो? क्या भगवान् मर सकते हैं? ओ मृत्युसे डरनेवाले, यह जीवन ही

तो है जो तुम्हारे पास मृत्युका मुकुट सजाये आतंकका मुखौटा पहने आया है।

३७६ — शरीरकी अमरता प्राप्त करनेका कोई तरीका अवश्य है और मृत्यु हमारी इच्छापर निर्भर है, प्रकृतिकी इच्छापर नहीं। किंतु सौ वर्षतक एक ही वस्त्रमें या लंबे कालतक उसी एक संकरे, पुराने घरमें रहना कौन पसंद करेगा?

यदि व्यक्ति यह अनुभव करे कि उसका इस जीवनका कार्य समाप्त हो गया है और उसे अब भेंट देनेके लिये दुबारा उसके पास कुछ नहीं बचा तो क्या एक लक्ष्यहीन अस्तित्वको घसीटनेकी अपेक्षा मरकर दुबारा जन्म लेना अधिक अच्छा नहीं है?

यह वह प्रश्न है जो एक असंतुष्ट अहं अपने-आपसे उस समय पूछता है जब उसे लगता है कि वस्तुएं उसकी इच्छानुसार नहीं चल रहीं।

किंतु जो व्यक्ति भगवान्‌का है और सत्यमें ही निवास करना चाहता है वह यह जानता है कि भगवान् उसे पृथ्वीपर तबतक रखेंगे जबतक वह उनकी दृष्टिमें पृथ्वीपर उपयोगी होगा, जब पृथ्वीपर उसके करने लायक कुछ न रहेगा तो उसे हटा देंगे। अतएव, यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता। और तब व्यक्ति भगवान्‌की सर्वोच्च बुद्धिमत्ताकी निश्चयतामें शांतिपूर्वक निवास करेगा।

६-३-७०

आपने कल लिखा था: "किन्तु जो व्यक्ति भगवान्‌का है...।" प्रत्येक प्राणी ही भगवान्‌का है, चाहे वह कोई भी हो, ठीक है न?

जब मैं कहती हूं: "जो व्यक्ति भगवान्‌का है", तो मैं उस व्यक्ति-की बात कहती हूं जिसने अपने अहंसे मुक्ति पा ली है, जो सदा भगवान्-के प्रति सचेतन रहता है, जिसकी कोई व्यक्तिगत इच्छा नहीं है, जो केवल भागवत प्रेरणासे ही कार्य करता है और जिसका इसके सिवाय कोई और लक्ष्य नहीं है कि वह वही करे जो भगवान् उससे करवाना चाहते हैं।

मुझे नहीं लगता कि ऐसे लोग अधिक हैं जो इस अवस्थामें हों।

और यह भी निश्चित है कि वे इस बातकी कभी चिंता नहीं करेंगे कि उनका जीवन पृथ्वीपर उपयोगी है या नहीं क्योंकि वे केवल भगवान्‌के लिये तथा उन्हींके द्वारा जीवन धारण करते हैं, उनका कोई वैयक्तिक जीवन नहीं रह जाता।

७-३-७०

३७७ — भय और चिन्ता इच्छा-शक्तिके विकृत रूप हैं। जिस वस्तुसे तुम भय मानते हो और जिसके बारेमें सोचते हो, जिसे अपने मनमें बार-बार घोखते रहते हो, उसके आनेमें तुम सहायता भी करते हो। कारण, यदि तुम्हारी ऊपरी जाग्रत अवस्था उसे परे धकेलती है, तो भी नीचे दबा हुआ तुम्हारा मन सब समय उसीकी इच्छा करता रहता है, अवचेतन मन तो और भी अधिक शक्तिशाली और विशाल होता है तथा तुम्हारी जाग्रत शक्ति और बुद्धिकी अपेक्षा उसमें चरितार्थ करनेकी शक्ति भी अधिक होती है। किन्तु आत्मा उन दोनोंसे अधिक शक्तिशाली है; भय और आशाका पल्ला छोड़कर आत्माकी महान् शान्ति और चिन्तारहित प्रभुत्वमें आश्रय लो।

३७८ — भगवान्‌ने आत्म-ज्ञानसे इस असीम जगत्‌को बनाया, यह आत्म-ज्ञान अपने कर्मोंमें वह संकल्प-शक्ति है जो अपने-आपको चरितार्थ करती है। उन्होंने अज्ञानका प्रयोग अपनी असीमताको सीमाबद्ध करनेके लिये किया; किन्तु भय, क्लान्ति, अवसाद, आत्म-अविश्वास और दुर्बलताको प्रश्रय ऐसे यंत्र हैं जिनसे वे अपनी बनायी चीजोंको नष्ट करते हैं। जब ये वस्तुएं तुम्हारे अन्दरकी अशुभ या हानिकारक या असंयमित वस्तुओंपर आक्रमण करें तो भला होता है; किन्तु यदि ये तुम्हारे जीवन और तुम्हारी शक्तिके मूलस्रोतोंपर धावा बोलें, तो तुम उन्हें पकड़कर अपने अन्दरसे निकाल दो, नहीं तो तुम मर जाओगे।

जब ये विनाशकारी शक्तियां हमपर आक्रमण करती हैं, तो यह इस बातका प्रमाण है कि हम अपने अहंभावसे मुक्त होनेके लिये और चेतन रूपसे भागवत उपस्थितिमें प्रवेश करनेके लिये, और साथ ही अहंभावद्वारा

थोपे हुए कष्टोंसे मुक्त होकर शांति और आनंद पानेके लिये तैयार हैं। उस भागवत उपस्थितिमें जो पूर्ण प्रकाशसहित हमारी सत्ताके केंद्रमें विद्यमान है। अहंभाव ही जीवनके सब संपर्कोंको दुःखमें बदल देता है। अहंभाव ही हमें अपने अंदर भागवत उपस्थितिके प्रति सचेतन होने तथा भगवान्‌के शांत, शक्तिशाली और आनंदपूर्ण यंत्र बननेसे रोकता है।

आओ, हम इस अहंभावको उसकी समस्त इच्छाओंसहित भगवान्‌के प्रति पूर्ण रूपसे समर्पित कर दें और विश्वासपूर्वक उस मुक्तिकी प्रतीक्षा करें जो अवश्य आयेगी।

९-३-७०

३७९ — मनुष्यजातिने अपनी शक्तियों और सुखको नष्ट करनेके लिये दो बड़े शक्तिशाली शस्त्रोंका उपयोग किया है: गलत उपभोग और गलत त्याग।

३८० — हमारी गलती सदासे यही रही है कि हम इलाजके रूपमें पेगेनिज्मकी बुराइयोंसे तप और त्यागकी ओर और तप और त्यागकी बुराइयोंसे पेगेनिज्मकी ओर भागते रहते हैं। हम सदा इन दोनों झूठे विरोधी छोरोंके बीच झूलते रहते हैं।

३८१ — न तो खेलमें अत्यधिक ढील देकर खेलमें रत रहना अच्छा है, न अपने जीवन और कार्यमें बहुत अधिक गंभीर होना। हम दोनोंमें ही एक प्रफुल्ल स्वतंत्रता और गंभीर व्यवस्थाकी चाहना करते हैं।

अतिशयता, वह चाहे जो भी रूप ले, उग्रता है; केवल शांति, समता और सामंजस्यमें ही सत्यकी खोज की जा सकती है, और उसमें निवास किया जा सकता है।

१०-३-७०

३८२ — लगभग चालीस वर्षोंतक मैं सदा ही किसी-न-किसी छोटी या बड़ी व्याधिसे पीड़ित रहा। मुझे पूरा विश्वास हो गया था कि मेरी शरीर-रचनामें ही दुर्बलता है, साथ ही इनकी

चिकित्साको मैं प्रकृतिका अपने ऊपर एक बोझ मानता था। जब मैंने दवाइयोंकी सहायता लेनी छोड़ दी तो रोग भी निराश परजीवियोंकी तरह मुझे छोड़ते चले गये। केवल तभी मेरी समझमें आया कि मेरे अन्दरका प्राकृतिक स्वास्थ्य कितना सबल है और संकल्प-शक्ति और विश्वास तो और भी अधिक शक्तिशाली हैं जो मनसे परेकी वस्तुएं हैं तथा जिन्हें भगवान्‌ने इस शरीरमें स्थित हमारे जीवन-तत्त्वकी दिव्य सहायताके लिये हमें प्रदान किया है।

जीवनकी सभी परिस्थितियोंकी व्यवस्था हमें यह सिखानेको की गयी है कि मनसे परे, भागवत कृपामें विश्वास ही हमें सभी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होने, सभी दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करने तथा दिव्य चेतनाके साथ संपर्क स्थापित करनेकी शक्ति प्रदान करता है, उस दिव्य चेतनाके साथ जो हमें केवल शांति और आनंद ही नहीं बल्कि शारीरिक संतुलन एवं अच्छा स्वास्थ्य भी प्रदान करती है।

११-३-७०

३८३ — हमारी असाध्य बर्बरताके कारण आधुनिक मनुष्यजातिके लिये मशीनें आवश्यक हैं। यदि हमें अपने-आपको चकरानेवाली आरामदेह वस्तुओं और साजोसामानके ढेरमें ढककर रखना है तो हमें कला और उसकी प्रणालियोंको छोड़ना पड़ेगा; कारण सरलता एवं स्वतंत्रताको छोड़नेका अर्थ है सुन्दरताको छोड़ना। हमारे पूर्वजोंका वैभव बड़ा समृद्ध और आडम्बरयुक्त भी था, किन्तु कभी बोझ नहीं बना।

३८४ — मैं यूरोपीय जीवनकी बर्बर सुख-सुविधाओं तथा बोझिल आडम्बरको सभ्यताका नाम नहीं दे सकता। जो लोग अपनी आत्मामें स्वतंत्र और अपनी जीवन-व्यवस्थामें अभिजात ढंगसे लयबद्ध नहीं हैं, वे सभ्य नहीं हैं।

३८५ — आधुनिक समयमें और यूरोपीय प्रभाव-तले कला जीवनकी एक ग्रंथि या एक अनावश्यक दासी बन गयी है,

जब कि इसे होना चाहिये था मुख्य अभिकर्ता या एक अनिवार्य व्यवस्थापक।

जबतक मन जीवनपर इस अभिमानपूर्ण निश्चयताके साथ शासन करता रहेगा कि वह सब कुछ जानता है, तबतक भगवान्‌का राज्य कैसे स्थापित हो सकता है?

१२-३-७०

रोग और चिकित्सा-विज्ञान

बीमारीको ठीक करना अच्छा है, किंतु बीमार न पड़ना उससे भी अच्छा है।

—माताजी

३८६ — रोग अनावश्यक रूपसे लम्बा हो जाता है और प्रायः ही मृत्युका कारण बन जाता है, जब कि ऐसा होना आवश्यक नहीं है, और यह इस कारण होता है कि रोगीका मन अपने शरीरकी व्याधिको प्रश्रय देता है, और उसीपर लगा रहता है।

पूर्णतया सत्य है यह!

३८७ — चिकित्सा-विज्ञान मनुष्यजातिके लिये वरदानसे अधिक अभिशाप रहा है। इसने महामारियोंके वेगको नष्ट अवश्य कर दिया है, तथा एक अद्भुत प्रकारकी शल्य-चिकित्साको जन्म दिया है, किन्तु साथ ही इसने मनुष्यके प्राकृतिक स्वास्थ्यको दुर्बल बना दिया है तथा विभिन्न प्रकारके रोगोंकी बाढ़-सी ला दी है; इसने मन और शरीरमें भय और निर्भरताकी भावनाको बद्धमूल कर दिया है; इसने हमारे स्वास्थ्यको, प्राकृतिक स्वस्थताको आधार न मानकर धातु और वनस्पति जगत्के निस्तेज और निःस्वाद प्रभावका सहारा लेना सिखाया है।

३८८ — चिकित्सक रोगपर किसी औषधिका निशाना लगाता है; कभी वह लग जाता है तो कभी चूक जाता है। चूकनेका कोई हिसाब नहीं रखा जाता, पर लगनेका लेखा-जोखा रखा जाता है, उसपर विचार किया जाता है और फिर उसे विज्ञानका सुसंगत रूप दे दिया जाता है।

बड़ा अद्भुत है यह!

३८९ — हम बर्बरपर हंसते हैं क्योंकि वह ओझाओंमें विश्वास करता है। किन्तु डाक्टरोंपर विश्वास करनेवाली सभ्य जातियां कौन-सी कम अंधविश्वासी हैं? प्रायः बर्बर देखता है कि जब कोई विशेष मंत्र बार-बार उच्चारा जाता है तो उसका रोग दूर हो जाता है, वह विश्वास कर लेता है। सभ्य रोगी देखता है जब वह किसी विशेष नुस्खेकी दवाई लेता है तो वह प्रायः उस रोगसे मुक्त हो जाता है, वह विश्वास कर लेता है। इनमें भेद कहां हुआ?

इसका यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दवाईकी रोगमुक्तिकी शक्ति रोगीके विश्वाससे आती है।

यदि मनुष्योंको भगवत्कृपामें पूर्ण विश्वास होता तो वे शायद बहुत-सी व्याधियोंसे बच जाते।

१३-३-७०

३९० — उत्तर-भारतके चरवाहेको यदि ज्वर हो जाय तो वह नदीकी बर्फीली धारामें एक-दो घंटे बैठ जाता है और स्वस्थ और ताजा होकर उठता है। यदि कोई पढ़ा-लिखा सभ्य व्यक्ति ऐसा करे तो वह मर जायगा, इसलिये नहीं कि एक ही इलाज एकको मार देता है और दूसरेको ठीक कर देता है, किन्तु इसलिये कि हमारे मनने हमारे शरीरोंको झूठे अभ्यासोंसे जकड़कर घातक सिद्धान्तोंका शिकार बना दिया है।

३९१ — औषधि रोगको उतना ठीक नहीं करती जितना कि रोगीका डाक्टर या उसकी औषधिमें विश्वास। ये दोनों रोगीकी अपनी शक्तिमें स्वाभाविक श्रद्धाके भद्दे स्थानापन्न हैं, उस शक्तिके जिसे स्वयं इन्होंने नष्ट कर दिया है।

३९२ — मनुष्यजातिके सबसे अधिक स्वस्थ युग वे थे जिनमें भौतिक दवाइयां बहुत ही कम थीं।

३९३ — पृथ्वीपर सबसे अधिक बलिष्ठ और स्वस्थ जाति अफ्रीका-

निवासी जंगलियोंकी थी, किन्तु जब उनकी भौतिक चेतना सभ्य जातियोंके मतिभ्रमसे दूषित हो गयी तो वे कबतक स्वस्थ रह सकते हैं ?

श्रीअरविन्दके ये शब्द भी सदाकी भांति भविष्य-सूचक हैं। कारण जब मनुष्य-जाति अपने मतिभ्रमसे मुक्ति पा लेगी, केवल तभी वह अतिमानसिक चेतना-को अभिव्यक्त करनेमें सफल होगी तथा उस प्राकृतिक स्वास्थ्यको पुनः प्राप्त कर सकेगी जिससे मनने उसे वंचित कर दिया है।

१४-३-७०

३९४ — हमें रोगोंकी रोक-थाम तथा चिकित्साके लिये अपने अन्दर स्थित दिव्य स्वास्थ्यका प्रयोग करना चाहिये; किन्तु गेलेन और हिपोक्रेटस तथा उनके अनुयायियोंने इसके बदले हमें दवाइयोंका एक बड़ा शस्त्रागार दे दिया है। भौतिक शास्त्र-के रूपमें एक बर्बर लैटिन मंत्र-तंत्र दे दिया है।

३९५ — चिकित्सा-विज्ञान सदाशय है और उसका अभ्यास करनेवाले भी प्रायः ही दयालु स्वभावके होते हैं तथा उनमें त्यागकी भावनाकी कमी नहीं होती। किन्तु अज्ञानीका सदाशय उसे हानि पहुंचानेसे कब रोक सका है ?

३९६ — यदि सभी इलाज सचमुच अपने-आपमें प्रभावकारी हैं तथा सभी चिकित्सासंबंधी सिद्धान्त ठीक हैं, तो इस बातसे हमें खोये हुए प्राकृतिक स्वास्थ्य और बलके लिये कैसे सांत्वना मिल सकती है ? उपास पेड़ (इंडोनीशियाका एक पेड़ जिसकी शाखाओंसे जहरीले तीर बनाये जाते थे)के सारे हिस्से स्वस्थ होते हैं, किन्तु है तो वह उपासका पेड़ ही न !

३९७ — हमारे अन्दरकी आत्मा ही एकमात्र निपुणतम चिकि-त्सक है और सच्ची रामबाण औषधि है शरीरकी उसके प्रति अधीनता।

३९८ — अन्तःस्थित भगवान् असीम है और चरितार्थ करनेवाली

संकल्प-शक्ति हैं। क्या तुम मृत्युके भयसे प्रभावित हुए बिना अपनी समस्त व्याधियोंको उन्हें सौंप सकते हो, एक प्रयोगके रूपमें नहीं वरन् एक सुस्थिर और पूर्ण विश्वासके साथ? और तुम देखोगे कि अन्तमें वे लाखों डाक्टरोंकी कुशलतासे भी आगे निकल जायेंगे।

३९९ — डाक्टरका कहना है कि स्वास्थ्यके लिये हमें बीस हजार सावधानियां बरतनी पड़ेंगी, किन्तु शरीरके लिये यह न तो ईश्वरका वेद-वाक्य है न प्रकृतिका।

मनके अधिराज्यने मनुष्यजातिको डाक्टरोंका और उनकी दवाइयोंका दास बना दिया है। परिणामतः रोग संख्या और गंभीरतामें बढ़ रहे हैं।

मनुष्यके उद्धारका एकमात्र उपाय यही है कि वह भागवत प्रभावके प्रति खुलकर मानसिक दासतासे मुक्त हो जाय और यह पूर्ण समर्पणसे ही हो सकता है।

१५-३-७०

४०० — एक बार मनुष्य स्वभावसे ही स्वस्थ था और यदि उसे फिरसे उस आदिम स्थितिकी ओर लौटने दिया जाय तो लौट सकता है। किन्तु चिकित्सा-विज्ञान हमारे शरीरका ढेरों दवाइयोंके साथ पीछा करता है और हमारी कल्पनाको शिकारकी खोजमें निकले कीटाणुओंके झुंड-के-झुंड द्वारा आक्रान्त कर देता है।

४०१ — कीटाणुओंकी मायामय घेरा-बन्दीसे अपने-आपको बचानेमें सारा जीवन बितानेकी जगह मैं मरकर किस्सा खतम करना अधिक पसन्द करूंगा। यदि यह बर्बरता और अज्ञानता-की निशानी है तो भी मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने सुमेरियन आदिम जातिके अज्ञानको ही गले लगाना पसन्द करूंगा।

४०२ — शल्य-चिकित्सक अंगोंको काट-कूटकर और पंगु बनाकर इलाज करते और जीवनको बचाते हैं। इसके बदले प्रकृतिकी प्रत्यक्ष सर्वसमर्थ औषधियोंकी खोज क्यों न की जाय?

४०३ — औषधिके स्थानपर अपनी चिकित्सा आप करनेमें बहुत समय लगेगा क्योंकि भय, आत्म-अविश्वास और दवाइयोंपर शरीरकी अस्वाभाविक निर्भरताकी हमारे मनों और शरीरोंको चिकित्सा-विज्ञानने जो शिक्षा दी है वह हमारी दूसरी प्रकृति बन गयी है।

दवाइयोंकी आवश्यकतामें मानसिक विश्वासद्वारा की गयी हानिके विरुद्ध हम किन्हीं बाहरी उपायोंसे प्रतिक्रिया नहीं कर सकते। ऐसा केवल मन-रूपी बंदीगृहसे निकलकर और आत्माके प्रकाशमें चेतन रूपसे प्रवेश करके तथा भगवान्‌के साथ चेतन रूपमें एक होकर ही किया जा सकता है, तभी वे हमें हमारा खोया संतुलन और स्वास्थ्य प्रदान कर सकेंगे।

अतिमानसिक रूपांतर ही एकमात्र सच्चा इलाज है।

१७-३-७०

४०४ — बीमारीमें औषधि हमारे शरीरके लिये इसलिये आवश्यक है क्योंकि हमारे शरीरोंने औषधियोंके बिना ठीक न होनेकी कला सीख ली है। तो भी प्रायः देखा जाता है कि जो क्षण प्रकृति रोगीको रोगमुक्त करनेके लिये चुनती है वह वही क्षण होता है जब डाक्टर रोगीके जीवनकी आशा छोड़ देते हैं।

४०५ — अपनी आंतरिक रोगहर शक्तिमें अविश्वास ही स्वर्गसे हमारे पतनका कारण था। चिकित्सा-विज्ञान और बुरी आनुवंशिकता भगवान्‌के वे देवदूत हैं जो स्वर्गके द्वारपर खड़े हमें वापिस जाने तथा पुनः प्रवेश करनेसे रोकते हैं।

४०६ — चिकित्सा-विज्ञान शरीरके लिये एक ऐसी भारी शक्ति है जो किसी छोटे-से राज्यको सुरक्षा प्रदान करके उसे कमजोर बना देती है या उस दयालु डाकूकी तरह है जो अपने शिकारको नीचे गिराकर उसे घायल कर देता है ताकि अपना सारा जीवन उस टूटे-फूटे शरीरकी सेवामें ही लगा सके।

४०७ — दवाइयां शरीरको — जब वे न तो उसे कष्ट पहुंचायें

> **और न विषाक्त करें — केवल तभी ठीक करती हैं जब रोगों-पर उनके भौतिक आक्रमणको आत्माकी शक्तिकी सहायता भी प्राप्त हो। यदि इस शक्तिको स्वतंत्र रूपसे कार्य करनेकी अनुमति मिले तो फिर दवाइयां एकदम अनावश्यक हो जाती हैं।**

श्रीअरविन्द हमें उस दुःस्वप्नका प्रत्यक्ष दिग्दर्शन कराते हैं जिसमें हम निवास करते हैं ताकि हमारे अंदर सच्ची चेतनाकी अभिव्यक्ति तथा भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्तामें अनन्य विश्वासकी अथक अभीप्सा जाग उठे।

१८-३-७०

भक्ति

भक्ति वह कुंजी है जो मुक्तिका द्वार खोल देती है।

—माताजी

भक्ति

४०८ —— मैं भक्त नहीं हूं, क्योंकि मैंने भगवान्‌के लिये संसार-का त्याग नहीं किया है। मैं उस वस्तुका त्याग कैसे कर सकता हूं जो उन्होंने जबर्दस्ती मुझसे ले ली और मेरी इच्छाके विरुद्ध मुझे वापिस दे दी। ये सब बातें मेरे लिये बहुत कठिन हैं।

४०९ — मैं भक्त नहीं हूं, ज्ञानी भी नहीं हूं, न ही मैं भग-वान्‌का कर्मी हूं। तो मैं क्या हूं? अपने स्वामीके हाथमें एक उपकरण, दिव्य गोपबाल (श्रीकृष्ण) द्वारा बजायी जानेवाली बंसी, प्रभुके श्वाससे परिचालित एक पत्ता।

४१० — भक्तिमें तबतक परिपूर्णता नहीं आती जबतक वह कर्म और ज्ञान नहीं बन जाती। यदि तुम भगवान्‌का पीछा कर रहे हो और उनतक पहुंच सके हो तो उन्हें तबतक न जाने दो जबतक कि तुम उनकी वास्तविकताको न पा लो। यदि तुमने उनकी वास्तविकताको पा लिया है तो उनकी समग्रताको भी पानेका प्रयत्न करो। पहली वस्तु तुम्हें दिव्य ज्ञान प्रदान करेगी और दूसरी दिव्य कर्म और जगत्-में मुक्त और पूर्ण आनंद देगी।

४११ — और लोग भगवान्‌के प्रति अपने प्रेमकी डींग मारते हैं। मुझे गर्व है इस बातपर कि मैंने भगवान्‌से प्रेम नहीं किया, बल्कि उन्होंने मुझसे प्रेम किया, मुझे खोजा और जबर्दस्ती अपनाया।

४१२ — जब मैंने यह जाना कि भगवान् एक स्त्री हैं तो मैंने बड़ी दूरसे प्रेमके बारेमें कुछ सीखा। किंतु जब मैं स्त्री बन गया और अपने स्वामी तथा प्रेमीकी चाकरीमें लग गया तभी मैंने पूरी तरहसे प्रेमको जाना।

श्रीअरविन्दमें परिहासके लिये विशेष प्रतिभा थी; हम केवल इतना कर सकते हैं कि सराहना करें और चुप रहें। •

२०-३-७०

श्रीअरविंदका इससे क्या तात्पर्य है: "म उस वस्तुका त्याग कैसे कर सकता हूं जो उन्होंने मुझसे जबर्दस्ती ले ली और मेरी इच्छाके विरुद्ध मुझे लौटा दी ?"

और जब वे कहते हैं "जब मैंने यह जाना कि भगवान् एक स्त्री हैं..." तो इससे उनका क्या तात्पर्य है ?

मैं इसका उत्तर नहीं दे सकती, क्योंकि जबतक वे सशरीर यहां थे उन्होंने कभी मुझसे इस बातकी चर्चा नहीं की थी।

यदि किसीको वह ठीक तारीख मालूम हो जब उन्होंने यह लिखा था तो उससे कुछ संकेत मिल सकता है।

शायद 'न' तुम्हें बता सके कि यह कब लिखा गया था, या फिर श्रीअरविन्दने उससे इस बारेमें कुछ कहा हो।[1]

४१३ — भगवान्के साथ जारकर्म वह पूर्ण अनुभव है, जिसके लिये इस सृष्टिकी रचना हुई थी।

मैं इस सूत्रको समझा नहीं।

यह श्रीअरविन्दका, अपने अद्‌भुत हास्यरसके साथ, मानव नैतिकताका मजाक उड़ानेका अच्छे-से-अच्छा तरीका है। यह वाक्य अपने-आपमें एक अच्छा व्यंग्य है।

२१-३-७०

---

[1]माताजीको इस विषयमें जो सूचना मिली उसके अनुसार ये 'विचार और सूत्र' श्रीअरविन्दके पांडिचेरीमें आनेके शुरूके दिनोंमें ही लिखे गये थे। उस समय श्रीअरविन्द अपने पत्रोंमें "काली" नामसे हस्ताक्षर करते थे। वे कृष्ण और कालीको एक ही मानते थे (जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण श्रीकृष्णकी पूजा करते समय किसी-किसी समय अपने-आपको स्त्री समझने लगते थे), शायद इसी अनुभूतिकी श्रीअरविन्द हंसी-हंसीमें यहां चर्चा कर रहे हैं।

४१४ — भगवान्से डरनेका अर्थ है अपने-आपको उनसे दूर ले जाना, किंतु खेल-खेलमें उनसे डरना आनंदको अधिक तीव्र बना देता है।

४१५ —— यहूदीने ईश्वरसे डरनेवाले व्यक्तिका आविष्कार किया; और भारतवर्षने भगवान्के ज्ञाता और भगवान्के प्रेमी-का।

४१६ — जूडियामें भगवान्का सेवक उत्पन्न हुआ, किंतु वह वयस्कताको प्राप्त हुआ अरबोंके बीच। भारतका आनंद सेवक-प्रेमीमें है।

४१७ — पूर्ण प्रेम भयको भगा देता है; किंतु फिर भी उस निर्वासनकी कुछ कोमल परछाई और स्मृति बनाये रखो, वह पूर्णताको पूर्णतर बना देगी।

४१८ — यदि तेरी आत्माको कभी भगवान्का शत्रु बननेका अथवा उनकी चालोंका विरोध करने या उनसे घातक मुठभेड़ करनेका सुख नहीं मिला तो समझो कि उसे भगवान्के संपूर्ण आनंदका स्वाद अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

४१९ — यदि तुम भगवान्से प्रेम नहीं करवा सकते तो उन्हें लड़नेके लिये ही उकसाओ। यदि वे तुम्हें प्रेमीका आलिंगन नहीं दे सकते तो उन्हें कुश्तीकी गलबाहीं देनेके लिये विवश करो।

४२० — मेरी आत्मा भगवान्की बंदी है, उन्होंने युद्धमें उसे जीता था; वह अभीतक उस युद्धको आनंद, भय और आश्चर्य-पूर्वक याद करती है, चाहे वह है उससे बहुत दूर।

"उनके शत्रु बननेके सुख"से श्रीअरविन्दका क्या तात्पर्य है?

यहां भी मुझे कहना पड़ेगा कि मुझे इस बातका ठीक-ठीक पता नहीं क्योंकि इस विषयमें उन्होंने मुझे कभी कुछ नहीं कहा।

किंतु मैं तुम्हें अपने अनुभवसे बता सकती हूं। लगभग २५ वर्षकी आयु-तक मैं केवल धर्मोंके ईश्वरको, उस ईश्वरको, जैसा कि मनुष्योंने उसे बनाया है, जानती थी, मैं उनसे किसी प्रकारका कोई संबंध नहीं चाहती थी। मैं उनके अस्तित्वको ही अस्वीकार करती थी, मैं विश्वासपूर्वक कहती थी कि यदि कोई ऐसा भगवान् है तो मैं उससे घृणा करती हूं।

जब मैं २५ वर्षकी हो गयी तो मैंने एक आंतरिक भगवान्की खोज कर ली और तभी मुझे यह भी मालूम हुआ कि पश्चिमी धर्मोंद्वारा वर्णित भगवान् 'महान् विरोधी' के सिवाय और कुछ नहीं है।

जब मैं सन् १९१४ में भारत आयी और श्रीअरविन्दकी शिक्षाको जाना तो मेरे आगे पूरी बात स्पष्ट हो गयी।

२४-३-७०

४२१ — मैं पृथ्वीपर सबसे बढ़कर पीड़ासे ही घृणा करता रहा, जबतक कि भगवान्ने ही मुझे कष्ट एवं पीड़ा नहीं पहुंचायी; तब यह तथ्य मेरे सामने स्पष्ट हुआ कि पीड़ा अत्यधिक आनन्दका ही टेढ़ा और दुराग्रहपूर्ण रूप है।

४२२ — जो पीड़ा भगवान् हमें देते हैं उसकी चार अवस्थाएं होती हैं : जब कि वह केवल पीड़ा होती है; जब वह ऐसी पीड़ा होती है जो सुख देती है; जब पीड़ा स्वयं ही सुख होती है और जब वह शुद्ध रूपसे आनन्दका एक भयानक रूप होती है।

४२३ — जब व्यक्ति हर्षके उन स्तरोंतक पहुंच जाता है जहां पीड़ाका नाम-निशान नहीं होता, वहां भी यह एक असहनीय उल्लासके वेषमें उपस्थित रहती है।

४२४ — जब मैं उनके आनन्दके ऊंचे-से-ऊंचे शिखरोंपर चढ़ रहा था तो मैंने अपनेसे पूछा, क्या आनन्दकी तीव्रताकी कोई सीमा नहीं है और तब मुझे भगवान्के आलिंगनोंसे डर-सा लगने लगा।

मैं आपसे "पीड़ाकी चार अवस्थाओं" के विषयमें जानना चाहता हूं, जिनकी चर्चा श्रीअरविन्दने की है।

यदि श्रीअरविन्द नैतिक पीड़ाकी बात कर रहे हैं, चाहे वह कुछ भी हो, तो मैं अपने अनुभवसे तुम्हें बता सकती हूं कि वे जिन चार अवस्थाओं-की बात कर रहे हैं वे चेतनाकी उन चार अवस्थाओंसे मेल खाती हैं जो किसी वैयक्तिक चेतनाद्वारा प्राप्त आंतरिक विकास और भागवत चेतनाके साथ मिलनसे उत्पन्न होती हैं। जब यह मिलन पूर्ण होता है तो "आनंदके भयंकर रूप"के सिवाय और किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं होता।

यदि उस पीड़ाका सवाल है जो शरीर सहता है, तो उस अनुभवमें इतनी स्पष्ट, सुयोजित व्यवस्था नहीं रहती। यह बात और भी अधिक ठीक है क्योंकि भगवान्से मिलनेके बाद पीड़ा भी सामान्यतया तिरोहित हो जाती है।

२५-३-७०

४२५ — भगवान्के प्रेमके बाद सबसे बड़ा आनन्द है मनुष्यके अन्दर स्थित भगवान्के प्रेमका; वहां भी व्यक्तिको बहुविधताका आनन्द प्राप्त होता है।

४२६ — एक पत्नीव्रत शरीरके लिये अच्छा हो सकता है, पर आत्मा, जो मनुष्योंमें स्थित भगवान्से प्रेम करती है, असीम और भावविभोर बहुपत्नीवादी है, (उसका प्रेम असीम और आनन्दसे परिपूर्ण होता है)। तो भी सब समय — और यह एक रहस्य है — वह केवल एक ही सत्तासे प्रेम करती है।

४२७ — सारा संसार ही मेरा अन्तःपुर है और उसके अन्दरकी प्रत्येक सजीव और निर्जीव सत्ता मेरे उल्लासका उपकरण है।

जिसे भगवान्के साथ प्रेमका स्वाद मिल चुका है वह भगवान्के सिवाय अन्य किसीसे प्रेम कर ही नहीं सकता और जिन लोगोंके लिये उसके हृदयमें स्नेह है उनके अंदर स्थित भगवान्के साथ ही वह प्रेम करता है; और यही प्रेम करनेका सबसे अच्छा तरीका भी है, क्योंकि इसी प्रकार वह दूसरों-

को उन भगवान्‌के प्रति सचेतन होनेमें अधिक-से-अधिक सहायता पहुंचा सकता है, जो उनमें अभिव्यक्त होते हैं।

२७-३-७०

४२८ — कुछ समयतक तो मुझे पता ही नहीं लगा कि मैं कृष्णसे अधिक प्रेम करता हूं या कालीसे। जब मैं कालीसे प्रेम करता था तो यह मेरा अपने साथ प्रेम करना था, किन्तु जब मैंने कृष्णके साथ प्रेम किया तो यह अन्यके साथ प्रेम था, पर फिर भी मैं प्रेम अपनेसे ही कर रहा था। अतएव, मैं कालीसे भी अधिक कृष्णसे प्रेम करने लगा।

श्रीअरविन्दका कहनेका हमेशा अपना निराला ढंग था जो सदा मौलिक एवं सदा अप्रत्याशित होता था।

२९-३-७०

४२९ — प्रकृतिकी प्रशंसा करने या उसकी एक शक्ति, उपस्थिति अथवा देवीके रूपमें पूजा करनेसे क्या लाभ? सौन्दर्यकी दृष्टिसे या कलाकी दृष्टिसे भी उसका गुण गानेका क्या अर्थ? असली बात है उसका आत्माद्वारा उपभोग करना, जिस तरह शरीर स्त्रीका उपभोग करता है।

४३० — जब व्यक्तिके हृदयमें अन्तर्दृष्टि होती है तो सब कुछ — प्रकृति, भाव और कर्म, विचार और कार्य, रुचियां और पदार्थ — सब प्रेमपात्र बन जाते हैं और परमानन्दकी अनुभूति प्रदान करते हैं।

कुछ कहनेको नहीं है।

३०-३-७०

४३१ —— जो दर्शनशास्त्री संसारको माया समझकर उसका त्याग कर देते हैं वे बड़े बुद्धिमान्, संयमी एवं पुण्यात्मा हैं, किन्तु मैं कभी-कभी अपने-आपको यह सोचनेसे नहीं रोक सकता कि वे जरा मूर्ख भी हैं, वे भगवान्‌द्वारा बड़ी सरलतासे ठगे जाते हैं।

४३२ —— मेरा अपना यह विचार है कि मैं इस बातपर निश्चय ही आग्रह कर सकता हूं कि भगवान् संसारके अन्दर और बाहर दोनों जगह अपने-आपको अभिव्यक्त करें। यदि वे इस कार्यसे बचना चाहते थे तो फिर उन्होंने इस संसारको बनाया ही क्यों?

४३३ —— मायावादी मेरे वैयक्तिक भगवान्‌को स्वप्न मानते हैं और अवैयक्तिक भगवान्‌का स्वप्न देखते हैं; बौद्ध धर्मके अनुयायी भी इसे एक कोरी कल्पना समझते हैं, वे निर्वाण और शून्यताके आनन्दके स्वप्न लेना पसन्द करते हैं। इस प्रकार सभी स्वप्नद्रष्टा एक-दूसरेकी अनुभूतियोंको बुरा-भला कहते हैं और अपनी अनुभूतियोंको सर्वोच्च मानकर उसका प्रदर्शन करते फिरते हैं। जिस वस्तुमें आत्मा पूर्ण आनन्द मानती है, विचारके लिये वही अन्तिम सत्य वस्तु है।

४३४ —— वैयक्तिक सत्तासे आगे जाकर मायावादी अवर्णनीय सत्ताको देखता है; मैं उसके पीछे-पीछे वहां जा पहुंचा और उसके परे अवर्णनीय सत्तामें मैंने अपने कृष्णको पाया।

सदाकी भांति इस बार भी श्रीअरविन्द बड़े विलक्षण ढंगसे उन मानवी उक्तियोंकी निस्सारताको हमारे सामने स्पष्ट करते हैं जिनमें प्रत्येक गर्वपूर्वक, उस सबका खंडन करता है जो उसकी चीज नहीं है या उसके व्यक्तिगत अनुभवमें नहीं आयी है।

बुद्धिमत्ता उस क्षमतासे शुरू होती है जो सब सिद्धांतोंको, अत्यधिक विरोधी सिद्धांतोंको भी, स्वीकार करती है।

१-४-७०

४३५ — जब मैं पहली बार कृष्णसे मिला तो मैं उनसे मित्र और खेलके साथीके रूपमें तबतक प्रेम करता रहा जबतक उन्होंने मुझे ठग नहीं लिया। इसके बाद मुझे क्रोध आ गया और मैं उन्हें क्षमा नहीं कर सका। फिर मैंने उनसे प्रेमीके रूपमें प्यार किया, और उन्होंने मुझे तब भी धोखा दिया; मैं और भी अधिक क्रुद्ध हो उठा किन्तु इस बार मुझे उन्हें क्षमा करना ही पड़ा।

४३६ — मुझे नाराज करके उन्होंने मुझे इस बातके लिये विवश कर दिया कि मैं उन्हें क्षमा कर दूं। यह उन्होंने हानिपूर्ति करके नहीं, बल्कि और नयी नाराजगियां पैदा करके किया।

४३७ — जबतक भगवान् मेरे प्रति किये गये अपने दोषोंको सुधारनेकी कोशिशमें लगे रहे, तबतक हम बीच-बीचमें झगड़ते रहे; किन्तु जब उन्होंने अपनी भूल जान ली तो हमारा झगड़ा भी समाप्त हो गया, क्योंकि तब मैं उनके प्रति पूर्ण समर्पण करनेके लिये विवश हो गया।

४३८ — जब मैंने संसारमें कृष्ण और अपने सिवाय औरोंको भी देखा तो मैंने अपने साथ भगवान्‌के व्यवहारको गुप्त ही रखा। किन्तु जबसे मैंने उन्हें और अपनेको सर्वत्र देखना शुरू कर दिया हैं, मैं निर्लज्ज और वाचाल हो गया हूं।

श्रीअरविन्दमें यह प्रतिभा थी कि वे अपने लेखोंमें अत्यधिक असाधारण अनुभूतियोंको भी अत्यधिक साधारण शब्दोंमें अभिव्यक्त करते थे। इस प्रकार वे आभास देते हैं कि उनकी अनुभूतियां बड़ी सरल एवं स्पष्ट हैं।

२-४-७०

४३९ — जो कुछ मेरे प्रेमीका है, वह सब मेरा है! यदि मैं उन सुन्दर आभूषणोंका, जो उन्होंने मुझे दिये हैं, प्रदर्शन करता हूं तो तुम मुझे बुरा-भला क्यों कहते हो?

४४० — मेरे प्रेमीने अपना ताज और राजसी हार अपने सिर

और गलेसे उतारकर मुझे पहना दिये; किन्तु सन्तों और धर्मोपदेशकोंके शिष्योंने मुझे दुर्वचन कहे और बोले: "यह सिद्धियोंके पीछे पड़ा है।"

४४१ — मैंने संसारमें अपने प्रेमीके आदेशको माना और अपने विजेताकी इच्छाके अनुसार कार्य किया, किन्तु वे सब चिल्ला उठे: "युवकोंको बिगाड़नेवाला, नीति-धर्मको भ्रष्ट करनेवाला यह कौन है?"

४४२ — ओ सन्तो, यदि मैंने तुम्हारी प्रशंसा पानेकी चिन्ता की होती, ओ धर्मोपदेशको, यदि मुझे यशप्राप्तिकी इच्छा होती तो मेरा 'प्रेमी' कभी मुझे अपने हृदयसे न लगाता, न ही मुझे कभी अपने निजी कक्षोंमें आनेकी स्वतंत्रता देता।

४४३ — मैं तो अपने 'प्रेमी'के उल्लासपूर्ण सौन्दर्यमें मतवाला हो गया था और मैंने संसार-मार्गके बीचमें ही संसारकी पोशाकको उतार फेंका। अब यदि संसारके प्राणी मेरा उपहास करते हैं और धर्मात्मा लोग अपना मुंह फेर लेते हैं तो मैं इसकी चिन्ता क्यों करूं?

४४४ — हे प्रभु, तेरे प्रेमीके लिये संसारकी निन्दा वनका मधु है और भीड़द्वारा बरसाए पत्थर शरीरपर पड़नेवाली ग्रीष्म ऋतुकी वर्षाकी फुहार हैं। यह सब क्या आप ही नहीं कर रहे हैं, मुझपर बरसनेवाले और मुझे चोट पहुंचानेवाले पत्थरोंमें भी क्या आप ही विद्यमान नहीं हैं?

इसमें कहनेको कुछ नहीं है। हम केवल इस अनुभूतिकी पूर्णताके आगे सिर ही नवा सकते हैं।

३-४-७०

४४५ — भगवान्में ऐसी दो वस्तुएं हैं जिन्हें मनुष्य बुरा कहते हैं, एक वह, जिसे वे एकदम नहीं समझ सकते और दूसरी वह, जिसे वे गलत समझते हैं, और जिसे पाकर

दुरुपयोग करते हैं: जिस वस्तुकी वे मिथ्या गर्वसे तलाश करते हैं तथा जिसे वे समझते भी अस्पष्ट रूपसे हैं उसे ही वे भला और पवित्र कहते हैं। किन्तु मेरे लिये भगवान्‌की सभी वस्तुएं प्रेमके योग्य हैं।

४४६ — हे मेरे प्रभु, वे कहते हैं कि मैं पागल हूं क्योंकि मैं तुझमें कोई दोष नहीं देखता; किन्तु यदि मैं सचमुचमें तेरे प्रेममें पागल हूं तो मैं अपने होश-हवासमें वापिस नहीं आना चाहता।

४४७ — वे चिल्लाते हैं: "भ्रान्तियां, मिथ्यात्व, लड़खड़ाहटें"! कितनी सुन्दर हैं तेरी भ्रान्तियां, प्रभु! तेरे मिथ्यात्व ही 'सत्य'को जीवित रखते हैं; तेरी लड़खड़ाहटें ही जगत्‌में पूर्णता लाती हैं।

४४८ — मैं भावोद्वेगोंको चिल्लाते सुनता हूं, "जीवन, जीवन, जीवन!" आत्माका उत्तर होता है: "भगवान्, भगवान्, भगवान्!" जबतक तुम जीवनको भगवान्‌के रूपमें नहीं देखोगे और उसी रूपमें उससे प्रेम नहीं करोगे, तबतक जीवन तुम्हारे लिये मुहरबन्द आनन्द रहेगा।

४४९ — इन्द्रियां कहती हैं: "वह उससे प्रेम करता है", किन्तु आत्मा कहती है: "भगवान्, भगवान्, भगवान्।" जीवनका सर्वग्राही सूत्र यही है।

इसी प्रकार श्रीअरविन्द जीवनके रहस्यको हमारे सामने प्रकट एवं सूत्रबद्ध करते हैं। अब इसे समझना और जीवनमें उतारना ही बाकी है।

४-४-७०

४५० — यदि तुम क्षुद्रतम कीड़े और अधमतम अपराधीसे प्रेम नहीं कर सकते तो तुम यह कैसे सोच सकते हो कि तुमने अपनी आत्मामें भगवान्‌को स्वीकार कर लिया है?

४५१ — संसारको अलग रखकर भगवान्‌के साथ प्रेम करना उनकी तीव्र किन्तु अपूर्ण आराधना है।

४५२ — क्या प्रेम सिर्फ ईर्ष्याकी पुत्री या दासी है? यदि कृष्ण चंद्रावली'से प्रेम करते हैं तो मैं भी उससे प्रेम क्यों न करूं?

४५३ — चूंकि तुम भगवान्‌से ही प्रेम करते हो इसलिये तुम्हारी मांग होती है कि वे दूसरोंसे प्रेम न करके तुमसे ही प्रेम करें, किन्तु तुम्हारी यह मांग झूठी है, सत्यकी तथा अन्य वस्तुओंकी प्रकृतिसे उल्टी है। कारण, वे तो एकमेव हैं किन्तु तुम बहुतोंमेंसे एक हो। वस्तुतः तुम अपने हृदय और अपनी आत्मामें सब प्राणियोंके साथ एक हो जाओ, तब संसारमें उनके पास प्रेम करनेके लिये तुम्हारे सिवाय अन्य कोई नहीं होगा।

४५४ — मेरा झगड़ा उन लोगोंके साथ है जो इतने मूर्ख हैं कि मेरे प्रेमीसे प्रेम नहीं करते, उनके साथ मेरा झगड़ा नहीं जो मेरे साथ उनके प्रेममें हिस्सा बंटाते हैं।

४५५ — जिनसे भगवान् प्रेम करते हैं उनमें आनन्द मानो; जिनसे वे प्रेम न करनेका बहाना करते हैं, उनपर दया करो।

ईर्ष्याकी यह अधिक-से-अधिक सुन्दर आलोचना है, साथ ही इससे मुक्त होनेका सर्वोत्तम उपाय भी यह है। अहंभावकी सीमाओंको पार करके तथा भागवत प्रेमके साथ युक्त होकर ही ऐसा किया जा सकता है, उस भागवत प्रेमके साथ जो शाश्वत और विश्वव्यापी है।

६-४-७०

४५६ — क्या तुम नास्तिकसे इसलिये घृणा करते हो क्योंकि वह भगवान्‌से प्रेम नहीं करता? तो क्या तुमसे भी घृणा की जाय, क्योंकि तुम भी भगवान्‌के साथ पूरा-पूरा प्रेम नहीं करते?

'कृष्ण सब गोपियोंमें सबसे अधिक प्रेम राधासे करते थे पर वे चंद्रावली तथा अन्य गोपियोंसे भी तो प्रेम करते थे।

४५७ — विशेषतया एक वस्तुमें धर्म और गिरजाघर असुरके सम्मुख अपनी हार मान लेते हैं और यह है उनके अभिशाप। जब पादरी अभिशापका प्रसंग छेड़ता है तो मैं शैतानको प्रार्थना करते देखता हूं।

४५८ — इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब पुरोहित या पादरी शाप दे रहा होता है तो वह देवतासे ही कुछ कह रहा होता है। किन्तु तब वह अपने शत्रुके साथ-साथ क्रोधके देवताकी, अन्धकारके देवताकी अराधनामें लगा होता है। कारण उसकी जो वृत्ति भगवान्‌की ओर होगी उसी वृत्तिके साथ भगवान् उसे ग्रहण करेंगे।

४५९ — शैतान मुझे तबतक बहुत कष्ट देता रहा जबतक मुझे यह पता न लगा कि भगवान् ही मुझे प्रलोभन दे रहे थे; तब उसकी वेदना मेरी आत्मासे सदाके लिये चली गयी।

४६० — मैं शैतानसे घृणा करता था और उसके प्रलोभनों और उसकी यंत्रणाओंसे तंग आ गया था। पर मुझे पता नहीं उसके विदाईके शब्दोंकी आवाज इतनी मधुर क्यों थी कि जब वह लौटकर मेरे पास आता — जैसा कि प्रायः ही होता था — तो मैं दुःखके साथ ही उसे अस्वीकार करता था। तब मैंने जाना कि यह तो कृष्णकी ही लीला थी और मेरी घृणा हंसीमें बदल गयी।

४६१ — उन लोगोंके अनुसार संसारमें बुराई इसलिये है कि शैतानने भगवान्‌पर विजय पा ली है, किन्तु मैं अपने प्रेमपात्रके विषयमें अधिक गर्वपूर्वक सोचता हूं। मेरा विश्वास है कि उनकी इच्छाके बिना स्वर्गमें या नरकमें, जलमें या थलमें, कहीं भी कुछ नहीं होता।

सर्वोच्च भगवान्‌में विरोधी वस्तुएं परस्पर समझौता कर लेती हैं और एक-दूसरेको पूर्ण बनाती हैं। अभिव्यक्त सृष्टिमें, वस्तुतः विभाजन ही विरोधी वस्तुओंको जन्म देता है; किंतु जब व्यक्ति अपनी चेतनाको भागवत चेतनाके साथ युक्त कर लेता है तो विरोध भी समाप्त हो जाता है।

७-४-७०

४६२ — अपने अज्ञानमें हम बच्चों जैसे हैं, हम सीधे और बिना सहारेके चलनेमें अपनी सफलतापर गर्व करते हैं तथा चलनेके लिये इतना उत्सुक रहते हैं कि अपने कन्धोंपर मांके संभालनेवाले स्पर्शको अनुभव ही नहीं करते। जब हम जागते और पीछे देखते हैं तो पाते हैं कि सर्वदा भगवान् ही हमें पकड़े हुए चला रहे थे।

४६३ — पहले-पहल जब मैं पापमें जा गिरता तो रोया करता था और अपने ऊपर क्रुद्ध हो उठता था और भगवान्से भी नाराज हो जाता कि उन्होंने यह कैसे होने दिया। उसके बाद मैं बस इतना ही पूछ पाता था : "ऐ मेरे बाल सखा, तूने मुझे फिरसे कीचड़में क्यों लुढ़का दिया?" फिर मुझे यह भी बहुत दुस्साहस और धृष्टताकी बात लगी। मैं बस चुपचाप उठ खड़ा होता, उसे कनखियोंसे देखता और अपने-आपको धो डालता था।

जबतक व्यक्ति अपने पुण्यपर अभिमान करता रहेगा, परम प्रभु उसे विनयकी आवश्यकता सिखानेके लिये पाप-गर्तमें गिराते रहेंगे।

८-४-७०

४६४ — भगवान्ने जीवनको ऐसे व्यवस्थित किया है कि संसार आत्माका पति बन गया है और कृष्ण हैं उसके दिव्य यार। हमारे ऊपर संसारकी सेवा करनेका एक ऋण है और हम उससे एक विधानके द्वारा, एक बाध्य करनेवाले मतके द्वारा तथा दुःख-सुखके सार्वजनीन अनुभवद्वारा बन्धे हुए हैं, परन्तु हमारे हृदयकी पूजा, हमारी शक्ति और गुप्त आनन्द तो हमारे दिव्य प्रेमीके लिये ही है।

४६५ — भगवान्का आनन्द गूढ़ और अद्भुत है; यह एक रहस्यकी वस्तु है और एक ऐसा परमोल्लास है जिसपर समझदारी उपहास करनेके लिये मुंह बनाया करती है, परन्तु जिस आत्माने उसे एक बार चख लिया है वह कभी उसका त्याग नहीं कर सकती, भले ही उसके कारण संसारमें चाहे जितनी बदनामी, पीड़ा और परेशानी उठानी पड़े।

अभीतक तो संसार इस विशुद्ध, आलोकपूर्ण, दिव्य आनंदका विरोधी ही प्रतीत होता है; किन्तु एक दिन आयेगा जब संसार भी इस दिव्य आनंदको अभिव्यक्त करेगा। इस कार्यके लिये उसे तैयार करना होगा।

९-४-७०

४६६ — भगवान् जगद्गुरु तेरे मनसे कहीं अधिक ज्ञानी हैं; बस, उन्हीं पर विश्वास रख, न कि उस चिर-स्वार्थपरायण, उद्धत संदेहवादीपर।

४६७ — अविश्वासी मन सर्वदा संदेह करता है, क्योंकि वह समझ नहीं सकता; परन्तु भगवत्-प्रेमीका विश्वास जाननेके लिये आग्रह करता है यद्यपि समझ नहीं पाता। हमारे अन्धकारके लिये ये दोनों ही आवश्यक हैं। परन्तु इस विषयमें कोई सन्देह नहीं कि उन दोनोंमेंसे अधिक शक्तिशाली कौन है। जिसे मैं अभी नहीं समझ पाता उसे किसी दिन आयत्त कर लूंगा, पर यदि मैं विश्वास और प्रेमको ही खो बैठूं तो एकदम उस लक्ष्यसे भ्रष्ट हो जाऊंगा जिसे भगवान्‌ने मेरे सामने रखा है।

४६८ — मैं भगवान्‌से, अपने पथप्रदर्शक और गुरुसे, प्रश्न कर सकता हूं और पूछ सकता हूं कि क्या मैं सही हूं अथवा अपने प्रेम और ज्ञानके वश तूने मेरे मनको मुझे धोखा देनेका मौका दिया है? तू चाहे तो अपने मनपर सन्देह कर, पर इस बातपर सन्देह न कर कि भगवान् तुझे पथ दिखा रहे हैं।

जीवन हमें इसलिये दिया गया है कि हम भगवान्‌को प्राप्त कर सकें और उनके साथ संयुक्त हो सकें।

मन हमें फुसलानेकी चेष्टा करता है कि ऐसा नहीं है; क्या हम इस झूठेका विश्वास करें?

१०-४-७०

४६९ — चूंकि तुझे सर्वप्रथम भगवान्के विषयमें अपूर्ण धारणाएं दी गयी थीं इसलिये अब तू नाराज हो रहा है और उन्हें अस्वीकार कर रहा है। ऐ मनुष्य ! क्या तू अपने शिक्षक-पर सन्देह करता है क्योंकि उसने तुझे आरंभमें ही सारा ज्ञान नहीं दे दिया था ? तू उस अपूर्ण सत्यका अध्ययन कर और उसे यथास्थान रख दे ताकि तू सुरक्षित रूपमें उस विशालतर ज्ञानतक जा सके जो अब तेरे सम्मुख उद्घाटित हो रहा है।

४७० — बस, यही तरीका है जिससे भगवान् अपने प्रेमवश शिशु अन्तरात्मा तथा दुर्बल प्राणीको शिक्षा देते हैं — वे उन्हें एक-एक पग आगे ले जाते हैं तथा अपने चरम एवं अभी अप्राप्य पर्वत-शृंगोंका दर्शन नहीं होने देते। और, क्या हम सबके अन्दर कोई-न-कोई दुर्बलता नहीं है ? क्या उनकी दृष्टिमें हम सब-के-सब केवल नन्हें बच्चे ही नहीं हैं ?

४७१ — मैंने देखा है कि भगवान्ने मुझे जो कुछ नहीं दिया वह अपने प्रेम तथा ज्ञानके वश ही रोक रखा है। यदि मैंने उस समय उसे पा लिया होता तो मैं किसी महान् अमृतको एक महान् विषमें बदल देता। फिर भी कभी-कभी, जब हम हठ करते हैं तो, भगवान् हमें विष पीनेके लिये दे देते हैं ताकि हम उससे मुंह मोड़ना सीख सकें तथा ज्ञानपूर्वक उनकी दिव्य सुधा और अमृतरसका आस्वादन कर सकें।

जब मनुष्य थोड़ा और बुद्धिमान् हो जायगा तो वह किसी भी विषय-में शिकायत नहीं करेगा और भगवान्द्वारा दी गयी वस्तुओंको उनकी कृपाके रूपमें स्वीकार करेगा, ऐसी कृपाके रूपमें जो अत्यधिक अनुग्रहपूर्ण है।

हम उनके प्रति जितने अधिक समर्पित होंगे उतना अधिक उन्हें समझ सकेंगे।

हम उनके प्रति जितने अधिक कृतज्ञ होंगे उतने अधिक प्रसन्न रहेंगे।

११-४-७०

४७२ — आज नास्तिकको भी यह देख सकना चाहिये कि सृष्टि किसी असीम और शक्तिशाली उद्देश्यकी ओर अग्रसर हो रही है, उस उद्देश्यकी ओर जिसे क्रमविवर्तन अपने स्वभाववश ही स्वीकार करता है। परन्तु असीम उद्देश्य और उसकी परिपूर्ति पहले ही मान लेती है कि कोई असीम प्रज्ञा है जो तैयार करती, रास्ता दिखाती, गढ़ती, रक्षा करती और समर्थन करती है। तब उस दिव्य प्रज्ञाका आदर कर, और, मन्दिरमें धूपबत्तीके द्वारा नहीं तो, अपनी अन्तरात्मामें चिन्तनके द्वारा उसकी पूजा कर। यदि तू अनन्त प्रेमवाले हृदय तथा अनन्त आत्म-ज्योतिवाले मनको अस्वीकार करे तो भी उसकी पूजा कर। तब तू देखेगा कि, यद्यपि तू बिना जाने जिसका आदर करता और पूजा करता है वह श्रीकृष्ण ही हैं।

शब्दोंके परे और विचारोंके परे भगवान्‌की सर्वोच्च उपस्थिति हमें अपना अनुभव कराती है, तथा आश्चर्य और प्रशंसा करनेके लिये बाधित करती है।

हमें उन सब मानसिक धारणाओंसे पृथक् रहना चाहिये जो वस्तुओं-को सीमित एवं विकृत करती हैं। हमें संपर्कको शुद्ध रखनेके लिये प्रयत्न करना होगा।

१२-४-७०

४७३ — प्रेमेश्वरने कहा है, जो लोग अज्ञेय और अनिर्देश्यकी उपासना करते हैं वे मेरी ही उपासना करते हैं और मैं उन्हें स्वीकार करता हूं। उन्होंने अपनी वाणीके द्वारा मायावादी और अज्ञेयवादीका समर्थन किया है। तब, हे भक्त, तू भला उसकी निन्दा क्यों करता है जिसे तेरे परम प्रभुने स्वीकार कर लिया है ?

भागवत दृष्टिमें सभी सच्ची मानवीय अभीप्साएं स्वीकार करने योग्य हैं, चाहे उनके स्वरूपोंमें कितनी भी विषमताएं या प्रत्यक्ष असंगतियां क्यों न हों।

और ये सब मिलकर भी भागवत सत्ताको अभिव्यक्त करनेके लिये काफी नहीं हैं।

१३-४-७०

४७४ — जिस कालविन[1] ने शाश्वत नरकके अस्तित्वका प्रतिपादन किया उसने भगवान्‌को नहीं जाना, बल्कि उनके एक भयावह छद्मवेशको ही उनका शाश्वत सत्य बना दिया। यदि कोई नित्य नरक हो तो वह केवल नित्य आनन्दोल्लासका ही एक निवास-स्थान हो सकता है; क्योंकि भगवान् आनन्द हैं और उनके आनन्दकी शाश्वतताके अतिरिक्त दूसरी कोई शाश्वतता है ही नहीं।

४७५ — दांते[2] ने जब यह कहा कि भगवान्‌के पूर्ण प्रेमने ही शाश्वत नरककी सृष्टि की थी तो संभवतः वह जितना जानता था उससे कहीं अधिक ज्ञानकी बात लिख गया; क्योंकि यदा-कदा प्राप्त होनेवाली झांकियोंके द्वारा मुझे यह धारणा हो गयी है कि कोई एक नरक है जहां हमारी अन्तरात्मा युगोंतक असह्य आनन्दका उपभोग करती है तथा मधुर और भयंकर रुद्रकी एकान्त गोदमें मानों चिरदिन लोटा करती है।

भागवत वैभव मनुष्यकी क्षुद्रता और संकीर्णताके लिये बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है, वह उसे कठिनाईसे सहन कर पाती है, और आनंदकी शाश्वतता मनुष्यके लिये बहुत अधिक असहनीय हो सकती है।

१४-४-७०

४७६ — जगद्‌गुरु भगवान्‌का शिष्य बनना, जगत्पिता भगवान्‌का पुत्र होना, जगन्माता भगवान्‌का स्नेह पाना, दिव्य सुहृद्‌का हाथ पकड़े रहना, अपने दिव्य सहचर तथा बाल-सखाके साथ हंसना-खेलना, स्वामी भगवान्‌की आनन्दपूर्वक सेवा करना, अपने दिव्य प्रेमीसे उल्लासके साथ प्रेम करना — मानवशरीरमें जीवनके ये सात प्रकारके आनन्द हैं। क्या तू इन सबको एक ही सर्वोत्तम और सतरंगी सम्बन्धके अन्दर युक्त कर सकता है? तब तुझे किसी स्वर्गकी आवश्यकता न रहेगी और तू अद्वैतवादीकी मुक्तिको भी अतिक्रम कर जायगा।

---

[1]सोलहवीं शताब्दीके एक प्रसिद्ध सुधारक और लेखक।
[2]इटलीके सर्वश्रेष्ठ कवि।

इसके आगे और कुछ कहनेको नहीं है। यह कार्य-व्यवस्था अपने-आपमें पूर्ण है।

अब हमें इसे केवल चरितार्थ करना है।

१५-४-७०

४७७ — यह संसार बदलकर स्वर्गकी प्रतिमूर्ति कब बनेगा ? जब समूची मानवजाति बालक और बालिकाएं बन जायगी और उनके साथ-साथ स्वयं भगवान् भी कृष्ण और कालीके रूपमें प्रकट होंगे, जो उस दलके सबसे अधिक प्रसन्न बालक और सबसे अधिक शक्तिशाली बालिका होंगे और स्वर्गके बागीचेमें एक संग खेलेंगे। सांमी अदन (सेमेटिक ईडन) काफी अच्छा था, पर आदम और हौवा इतनी बड़ी उम्रके थे और स्वयं उनके भगवान् भी इतने अधिक वृद्ध और कठोर और गंभीर थे कि सर्पके प्रस्तावका प्रतिरोध न कर सके।

४७८ — सांमियोंने एक ऐसे भगवान्की कल्पना करके मनुष्य-जातिको व्यथित किया जो कठोर और महाप्रतापी राजा है, नियम-निष्ठ विचारकर्ता है और जिसका हास्य-उल्लाससे कोई सरोकार नहीं। परन्तु हम लोग, जिन्होंने कृष्णको देखा है, यह जानते हैं कि वह एक बालक है जो खेलनेका बड़ा शौकीन है तथा एक बच्चा है जो शरारत और सुखदायी खिलखिलाहटसे भरा रहता है।

४७९ — जो भगवान् हंस नहीं सकता वह इस हास्यजनक विश्व-का निर्माण भी न कर पाता।

मिथ्यात्वकी शक्तियोंके विरुद्ध व्यंगका शस्त्र ही अत्यधिक बलशाली प्रमाणित होता है।

एक वाक्यसे ही श्रीअरविंद मनुष्य-निर्मित देवताओंमेंसे एककी शक्तिको नष्ट कर देते हैं।

१७-४-७०

४८० — भगवान्‌ने एक बच्चेको दुलारनेके लिये अपनी आनंदमय गोदमें ले लिया, परंतु मां रोने लगी और उसे सांत्वना नहीं दी जा सकी, क्योंकि उसके बच्चेका कोई अस्तित्व ही नहीं रहा।

४८१ — जब मैं किसी दुःख या शोक या दुर्भाग्यके कारण कष्ट पाता हूं तो कह उठता हूं : "अच्छा, मेरे खेलके पुराने साथी, तूने फिर मुझे सताना आरंभ कर दिया", और फिर मैं दुःखका सुख, शोकका हर्ष तथा दुर्भाग्यका सौभाग्य प्राप्त करनेके लिये बैठ जाता हूं; तब भगवान् देखते हैं कि वे पकड़े गये और वह अपने भूतों तथा हौओंको मुझसे हटा लेते हैं।

श्रीअरविंद कितने चमत्कारपूर्ण हास्यके साथ हमें साधारण मानव चेतनाकी असत्यता और साथ ही भागवत चेतनाके आलोकपूर्ण एवं सर्वशक्तिमान् आनंदको समझानेका प्रयत्न करते हैं, जिसे हमें प्राप्त करना है।

१८-४-७०

४८२ — दिव्य ज्ञानके साधकको गोपियोंके चीर हरणमें जीवके साथ शिवके व्यवहारका एक अत्यंत गहरा रूपक दिखायी देता है, भक्तको अपने हृदयकी गुह्य अनुभूतियोंकी भागवत कर्मके रूपमें एक पूर्ण अभिव्यक्ति दिखायी देती है और लंपट तथा अतिनैतिक (एक ही मनोभावके दो रूप) को केवल कामुकतापूर्ण कहानी दिखायी देती है। स्वयं अपने अंदर जो कुछ होता है मनुष्य उसे ही सामने लाते और उसीको शास्त्रोंमें प्रतिफलित देखते हैं।

४८३ — मेरे प्रेमीने मेरे पापके वस्त्रको उतार लिया और मैंने उसे खुशीसे गिर जाने दिया। तब उन्होंने मेरे पुण्यके वस्त्रको खींचा, पर मैं लज्जित और भयभीत हो उठा और उन्हें रोक दिया। परंतु जब उन्होंने उसे मुझसे जबर्दस्ती छीन लिया केवल तभी मुझे पता चला कि मेरी अंतरात्मा मुझसे कैसे छिपी हुई थी।

(इसपर माताजी मौखिक रूपसे कहती हैं:) चलो, हम अपने पुण्यके चोगे-को त्याग दें, ताकि 'सत्य'के लिये तैयार हो सकें।

२२-४-७०

४८४ — पाप श्रीकृष्णकी एक चालाकी और छद्मवेश है जिससे वह धर्मात्माओंकी दृष्टिसे अपने-आपको छिपाये रखते हैं। ऐ धर्मान्ध! पापीमें भगवान्‌को देख, अपने अंदर पापको देख जो तेरे हृदयको पवित्र बना रहा है और अपने भाईको छातीसे लगा।

सदा की भांति यहां भी श्रीअरविंद अपने विशिष्ट विनोदपूर्ण ढंगसे हमें बताते हैं कि भागवत सत्य पाप और पुण्य दोनोंसे ऊपर है।

१९-४-७०

४८५ — भगवान्‌के प्रति प्रेम, मनुष्योंके प्रति उदारता — बस, यही पूर्ण प्रज्ञाकी ओर जानेका पहला पग है।

४८६ — जो असफलता और अपूर्णताकी निन्दा करता है वह भगवान्‌की निन्दा करता है; वह अपनी निजी आत्माको सीमित करता और अपनी निजी दृष्टिको धोखा देता है। निन्दा मत कर, बल्कि प्रकृतिका निरीक्षण कर, अपने भाइयोंकी सहायता कर और उन्हें स्वस्थ बना तथा सहानुभूतिके द्वारा उनकी क्षमता और साहसको प्रबल बना।

४८७ — पुरुषके प्रति प्रेम, स्त्रीके प्रति प्रेम, चीजोंके प्रति प्रेम, अपने पड़ोसीके प्रति प्रेम, अपने देशके प्रति प्रेम, पशुओंके प्रति प्रेम, मनुष्यजातिके प्रति प्रेम आदि सभी उस भगवान्‌के प्रति प्रेम हैं जो इन सजीव प्रतिमाओंके अंदर प्रतिफलित होता है। हमें प्रेम करना और शक्तिशाली बनना, सब कुछ उपभोग करना, सब-को सहायता देना और नित्य-निरंतर प्रेम करते रहना है।

४८८ — यदि ऐसी चीजें हों जो रूपांतरित होना एकदम अस्वी-

कार करती हों अथवा संशोधित होकर भगवान्‌की अधिक पूर्ण प्रतिभा बननेसे इन्कार करती हों तो हृदयमें कोमलता, पर प्रहारमें निष्ठुरता रखकर उनका विनाश किया जा सकता है। परंतु सबसे पहले इस विषयमें निःसंदिग्ध हो जा कि भगवान्‌ने ही तुझे तेरी तलवार और तेरा कार्य प्रदान किया है।

४८९ — मुझे अपने पड़ोसीसे प्यार करना चाहिये, पर इसलिये नहीं कि वह हमारे पड़ोसमें रहता है, — क्योंकि आखिर पड़ोसमें और दूरमें क्या रखा है? और न इसलिये कि धर्म मुझे यह सिखाते हैं कि वह मेरा भाई है, — क्योंकि उस भ्रातृत्वकी जड़ कहां है? बल्कि इसलिये कि वह स्वयं मेरी आत्मा है। पड़ोस और दूरी शरीरको प्रभावित करते हैं पर हृदय उनसे परे चला जाता है। भ्रातृत्व रक्तका, देशका, धर्मका या मानवताका होता है, पर जब स्वार्थ अपनी परिपूर्तिके लिये मचलता है, तब इस भ्रातृत्वका क्या हाल होता है? जब मनुष्य भगवान्‌में निवास करता है और अपने मन, हृदय और शरीरको उनकी विश्वव्यापी एकताकी प्रतिमूर्तिमें बदल देता है केवल तभी उस गभीर, निःस्वार्थ एवं दुर्धर्ष प्रेमको पाना संभव होता है।

एकता तथा परस्पर प्रेमके लिये दिये गये सभी मानवीय कारणोंका मूल्य कम होता है और उनका प्रभाव कम ही होता है। भगवान्‌के प्रति सचेत बनकर, उनके साथ तादात्म्य पाकर ही सच्चा ऐक्य संभव हो सकता है।
२०-४-७०

४९० — जब मैं श्रीकृष्णमें निवास करता हूं तब अहंकार और स्वार्थ विलीन हो जाते हैं। केवल भगवान् ही मेरे प्रेमको अतल और असीम होनेके योग्य बना सकते हैं।

४९१ — श्रीकृष्णमें निवास करनेपर शत्रुता भी प्रेमकी ही एक क्रीड़ा तथा भाइयोंका मल्लयुद्ध बन जाती है।

४९२ — जिस जीवने उच्चतम आनंदको हस्तगत कर लिया है उसके लिये जीवन कोई अशुभ वस्तु या दुःखदायी भ्रम नहीं हो

सकता; उसके लिये तो सारा जीवन ही किसी दिव्य प्रेमी तथा बालसखाका लहराता प्रेम और हास्य बन जाता है।

किसी भी परिस्थितिमें दिव्य संबंध रख सकना परमानंदका रहस्य है।

२१-४-७०

४९३ —— क्या तू भगवान्को निराकार अनंतके रूपमें देख सकता है और फिर भी उनसे वैसे ही प्यार कर सकता है जैसे कोई मनुष्य अपनी प्रेमिकासे प्यार करता है? तभी कहा जा सकता है कि अनंतका उच्चतम सत्य तेरे सम्मुख प्रकट हो गया है। फिर तू क्या अनंतको एक गुप्त, आलिंगन करने योग्य शरीर प्रदान कर सकता है और ये जो दृश्य और ग्राह्य शरीर हैं उन-मेंसे प्रत्येकमें और सबमें उन्हें देख सकता है? तभी कहा जा सकता है कि उसका विशालतम और गभीरतम सत्य भी तेरे अधिकारमें आ गया है।

४९४ —— भागवत प्रेम एक साथ द्विविध क्रीड़ा करता है —— उसकी एक तो विश्वव्यापी गति, पातालके समुद्रकी तरह गभीर, शांत और अतल होती है, जो समग्र जगत्के ऊपर तथा उसके अंदरकी प्रत्येक चीजके ऊपर झुकी रहती है मानों किसी समतल भूमिपर एकसमान दबाव डालकर झुकी हुई हो, और दूसरी शाश्वत गति जो उसी समुद्रकी नर्तनकारी सतहकी तरह शक्तिशाली, तीव्र और आनंदपूर्ण होती है जो अपनी तरंगोंके बल और पराक्रमको बदलती रहती है तथा उन वस्तुओंको चुनती है जिनपर वह अपने फेन और फुहारेके चुंबन देती हुई तथा अपने निमज्जित करनेवाले जलसे आलिंगन करती हुई गिरना चाहती है।

अपनी बात समझानेके लिये श्रीअरविंदने उन चित्रोंका उपयोग किया है जो सबके लिये सुलभ हैं। किन्तु वास्तवमें ऐक्यके चमत्कार इन मान-वीय चित्रोंसे अनंतगुना परे है।

२२-४-७०

४९५ — मैं पहले दुःख-दर्दसे घृणा किया करता, उससे बचनेकी चेष्टा किया करता तथा उसके आगमनपर रोष किया करता था। परंतु अब मैं देखता हूं कि यदि मैंने दुःख न भोगा होता तो अब, इस प्रकार प्रशिक्षित और पूर्ण बनकर, अपने मन, हृदय और शरीरमें आनंद भोग करनेकी असीम और असंख्य रूपसे बोधक्षम इस क्षमताको अभी आयत्त न कर पाता। जब भगवान् एक निर्दयी और अत्याचारी व्यक्तिके रूपमें अपने-आपको छिपाये रखते हैं तो भी अंतमें वह अपने पक्षकी यथार्थता सिद्ध करते हैं।

४९६ — मैंने शपथ ली कि मैं संसारके शोक-ताप और संसारकी मूढ़ता, निर्दयता तथा अन्यायसे कभी दुःख नहीं पाऊंगा और मैंने अपने हृदयको सहनशीलतामें पातालकी चक्कीकी तरह कठोर बना लिया एवं अपने मनको इस्पातकी चिकनी सतहके समान। अब मुझे कोई कष्ट नहीं होता था, पर मैं सुख-भोगकी क्षमता भी खो बैठा, फिर भगवान्ने मेरा हृदय चूर-चूर कर डाला और मेरे मनको जोत दिया। उसके बाद मैं निर्दय और अविराम यातनामेंसे गुजरकर एक सुखकारी दुःखहीनताके अंदर तथा शोक, क्रोध और विद्रोहमेंसे होकर एक अनंत ज्ञान एवं सुस्थिर शांतिके अंदर जा पहुंचा।

यह वही पाठ है जो परम प्रभु उस कायाको सिखाना चाहते हैं जिसका वे रूपांतर करनेमें लगे हैं।

२३-४-७०

४९७ — जब मैंने जाना कि दुःख आनंदका ही उल्टा पहलू है और उसीकी प्राप्तिका साधन है तो मैं अपने ऊपर आघातोंकी बौछारका स्वागत करने लगा तथा अपने सारे अंगोंमें पीड़ा बढ़ाने लगा; क्योंकि उस समय भगवान्का उत्पीड़न भी मुझे धीमा, स्वल्प और अपर्याप्त प्रतीत होता था। तब मेरे परम प्रेमीको मेरा हाथ पकड़कर रोकना पड़ा और चिल्लाकर कहना पड़ा : "बंद करो; क्योंकि मेरे कोड़े ही तुम्हारे लिये काफी हैं।"

४९८ — पुराने युगके साधुओं तथा अनुतापियोंका अपने-आपको

पीड़ा पहुंचाना उल्टे पथपर चलना और मूर्खतापूर्ण था; फिर भी उनकी स्वभाव-विकृतिके पीछे ज्ञानका एक प्रच्छन्न रूप विद्यमान था।

४९९ — भगवान् हमारे विज्ञ और पूर्ण मित्र हैं, क्योंकि वह एक ही साथ यह जानते हैं कि कब थप्पड़ लगाना और कब पुचकारना चाहिये, कब हमारी रक्षा और सहायता करनी चाहिये और वैसे ही कब हमारी हत्या करनी चाहिये।

बस, एक ही ज्ञान है जो सच्चा हो सकता है और वह है परमेश्वरका ज्ञान। अतः व्यक्तिगत इच्छाओंका पूरा त्याग करके केवल वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं — यही सचमुच ज्ञानी बननेकी एकमात्र रीति है।

२४-४-७०

५०० — समस्त प्राणियोंके दिव्य सुहृद् शत्रुका चेहरा पहनकर अपनी मित्रताको तबतक छिपाये रखते हैं जबतक कि वह हमें उच्चतम स्वर्गोंके योग्य नहीं बना लेते; उसके बाद, जैसा कि कुरुक्षेत्रमें हुआ था, युद्ध, यंत्रणा तथा विनाशके देवताका भयंकर रूप हट जाता है और श्रीकृष्णकी मधुर मूर्ति, करुणा तथा पुनः-पुनः आलिंगित देह उनके चिर-साथी और बाल-सखाकी विचलित आत्मा तथा शुद्ध नेत्रोंके सामने चमक उठती हैं।

५०१ — यंत्रणा हमें आनंदके अधीश्वरकी संपूर्ण शक्ति धारण करनेके योग्य बनाती है; यह हमें बल-वीर्यके अधीश्वरकी दूसरी लीलाको सहन करनेकी क्षमता भी प्रदान करती है। दुःख वह कुंजी है जो बल-सामर्थ्यका द्वार उन्मुक्त करती है; दुःख वह राजपथ है जो हमें आनंद-नगरीतक पहुंचा देता है।

५०२ — फिर भी, ऐ मानवात्मा, दुःखकी खोज मत कर, क्योंकि यह भगवान्की इच्छा नहीं है, केवल उनके आनंदकी ही खोज कर; दुःख-कष्टका जहांतक प्रश्न है, वह तो निश्चित रूपसे उनके विधानके अनुसार उतनी बार और उतनी ही मात्रा-

में तेरे पास आयेगा ही जितनी बार और जितनी मात्रामें आना तेरे लिये आवश्यक है। उस समय उसे सहन कर ताकि तू अंतमें उनके आनंदोल्लाससे भरे हृदयको खोज सके।

५०३ — और न तू, ऐ मनुष्य, अपने साथीपर ही कोई दुःख-कष्ट फेंक; दुःख पहुंचानेका अधिकार एकमात्र भगवान्‌को ही है; अथवा उन्हें है जिनपर स्वयं भगवान्‌ने उसका भार सौंपा है। परंतु धर्मान्धताके वश, टार्कमादा[1]की तरह ऐसा न मान बैठ कि तू भी उनमेंसे एक है।

यह कभी न भूलो कि जबतक जीवन और मनुष्यके संबंधमें तुम्हारी अपनी पसंद बनी रहेगी तबतक तुम भगवान्‌के पवित्र तथा पूर्ण यंत्र नहीं बन सकते।

२८-४-७०

५०४ — प्राचीन युगोंमें शक्ति और कर्मसे एकदम परिपूर्ण आत्माओंकी एक श्रेष्ठतम दृढ़ोक्ति थी: "उतने ही निश्चित रूपमें जितने निश्चित रूपमें भगवान् विद्यमान हैं।" परंतु हमारी आधुनिक आवश्यकताके लिये दूसरी दृढ़ोक्ति अधिक उपयुक्त होगी: "उतने ही निश्चित रूपमें जितने निश्चित रूप-में भगवान् प्यार करते हैं।"

हमारे दुःखी युगके लिये — जो बुद्धिके अत्यधिक प्रभुत्वके कारण लगभग शुष्क हो गया है, — भागवत प्रेमकी अपेक्षा अधिक आवश्यक और मूल्यवान् कुछ भी नहीं है।

२९-४-७०

---

[1]यह स्पेनकी 'धार्मिक कचहरी' (धर्मविरोधी लोगोंकी खोज करने और दण्ड देनेवाली संस्था) का एक प्रधान अफसर था।

५०५ — सेवा करना मुख्यतः भगवत्-प्रेमी और भगवद्-ज्ञानीके लिये इस कारण उपयोगी होती है कि वह उसे भगवान्की स्थूल कलाकारीके विलक्षण आश्चर्योंको पूर्ण ब्योरेके साथ समझने तथा उनका मूल्यांकन करनेकी योग्यता प्रदान करता है। एक तो सीखता और चिल्लाकर कहता है: "देख, किस तरह आत्मा जड़तत्त्वमें अभिव्यक्त हुई है"; दूसरा कहता है: "देख, मेरे प्रेमी और प्रभुका, पूर्ण कलाकार और सर्व-शक्तिमान् हाथका स्पर्श देख।"

हम भगवान्की सेवा कैसे कर सकते हैं जब कि उनके बिना हमारी कोई सत्ता ही नहीं है — ज्यादा-से-ज्यादा हम यही कर सकते हैं कि उन्होंने हमें जो यह सब दिया है उसीका एक अंश फूहड़पनसे उनको अर्पित कर दें।

३-४-७०

५०६ — ऐ विश्वके ऐरिस्टोफेनीस[१]! तू अपने जगत्को देखता है और मन-ही-मन मीठी हंसी हंसता है। पर क्या तू मुझे भी दिव्य नेत्रोंसे देखने और अपने विश्वव्यापी हास्यमें भाग लेने न देगा?

निःसंदेह, पृथ्वी जैसी है उसपर हंस सकनेके लिये हमारे अंदर दिव्य अंतर्दृष्टि जैसी ही समग्र अंतर्दृष्टि होनी चाहिये।

१-५-७०

५०७ — कालिदास एक निर्भीक रूपक देते हुए कहते हैं कि कैलासके हिम-खंड क्या हैं, मानों शिवके जगत्-हास्यके निनाद परम शुभ्रता और शुद्धताके रूपमें पर्वत-शिखरोंपर जम गये हैं। यह सच है; और जब उनकी छाया हृदयपर पड़ती है तब सांसारिक चिंताएं नीचेके बादलोंकी तरह विगलित होकर अपनी वास्तविक अस्तित्वहीनताको प्राप्त हो जाती हैं।

---

[१]एक हास्यरसका कवि।

मानव विज्ञान बहुत ही सुनिश्चित घोषणाएं करता है; लेकिन सच्चे कारणोंकी कल्पना करनेके लिये क्षेत्र खुला है — तब गुह्य कारणोंके लिये क्यों नहीं ?

२-५-७०

५०८ — जीवका सबसे अधिक विलक्षण अनुभव यह है कि जब वह दुःख-क्लेशके आकार और उससे होनेवाली आशंकाकी परवा करना छोड़ देता है तो वह देखता है कि उसके इर्द-गिर्द कहीं दुःख-क्लेशका नाम-निशान भी नहीं है। उसके बाद ही हम उन झूठे बादलोंके पीछे भगवान्‌को अपने ऊपर हंसते हुए सुनते हैं।

प्रभु, जब तुम चाहते हो कि आकार तुम्हारी समरूपतामें बदले, तो तुम क्या करते हो ?

४-५-७०

*
**

कल आपने जो लिखा था वह मेरी समझमें नहीं आया।

श्रीअरविंद जिसे आकार कहते हैं वह भौतिक शरीर है। तो मैंने प्रभुसे पूछा कि जब वे भौतिक शरीरका रूपांतर करना चाहते थे तो उन्होंने क्या किया और कल रात उन्होंने मुझे दो अंतर्दर्शनोंद्वारा जवाब दिया।

एकका संबंध शारीरिक चेतनाकी मृत्यु-संबंधी सभी रूढ़ियोंसे मुक्तिके साथ था और दूसरेमें उन्होंने मुझे यह दिखाया कि अतिमानसिक शरीर कैसा होगा। देखते हो न, कि मैंने उनसे पूछकर अच्छा ही किया !

९-५-७०

५०९ — ओ दानव ! क्या तेरा प्रयास सफल हो गया है ? क्या तू रावण और हिरण्यकशिपुकी तरह बैठा देवताओं और जगत्पतिकी सेवा पा रहा है ? परंतु तेरी अंतरात्मा जिस चीज-को वास्तवमें खोज रही थी वह तो तेरी पकड़से बाहर चली गयी।

५१० —— रावणके मनने सोचा कि वह विश्वके एकाधिपत्य और रामके ऊपर विजय-प्राप्तिके लिये लालायित था; परंतु जिस उद्देश्यपर उसकी अंतरात्माने अपनी दृष्टि चिरदिन जमाये रखी वह था यथासंभव शीघ्र-से-शीघ्र स्वर्गको वापस लौट जाना और फिरसे भगवान्‌का चाकर बन जाना। अतएव, सबसे सहज पथके रूपमें, वह घोर शत्रुताके आलिंगनके साथ भगवान्‌पर टूट पड़ा।

५११ —— सबसे महान् आनंद है नारदकी तरह भगवान्‌का दास बन जाना; सबसे जघन्य नरक है भगवान्‌से परित्यक्त होकर संसारका मालिक बनना। जो चीज भगवान्-विषयक अज्ञान-पूर्ण परिकल्पनाके लिये सबसे अधिक समीप प्रतीत होती है वही उनसे सबसे अधिक दूर होती है।

५१२ —— भगवान्‌का सेवक होना कुछ चीज है; भगवान्‌का दास होना उससे बढ़कर है।

श्रीअरविंद हमें शास्त्रोंको समझनेका सच्चा ढंग बताते हैं जो इस तरह वैश्व प्रतीक बन जाते हैं।

१२-५-७०

५१३ —— संसारका अधिपति बन जानेमें निश्चय ही चरम आनंद होगा लेकिन तभी जब सारे संसारका प्रेम प्राप्त हो; परंतु उसके लिये तो साथ-ही-साथ सारी मनुष्यजातिका गुलाम भी बनना पड़ेगा।

५१४ —— आखिरकार, जब तू यह हिसाब लगायेगा कि तूने भगवान्‌की कितनी दीर्घ सेवा की तो तू देखेगा कि तूने मनुष्य-जातिके प्रेमके वश जो अधूरा और तुच्छ सत्कार्य किया बस, वही तेरा सबसे बड़ा कार्य था।

इसीलिये सेवाकी अपेक्षा पूर्णतया नितांत रूपसे भगवान्‌का होकर रहना बेहतर है।

१३-५-७०

*
* *

पूर्णतया और नितांत रूपसे भगवान्‌का होकर रहनेके लिये क्या हमें उनकी सेवासे आरंभ नहीं करना चाहिये ?

निश्चय ही, अपना सारा कार्य भगवान्‌की सेवामें लगा देना उनके पास पहुंचनेका बहुत अच्छा तरीका है। लेकिन यह, जितना श्रीअरविंद-ने बताया है उससे बहुत आगेतक न ले जा सकेगा। और कुछ लोगों-को इससे संतोष नहीं होगा।

१४-५-७०

५१५ — दो कार्य हैं जिनसे भगवान् अपने सेवकसे पूर्णतः संतुष्ट होते हैं : एक तो मौन पूजा-भावके साथ उनके मंदिर-में झाड़ू लगाना और दूसरा, मानवताके अंदर उनकी दिव्य संसिद्धिके लिये संसारके युद्धक्षेत्रमें संग्राम करना।

५१६ — जिसने मानव प्राणियोंकी थोड़ी-सी भी भलाई की है वह, चाहे सबसे निकृष्ट पापी ही क्यों न हो, भगवान्‌द्वारा उनके प्रेमियों और सेवकोंकी श्रेणीमें स्वीकृत होता है। वह शाश्वत प्रभुके मुखमंडलके दर्शन अवश्य पायेगा।

श्रीअरविंदका प्रयास हमेशा अपने शिष्यों और पाठकोंतकको सभी पूर्वाग्रहोंसे, सारी रूढ़िगत नैतिकतासे मुक्त करनेका रहा है।

१५-५-७०

५१७ — ऐ दुर्बलतामें फंसे मूर्ख! भयके पर्देके द्वारा भगवान्-का मुख अपने-आपसे मत छिपा, अनुनयशील दुर्बलताके साथ उनके समीप न जा। देख! तू उनके चेहरेपर शासक और विचारककी गंभीरता नहीं, बल्कि प्रेमीकी मुस्कान देखेगा।

५१८ — जैसे एक पहलवान अपने साथीके साथ कुश्ती लड़ता है वैसे ही जबतक तू भगवान्‌के साथ कुश्ती लड़ना नहीं सीख लेता तबतक तेरी अंतरात्माकी शक्ति तुझसे छिपी ही रहेगी।

अगर हम सचमुच भगवान्‌के नजदीक जाना चाहते हैं तो क्या यह अच्छा नहीं होगा कि हम हमेशाके लिये अपनी सब सीमाओं तथा सब कमजोरियों-से अपने-आपको मुक्त कर लें?

१६-५-७०

५१९ — शुंभने पहले अपने हृदय और शरीरसे कालीके साथ प्यार किया, फिर उनसे क्रोधित होकर उनके साथ युद्ध किया, अंतमें उसने उन्हें पराजित किया, उनके केश पकड़कर उन्हें अपने चारों ओर आकाशमें तीन बार घुमाया; और अगले ही क्षण वह कालीद्वारा मारा गया। ये ही अमरत्वकी ओर ले जानेवाले दैत्यके चार पग हैं, और उनमेंसे अंतिम पग सबसे अधिक लंबा और सबसे अधिक शक्तिशाली होता है।

मैं दैत्यके चार लंबे पगोंका अर्थ नहीं समझा, जिनके द्वारा वह अमरता प्राप्त करता है?

प्रत्येकका चाहे कैसा भी स्वभाव क्यों न हो, हिसाबके अंतमें एक ढंगसे या दूसरे ढंगसे, चाहे व्यक्ति उनसे युद्ध करे या प्रेम, अंतिम उद्देश्य हमेशा भगवान् ही होते हैं।

१७-५-७०

५२० — काली भयावनी शक्ति और क्रुद्ध प्रेमके रूपमें अभि-व्यक्त श्रीकृष्ण ही हैं। वह अपने प्रचंड प्रहारोंके द्वारा शरीर, मन और प्राणमें स्थित स्वकी हत्या करती है ताकि वह शाश्वत चिदात्माके रूपमें मुक्त हो जाय।

विश्वको समझनेमें समर्थ एक ज्योतिर्मय चिंगारीको स्थान देनेके लिये जब हम छोटे, असमर्थ अहंको अदृश्य होते देखते हैं तो शिकायत करते हैं।

२१-५-७०

५२१ — गभीर सामी कथानकके अनुसार हमारे माता-पिता-का पतन हुआ, क्योंकि उन्होंने पाप और पुण्यके वृक्षका फल चखा था। यदि उन्होंने तुरत शाश्वत जीवनके वृक्षका रसा-स्वादन कर लिया होता तो वे तात्कालिक परिणामसे बच गये होते; परंतु मानवताके अंदर भगवान्‌का प्रयोजन विफल हो जाता। भगवान्‌का आक्रोश हमारे लिये शाश्वत सुयोग होता है।

श्रीअरविंद यह समझानेकी कोशिश करते हैं कि किस तरह हमारी दृष्टिकी सीमाएं हमें भागवत प्रज्ञाको देखनेसे रोकती हैं।

२२-५-७०

५२२ — यदि नरकका होना संभव हो तो वह उच्चतम स्वर्ग-में जानेका सबसे छोटा रास्ता होगा। कारण, सचमुच भगवान् प्यार ही करते हैं।

५२३ — भगवान् हमें प्रत्येक 'अदन' (स्वर्गीय बगीचे) मेंसे बाहर खदेड़ देते हैं ताकि हम रेगिस्तानमेंसे गुजरते हुए किसी अधिक दिव्य स्वर्गतक जानेके लिये बाध्य हों। यदि तुझे आश्चर्य होता हो कि उस रूखे-सूखे और भयंकर पथकी आवश्यकता ही क्यों होनी चाहिये तो इसका अर्थ है कि तेरे मनने तुझे मूर्ख बना दिया है और तूने पीछे विद्यमान आत्मा तथा उसकी अस्पष्ट इच्छाओं एवं गुप्त आनंदोंका अनुशीलन नहीं किया है।

जब हमें दुःखके लिये आकर्षण नहीं रहेगा और जब हम उसकी विकृत आसक्तिसे मुक्त हो जायंगे तब भगवान् हमें उसके पीछे छिपे परम आनंदका अनुभव करायंगे।

२३-५-७०

५२४ — स्वस्थ मन दुःख-दर्दसे घृणा करता है; क्योंकि मनुष्य कभी-कभी अपने मनमें दुःख-दर्दकी जो कामना पैदा कर लेता है वह दूषित और प्रकृतिके विपरीत होती है। परंतु आत्मा

मन तथा उसके दुःख-कष्टोंकी परवाह उससे अधिक नहीं करती जितनी परवाह कि लोहा बनानेवाला चूल्हेमें जलते हुए कच्चे लोहेके दुःख-दर्दके लिये करता है; वह अपनी निजी आवश्यकताओं तथा निजी भूखका ही अनुसरण करती है।

एकमात्र परम प्रभु ही स्वामी होने चाहिये और सामान्यतया चैत्य पुरुष उन्हींकी आज्ञा मानता है।

२४-५-७०

५२५ — बिना विचारे दया करना स्वभावका सबसे उदार गुण है; एक भी जीवित वस्तुको कम-से-कम आघात भी न पहुंचाना सभी मानवीय गुणोंमेंसे उच्चतम गुण है; परंतु भगवान् इन दोनोंमेंसे कोई कार्य नहीं करते। तो क्या इसी कारण मनुष्य उन सर्व-प्रेममयसे अधिक महान् और अधिक अच्छा है?

५२६ — यह पता चलना कि किसी मनुष्यके शरीर या मन-को दुःख-कष्टसे बचा देना सर्वदा उसकी अंतरात्मा, मन या शरीरके लिये हितकारी नहीं होता, मानवीय ढंगसे करुणा करनेवालेके लिये अत्यंत कड़ुआ अनुभव होता है।

भागवत चेतनाके प्रति सचेतन होना मानव सिद्धिकी परम उपलब्धि है; बाकी सब कुछ गौण है।

२५-५-७०

५२७ — मानवीय दया अज्ञान और दुर्बलतासे पैदा होती है; वह भावोच्छ्वासकी दासी होती है। भागवत करुणा समझती, विवेक करती और रक्षा करती है।

५२८ — कभी-कभी दया प्रेमका एक अच्छा प्रतिरूप होती है; पर वह सदा ही प्रतिरूपसे अधिक कुछ नहीं होती।

भगवान्‌के आशयको समझना और उसकी उपलब्धिके लिये काम करना, क्या यह मानवताकी सहायता करनेका सबसे निश्चित मार्ग नहीं है ?

२८-५-७०

५२९ — आत्म-दया सर्वदा आत्म-प्रेमसे उत्पन्न होती है; परंतु दूसरोंके प्रति दया सर्वदा पात्रके प्रति प्रेमके कारण नहीं उत्पन्न होती। यह कभी-कभी तो दुःख-कष्टके दृश्यसे अहम्मन्य हिचक होती है; और कभी दरिद्रके लिये धनी व्यक्तिका घृणापूर्ण दान होती है। तू मानवीय दयाके बदले भगवान्‌की दिव्य करुणा-को विकसित कर।

५३० — दया नहीं जो हृदयको काटती और भीतरी अंगोंको दुर्बल बनाती है, बल्कि एक दिव्य प्रभुत्वशाली और अक्षुब्ध करुणा एवं उपकारिता वह गुण है जिसे हमें प्रोत्साहित करना चाहिये।

क्या परम प्रभुको जाने बिना जीनेसे बढ़कर कोई और दुःख भी हो सकता है ? और फिर भी यह प्रायः विश्वव्यापी दुःख कभी-कदास ही दयाको जगाता है। क्योंकि जो यह जानता है कि वह दुःखी है वह यह भी जानता है कि ठीक होना उसके अपने ऊपर निर्भर है — क्योंकि प्रभुकी करुणा असीम है।

१-६-७०

५३१ — मनुष्योंसे प्यार कर और उनकी सेवा कर, पर सावधान, कहीं तू प्रशंसाकी कामना न कर बैठे। उसकी जगह अपने अंदर विराजमान भगवान्‌की आज्ञाका पालन कर।

५३२ — भगवान् तथा उनके दूतोंकी वाणीको न सुनना ही संसारकी भावनाके अनुसार मानसिक स्वस्थता है।

५३३ — भगवान्‌को सर्वत्र देख और उनके छद्मवेशोंको देख-कर भयभीत न हो। विश्वास कर कि समस्त मिथ्यापन या

तो तैयार होता हुआ सत्य है अथवा भंग होता हुआ सत्य, समस्त असफलता प्रच्छन्न चरितार्थता, समस्त दुर्बलता अपनी दृष्टिसे ही अपनेको छिपानेवाली शक्तिमत्ता, समस्त पीड़ा एक गुप्त और प्रचंड आनंदोल्लास है। यदि तू दृढ़तापूर्वक और सतत भावसे विश्वास बनाये रखे तो अंतमें सर्वसत्यमय, सर्व-शक्तिमय और सर्वानन्दमयको देख और अनुभव कर सकेगा।

सतत और अथक प्रयास तथा श्रद्धाद्वारा हम अपने-आपको भागवत चेतना-के साथ एक कर सकते हैं, जो सतत, संपूर्ण परमानन्द है।

२-६-७०

५३४ — मानव प्रेम अपने निजी हर्षोल्लासके कारण ही असफल हो जाता है; मानव पराक्रम अपने निजी प्रयासके कारण ही निःशेष हो जाता है; मानव ज्ञान एक ऐसी परछाई फेंकता है जो सत्य-रूपी गोलकके आधे भागको उसके अपने सूर्यालोक-से छिपा देती है; परंतु भागवत ज्ञान विरोधी सत्योंका आलिंगन करता और उनमें सामंजस्य स्थापित करता है, भागवत सामर्थ्य अकुंठ आत्मव्ययके कारण वर्द्धित होता है, भागवत प्रेम अपने-आपको संपूर्ण रूपसे लुटा सकता है और फिर भी न कभी नष्ट होता है, न घटता है।

क्या मानव प्रेम भागवत प्रेममें बदल सकता है? मानव शक्ति भागवत शक्तिमें और मानव ज्ञान भागवत ज्ञान-में?

बस एक ही प्रेम है।

मानव प्रेम भागवत प्रेमसे अलग कोई और चीज नहीं है। वह जिस यंत्रके द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करता है उसीके द्वारा पथभ्रष्ट और विकृत हो गया है। शक्ति और ज्ञानके लिये भी यही बात है। अपने मूल तत्त्वमें वे शाश्वत और असीम हैं। मानव स्वभावकी सीमाएं और कमियां ही उन्हे विकृत करती हैं और विरूप बना देती हैं।

३-६-७०

५३५ — विशुद्ध सत्यकी खोज करते हुए मन जो मिथ्यापन-का त्याग करता है वह एक प्रधान कारण है जिससे वह सुनिश्चित, अखंड और पूर्ण सत्यको नहीं प्राप्त कर सकता; दिव्य मन मिथ्यापनसे बच निकलनेका प्रयास नहीं करता, बल्कि उस सत्यको पकड़नेका प्रयास करता है जो अत्यंत भद्दी या भ्रष्ट भूल-भ्रांतिके पीछे छिपा रहता है।

"दिव्य मन" क्या है?

श्रीअरविन्द मानसिक कार्यके आदि रूपको दिव्य मन कहते हैं। वह समग्र रूपसे पूर्णतया भगवान्‌को अर्पित है और भागवत प्रेरणाके अधीन ही कार्य करता है।

अगर कोई मनुष्य भगवान्‌के द्वारा और भगवान्‌के लिये ही जीता है तो अनिवार्य रूपसे उसका मन दिव्य मन बन जाता है।

४-६-७०

५३६ — किसी भी वस्तुके विषयमें सारा सत्य यह है कि वह एक पूर्ण तथा सर्वालिंगनकारी गोलक होता है जो निरंतर ज्ञान-के एकमात्र विषय और वस्तु, भगवान्‌के चारों ओर चक्कर काटता रहता है पर कभी उन्हें स्पर्श नहीं करता।

५३७ — बहुत-से गंभीर सत्य उन अस्त्रोंके समान हैं जो अन-भ्यस्त अस्त्रचालकके लिये खतरनाक होते हैं। समुचित रूप-में व्यवहार करनेपर वे भगवान्‌के अस्त्रागारके अत्यंत मूल्यवान् और शक्तिशाली अस्त्र होते हैं।

सच्चे ज्ञानकी एक बूंद अगर अज्ञानकी दुनियामें गिरे तो वह क्रान्ति पैदा कर सकती है।

५-६-७०

५३८ — जिस दुर्दमनीय आग्रहके साथ हम अपनी तुच्छ, खंड-विखंड, निशाक्रांत, क्लेशग्रस्त व्यक्तिगत सत्ताके साथ उस समय भी चिपके रहते हैं जब हमारे बिश्वगत जीवनका आनंद हमें पुकारता है, वह भगवान्के रहस्योंमेंसे एक अत्यंत आश्चर्यजनक रहस्य है। इसकी तुलना केवल उस अनंत अंधताके साथ की जा सकती है जिसकी सहायतासे हम अपने अहंकारकी एक छाया संपूर्ण जगत्पर फेंककर उसे ही विश्वपुरुषका नाम दे देते हैं। ये दोनों प्रकारके अंधकार ही, मायाके ठीक-ठीक सारतत्त्व तथा अंतर्निहित शक्ति हैं।

उस दिनतक जब अज्ञान और अहंकारकी मूर्खतासे थककर तुम प्रभुके पैरोंपर गिरकर उनसे याचना न करो कि वे ही स्वामी बन जायं।

६-६-७०

५३९ — अनीश्वरवाद भगवान्-संबंधी उच्चतम ज्ञानकी परछाई अथवा अंधकारमय पक्ष है। भगवान्के विषयमें बनाया हुआ हमारा प्रत्येक सिद्धांत, यद्यपि रूपकके रूपमें सदा सत्य होता है, पर उस समय मिथ्या बन जाता है जब हम उसे एक पूर्ण सिद्धांतके रूपमें स्वीकार करते हैं। अनीश्वरवादी और अज्ञेयवादी हमारी भूल-भ्रांतिकी याद दिलानेके लिये आते हैं।

५४० — भगवान्-संबंधी अस्वीकृतियां भी हमारे लिये उतनी ही उपयोगी हैं जितनी उनके विषयकी स्वीकृतियां। सच पूछा जाय तो मानवीय ज्ञानको और भी अच्छे रूपमें पूर्णता प्रदान करनेके लिये स्वयं भगवान् अनीश्वरवादी बनकर अपने निजी अस्तित्वको अस्वीकार करते हैं। ईसा और रामकृष्णमें ही भगवान्को देखना और उनकी वाणीको सुनना काफी नहीं है, हमें हक्सले[1] और हेकेल[2] में भी उन्हें देखना चाहिये और उनकी वाणी सुननी चाहिये।

---

[1]हक्सले १९ वीं शताब्दीके प्रसिद्ध वैज्ञानिक और लेखक थे। इन्होंने पार्थिव क्रमविकासके सिद्धांतका प्रतिपादन किया।

[2]हेकेल जर्मनीके प्रसिद्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। इन्होंने भी क्रमविकासके सिद्धांतको प्रकट किया है।

भगवान्‌के विषयमें सभी मानसिक ज्ञान अपूर्ण और अपर्याप्त हैं, यदि उन सबको समाविष्ट कर लिया जाय तो भी। एकमात्र अनुभव किया हुआ ज्ञान ही हमें सत्यकी एक झांकी दे सकता है।

७-६-७०

५४१ — क्या तू अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले और अपनी हत्या करनेवालेके भीतर मृत्युके क्षण या अत्याचारके समय भी भगवान्‌को देख सकता है? क्या तू जिसकी हत्या कर रहा है उसमें भी उनको देख सकता है, उसकी हत्या करते समय भी उन्हें देख सकता और प्यार कर सकता है? तब निश्चय ही परम ज्ञान तेरे हाथमें आ गया है। भला वह मनुष्य कृष्णको कैसे पा सकता है जिसने कभी कालीकी उपासना नहीं की?

सब कुछ भगवान् है और एकमात्र भगवान्‌का ही अस्तित्व है।

८-६-७०

अनुक्रमणिका

अंत,
होनेके दो तरीके : विनाश और रूपांतर, २२८

अंतःप्रेरणा [अंतःप्रकाश],
शाश्वत ज्ञानसे उछलती .. पतली धारा, ५-६
और तर्क-बुद्धि, ५, ७-८, १०
-का माध्यम, ७
-की प्राप्तिके सोपान, ७
पानेकी शर्तें, ८
कई प्रकारकी नहीं; उसके कई उपयोग हैं, ८
-से अधिकृत वाणी, १०
-से प्राप्त ज्ञान, १४८
और बौद्धिक ज्ञान, १४९
नीरव मनमें ही संभव, १५०
सदा ही व्यक्तिगत, १९१
(दे० 'प्रज्ञा' भी)

सूचना :

ऐसे पढ़ें :

कठिनाई	दूसरे	क्षमता	चीज	सिद्धांत
योंका	ोंमें	ओंका	˜ (सब)	ों (सब), को
कठिनाइयोंका	दूसरोंमें	क्षमताओंका	सब चीजें	सब सिद्धांतोंको

(२) जिन वाक्योंमें केवल शुरूमें (') है वह अपने-आपमें पूरा वाक्य है, उन्हें मूल शब्दके साथ मिलाकर न पढ़ें।

(३) जहां (") का प्रारंभ नहीं दिखाया गया, वहां मूल शब्दसे पहले (") कल्पना कर लें।

(४) कहीं-कहीं अधिक स्पष्टताके लिये लिखा है :
(दे० 'चीज' ˜(विरोधी) भी) या (दे० 'भगवान्' दुर्बल भी), इसका मतलब है **चीज** के नीचेका वह वाक्य देखो जो ˜ (विरोधी) से शुरू होता है, **भगवान्**के नीचेका वह वाक्य देखो जो दुर्बल शब्दसे शुरू होता है।

(५) पृष्ठ संख्याके बाद अ का मतलब है कि वह प्रसंग उस पृष्ठके अंतसे शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठके आरंभतक ही गया है।

(६) जहां वाक्य-रचना मूल शब्दके साथ संगत न जान पड़े, वहां मूल शब्दके आगे कोष्ठमें जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़नेसे वह संगत बन जायगी।

अंतरात्मा,
जो देखती है वही ज्ञान है, बाकी ..., २६
क्या देखती हैं, कैसे जानें, २६, २८-९
-को ढूंढना, २७
यही है, कैसे जानें, २७
-की वाणी सुनना, २७-९
-से युक्त होनेका उपाय, २९
-को जानना मृत शरीरके टुकड़े-टुकड़े करके, २९-३०
ही अंतरात्माको जान सकती है, २९, २१३
(दे० 'सजातीय' भी)
-का पुनः जन्म और मनोमय व्यक्तित्व, ३१
मुक्त है या बद्ध, तू कैसे कह सकता है, २१२
पृथ्वीपर ही, २१२-१३
'आंतरात्मिक प्रकृति, २५१
-की असफल सफलताएं, २८९
-की पूर्णताके द्वारा ही बाह्य परिवेशको पूर्ण ..., ३२६
ही एकमात्र चिकित्सक, ३४१
(दे० 'चैत्यपुरुष' भी)
अंतर्दर्शन,
क्या होता है, ४१-२
(पूर्वसूचक), १३०-३४
(दे० 'भविष्यवाणी' भी)
व्यक्तिके संबंधमें, १३२
अंतर्मुखता, १६०, १६१
अंधकार, १४, ३८२
और संतापको विलीन करनेका शक्तिशाली साधन, १६४
(दे० 'अज्ञान' भी)
अंध-विश्वास, ४१, ३०१
अकर्म,
-से प्रेम या घृणा मूर्खता, २४१
नामकी कोई वस्तु नहीं, २४१
(दे० 'गति' भी)
अकिलीस, २८८
अक्षमता,
(हमारी), ही आत्मस्थ लक्ष्यसे सचेतन होनेमें बाधा, ३१७
-से छुटकारेका साधन, ३१७
अक्षर, ९१
अग्नि (वैदिक), २०२
अचंचलता, ७९, २०२
(दे० 'निश्चल-नीरवता' और 'बोलना' भी)
अच्छा और बुरा, दे० 'शुभ और अशुभ'
अज्ञान, ३८, ७४, २७०
तब विलीन हो जायगा, २९
-के प्रति सच्चा मनोभाव, ३०
परिस्थिति संबंधी, ४९, ५९
व संकीर्णताकी ही क्रियाएं हैं घृणा, क्रोध आदि, ७८
और ज्ञान, १७२, १७३
-को शुद्धता कहा, ३०९
और अशुभ-इच्छाका रूपांतर किस प्रकार, १२६-२७ (दे० 'अंधकार' व 'कामना' भी)
(दे० 'भ्रांति' भी)
अज्ञेय,
और अनिर्देश्यकी उपासना, ३६२
अज्ञेयवादी, ३६२, ३८२
अति [अतिशयता],
-में गिरना, २०७, २१२

-योंकी आवश्यकता, २०८
त्याग और भोगमें, ३३६
उग्रता है, ३३६

अतिमानव,
कौन है?, २५५-५६
-का निर्माण, हो रहा है, २५५
(अपनेको), कहनेवाले लोग, २५६
-का सिंह, गाय और ऊंटका प्रतीक, २५६-५७
मनुष्यमेंसे प्रकट हो रहा है, २६५

अतिमानस,
-के साथ संपर्कके दो चिह्न, ११२ टि०

अतिमानसिक अभिव्यक्ति,
(पहली), २१७

अतिमानसिक कार्य,
-की पद्धति, ११५

अतिमानसिक चेतना,
-को ग्रहण करनेकी शर्तें ११३-१५
-को जड़पदार्थमें ग्रहण करनेमें कठिनाई, ११३-१८
"समग्रतायुक्त" भगवान्‌की चेतना है, ११३
-की अभीप्सा करो, अभौतिक चेतनाकी अपेक्षा, २६१अ
-ने प्रेम और शक्तिको संयुक्त कर दिया है, २६९अ
-के पृथ्वीपर शासनकी शर्त, ३३०
-के कार्यका पहला परिणाम, ३३०
(दे० 'अतिमानसिक सत्ता' भी)
-का प्रभाव सामूहिक जीवनपर, ३३०
-को अभिव्यक्त करनेमें मनुष्य-जाति कब सफल होगी, ३४१

अतिमानसिक जगत्,
-को अनूदित करनेकी योग्यता, १११, १२४
-में पोशाकें, ११५, १२१
और भौतिक जगत्‌के बीचके प्रदेश-का निर्माण, १२०, १२३

अतिमानसिक जीवन,
-की अवस्था, ११५, ११६
और आध्यात्मिक संकल्पसे चालित जीवन, ११५अ
-की उपलब्धिके लिये व्यक्तियों-का समूह अनिवार्य, १४३-४४

अतिमानसिक दृष्टिकोण, १११, १२४

अतिमानसिक नौका,
-की अनुभूति, ११२, ११४, ११९-२४

अतिमानसिक पूर्णता, १०९

अतिमानसिक रूपांतर, ३४३
इस समयका सत्य, ११;
इसे संसिद्ध करनेके लिये आवश्यक चीज, ११
(दे० 'रूपांतर' भी)

अतिमानसिक सत्ता,
किन वस्तुओंको स्थान-च्युत करना चाहती है, १०९
-का पहला प्रभाव, १०९-१०
(दे० 'अतिमानसिक चेतना' भी)
-ओं और मनुष्योंमें अंतर, ११९

अतिमानसिक स्पदंन,
-की अभिव्यक्ति, ११३

अतीत,
-के सांचोंको तोड़ दो, पर उसकी भावना सुरक्षित . . ., २९६

'अदन' [सेमेटिक ईडन], ३६४,३७७

अधीरता [अधैर्य, जल्दबाजी], १५, २९, ३१६, ।३१७
'रुकना होता है . . यह असीम कृपा है, २१०
-में तुम सदा होते हो, २१०-११
अध्यवसाय [लगन], २२, ३१६
(दे० 'प्रयास' भी)
अनंत, १५७
अनंतता,
-की अनुभूति कैसे ?, २७४
अनीश्वरवाद, ३८२
अनुकरण,
और सृजन, ३२४
अनुभव [अनुभूति],
-ों (आध्यात्मिक संपदाओंके), को पानेकी शर्त, १६
-का मूल्य कब, १६
(सच्चे), का एक क्षण सैंकड़ों व्याख्याओंसे अधिक, २२, ३७
(सच्चे), की प्राप्तिके लिये दो क्रियाएं, २२
(अपना), एक व्यक्तिगत, आत्म-निष्ठ विषय, २४, १९०-९२
और ज्ञान-प्राप्ति, ३६-८, २२०
-को मिथ्या बनानेवाली चीज, ३६
-की प्रामाणिकता, ३६
(प्रेम शक्तिका), पानेकी शर्त, ७४
-का शब्दोंका रूप लेना, १९१-९४
-की भाषा, १९२
-के साथ शक्ति भी, १९२
-को पकड़नेकी चेष्टा, १९३
दूसरेकी, विश्वासोत्पादक कब, २१८-१९
आवश्यक, समझनेके लिये, २२०
अनुशासन, ३५
अपराध, ७६, १२५, १६४, २२४
अभिव्यक्ति [अभिव्यक्त वस्तु],
-का मूल सूक्ष्मतर लोकमें, ६१
बाह्यीकरणके आनंदके लिये, २२९अ
-के कारण 'अनभिव्यक्ति' में विशेष रस, २३४
(दे० 'चीज' (विरोधी), 'जगत्' और 'विकास' भी)
अभिशाप-प्रसंग,
धर्म और गिरजाघरके, ३५८
अभीप्सा, १६, २९, १३८, २८५
और प्रयत्नको तीव्र बनानेके लिये आंतरिक विरोधकी आवश्यकता, ६७, १७४
"परमाश्चर्यमय'के लिये प्यास, १७०, १७१
'अभिव्यक्ति'में सहायक, १७२
ऐसी तीव्र कि रूपांतर कर सके, १७६
और कठिन अवस्थाएं, २०८
तीव्र रूपमें, किंतु अधैर्यके बिना, २१०
भगवत्कृपाको लानेमें सहायक, २४४
और प्रयत्नका क्या स्थान है यदि सब कुछ पूर्वदृष्ट है, २५१अ
-एं (सभी सच्ची), स्वीकार करने योग्य हैं, चाहे उनके स्वरूपोंमें कितनी भी विषमता . . , ३६२
अमरता [अमरत्व],
-का अर्थ, ३१-२
-का अमृत", ८४-५

ह भगवान्‌से मिलन, ८४-५
लेनेसे मतलब, पात्र कोई भी हो, ८४-५
-की चेतना और भौतिक सत्ताकी अमरता, ८५
(दे० 'शरीर' भी)
'मर्त्य और अमर, ९८
अयोग्यता,
-की भावना, ७४, १६४
अराजकता, ३२५
दिव्य, ३१९
अरिस्टोफेन (व्यंग्य लेखक), १५२, १६२
अर्जन करना,
केवल अपने लिये ही २८८
अर्यमा (देवता) ८६
अलीपुर जेल, ६९
अवतार, ६२
-का कार्य, ७५
अकेला, पृथ्वीपर अतिमानसिक जीवनको उपलब्ध नहीं कर सकता, १४३-४४
-की आवश्यकता क्या अब आगे भी पड़ेगी ?, २६३
(दे० 'भगवान्' व 'रूपांतर' भी)
अविश्वास, ४२
आत्मिक संपदाओंके प्रति, १३, १४
(दे० 'विश्वास' नहीं, और 'संदेह' भी)
अव्यवस्था [अस्तव्यस्तता],
और सरलता, १७५
तमस्‌के प्रतिरोधसे, २४३
और विनाशके लिये भागवत शक्तिको दोषी ठहराना, २४३
-में वृद्धि अतिमानसिक चेतनाके प्रभावसे, ३३०
अशुभ [अदिव्य, बुराई], ४९, ७१, २७६, २८७, ३२६
और असुंदरको दूर करनेमें सहयोग : अभावात्मक और भावात्मक, ७२-३
और प्रेमकी शक्ति, ७३-४
-की भावना क्या सदा नहीं रहेगी ? १२६
नामकी कोई वस्तु नहीं, २७६
-की व्याख्या और इलाज, २८२
और कष्टसे बचनेका मार्ग, २८७
-मेंसे प्रकाशपूर्ण सत्ता, ३११
-को अवसर देनेवाली वस्तु दुष्टता नहीं, दुर्बलता, ३२६
-की लोक-व्याख्या, ३५८
(दे० 'चीजें' बुरी, 'पाप' और 'शुभ और अशुभ' भी)
अशुभ संकल्प [दुर्भावना], ३८, ७४ २९०
असंभव, ९५, १५५
असत् १०१, ११३
असत्य,
-का रूप सत्य कैसे लेता है, ६७
(पूर्ण), संभव ही नहीं, १००
(पूर्ण), के नष्ट होनेका अर्थ, १०१
अवास्तविक, न कि संसार, ११०
(दे० 'मिथ्यात्व' भी)
असफलता [पराजय], १०२, २५३, २७१,
और पराजयका जीवन, ५७, २७१ २८९
सच्ची, २८९

"महान् और श्रेष्ठ" : व्याख्या, २९६
नहीं, लक्ष्यकी ओर चक्राकार गति, ३००
अंत नहीं, द्वार है, ३००, ३२५
किसी कार्यमें . . .,३०४
'असफल जो कभी नहीं हुआ . ., ३१५
-की निंदा, ३६६
है प्रच्छन्न चरितार्थता, ३८०
(दे० 'सफलता' भी)

असहिष्णुता, २३-४

असीम, ९९, १००

असुर,
देवताओंसे अधिक बलशाली, २५३
ज्येष्ठ देवता, २९२
रूपांतरित हो चुका है . ., २९२

अस्वीकृति, २१८
-की क्रिया वस्तुओंके प्रति, ७८, १०४
(दे० 'आत्मा'-की शक्तिकी भी)

अहं [अहंकार, अहंभाव], २७०
तभी विलीन होता है, १९, ३६७
(मानसिक), और सहज पवित्रता, ५५
-युक्त चेतना, ७७
-की सेवा, जबकि बहाना भगवान्-की सेवाका, ८३
-का शोधन और पाप-भावना, ११०
-से मुक्ति कब, ११०, २७३
और अतिमानसिक स्पंदन, ११३
'हम अभी वही हैं जो हम होना नहीं चाहते . ., १७९
और रूपांतर-बोध, २०१
-विमुक्त आत्मा ही सृष्टिके क्यों और कैसेको जान सकती है, २५४
और अतिमानव, २५६
-की सीमाओंको तोड़ना होगा, २७३
(असंतुष्ट), की ही इच्छा मरकर दूसरा जन्म लेनेकी, ३३३
भगवान्को समर्पित कर दो, यही दुःख . . . का कारण है, ३३६
-को अदृश्य होते देख शिकायत, ३७६
(अपने), को विश्व-पुरुष का नाम देना . . ., ३८२

अहंकर्तृत्व बोध, २४४, ३०६

आ

आंखमिचौली, ५७-८, २३२, २३४, २४०

आंतरिक जीवन, दे० 'समझना'

आंतरिक तथ्य,
-ोंको "देखना", २१५, २१८
-ोंको समझनेकी क्षमता, २१९, २२०
-ोंको जाननेकी इस अनिच्छापर कैसे कार्य किया जाय, २२१
-ोंको न समझनेकी क्रिया सामान्य एवं सर्वांगीण है, २२४

आघात,
मानवीय हाथके द्वारा . . ., ४८
कर! ऐ प्रेमिक !", ५८
पाना सद्भावनाके कारण, ८१
(दे० 'घटना' व 'दुर्भाग्य' भी)

आत्म-त्याग [आत्मपीड़न],
-की प्रशंसा..., ३२८
नहीं, भगवान्‌की तुष्टि लक्ष्य, ३२८
आत्म-दया, ३७९
आत्म-प्रवंचना,
-के दो विभिन्न तरीके, ८१
कि पाखण्ड !, ८३
तीन प्रकारकी, ३१०अ
(चेतन), का अर्थ, ३११
(दे० 'बहाना' व 'समर्पण' भी)
आत्म-विकास [आंतरिक विकास],
-से कर्मपर नियंत्रण, २८५
-में ही जीवनकी सुरक्षा, २८७
आत्म-विस्मृति, १२
और आत्म-निवेदनमें अंतर, २८८
आत्मा,
-की शांत, ज्ञान-निरपेक्ष अवस्था, ११-२
(जाग्रत्), ही जाग्रत् आत्माको पहचान सकती है, १९
(दे० 'सजातीय' भी)
-का जगत् और भौतिक 'आश्चर्य', २१५-१७, २२०
-की शक्ति और जड़पदार्थ, २१८
-की शक्तिकी क्रियाको व्यक्ति अस्वीकार कर देते हैं, २१८
(दे० 'आंतरिक तथ्य'-ोंको भी)
-की शक्ति और विश्वासोत्पादकता, २१९-२०
और प्रकृतिके नियम, २५०अ
-की अवस्थाके दबावसे संसारमें परिवर्तन, ३०५-६
-की शक्ति और भौतिक शक्ति दोनों आवश्यक, ३०६
तुझे कौन मार सकता है ?, ३०८
"निष्कलुष और संकोचविहीन," ३२७
(मेरी), भगवान्‌की बंदी, ३४९
दुःख-कष्टकी परवाहसे अधिक निजी आवश्यकताका अनुसरण करती है, ३७७अ
आदम और हौवा, ३६४
आदर्श,
-की पूर्तिके लिये कार्य करनेकी सही मनोवृत्ति, ३१६-१७
-को नकारना, छोटे-से जीवनमें उसे न पा सकनेके कारण, ३१७
आदि और अंत,
वस्तुओंका, २२७, २३०, २३२
आदेश,
जब मिले उसे माननेमें.., ३०३
तीन रूपोंमें आ सकता है, ३०३
किसका मानूं, भगवान्‌का या पुस्तकका, ३३१
आध्यात्मिक जीवन,
और धर्म, ९८
'आध्यात्मिक मार्गको अनन्य मानना भी घातक, १४२
-के प्रति भारत और यूरोपकी प्रणाली, २२१
-में तर्क, विश्वास और सहज प्रवृत्ति-का प्रयोजन, ३०२
आनंद,
दिव्य क्रीड़ाका, ५२
-में वर्धित होनेके तीन स्तर, १७७-७८
(अक्षर), को जीवनके बीच कैसे पाया जाय ?, १८१-८३

(अक्षर), की स्थिति खतरनाक, संसारकी वर्तमान अवस्थामें, १८२-८३
-की कुंजी, २५४-५५, २८७, २८८
प्राप्त कर, पहले अपने लिये २८७
-की खोज अपने ही लिये २८८
-की शाश्वतता असहनीय, ३६३
सात प्रकारके मानव शरीरमें, ३६३
'परमानंदका रहस्य, ३६८
(सबसे महान्), ३७४
(दे० 'सुख' भी)
आलोचना,
करनेसे पहले अपने अंदर दृष्टि डालो, २४-५, १२४
करनेवालोंका तर्क, ७२-३
आवाज,
-के पार सुनना, १३९ टि०
-के पीछेकी सत्ता, १३९ टि०
(प्रत्येक), को आदेश न समझ, ३०४
भगवान्‌की, ३३२
(दे० 'आदेश' भी)
आवश्यकता, १८६, २०५
आश्रम,
-में भी मनकी यह संकुचितता!, ८०
-की स्थापनाका आधार, २०७-८; 'अभीप्साका स्थान आलस्यने ले लिया है, २०७-८
-में साधकोंका चुनाव, २०८
-में यही करनेका यत्न .., २७०
-के बच्चोंमें असभ्य शब्द-व्यवहार, २७४अ
और ओरोवील, २७९अ
'हममेंसे प्रत्येकका प्रयत्न, २७९
(दे० 'कार्य' हमारे भी)
आश्वासन [सांत्वना],
दुःख-दर्दमें : "मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त ...", ३०७
जगत्‌के रूपांतरका, ३११-१२,३६०
आदेश पहचाननेके बारेमें, ३३२
उपलब्धिका, ३८०
(दे० 'निश्चयता' भी)
आसक्ति,
-के अवसरोंसे भागना, २०३

इ

इन्द्र (देवता), ८६
इन्द्रिय,
-ां, ज्ञान-प्राप्तिके दोषपूर्ण माध्यम, ७
(दे० 'तर्कबुद्धि' भी)
-ोंके विस्तारकी विधि, १३८-४०
-ोंका कथन और आत्माका कथन, ३५६
इच्छा, १८६
(वैयक्तिक), की उपयोगिता, ५४
-से ही कठिनाइयां, १८८-८९
-ओंकी अपूर्ति कृपाका चिह्न, २७२
-का **पूर्ण** अभाव आवश्यक, ३०४
-का त्याग, ३७०
'पसंदके रहते पूर्ण यंत्र नहीं बन सकते, ३७१
(दे० 'कामना' व 'भागवत संकल्प' भी)
इतिहास,
और पौराणिक कहानियां, ६२-३
-की चार महान् घटनाएं, ६३

ई

ईर्ष्या, ४९
-से मुक्त होनेका उपाय, ३५७
ईश्वरवादी, दे० 'नास्तिक'
ईसा, २६७, ३८२
इसी कारण शूलीपर झूल . ., ६०
-के अस्तित्वका ही खण्डन !, ६१-२
-की फांसी सीजरकी मृत्युसे बड़ी ऐतिहासिक घटना, ६१-२
अवतार, ६२
भगवान्‌के बलिदानका मूर्त रूप, ६२
-की कहानी जालसाजी है, ६४
-के उपदेशोंने जो कार्य किया . ., व उनका संदेश, ६४-५
-के आनेका प्रयोजन, २६९; उन्हें फिरसे भगवान्‌की तलवार लेकर . . ., २६९
ईसाई धर्म,
'ईसाई विचार 'स्रष्टा भगवान्' का, १०३
-की सीख और आधुनिक ज्ञानकी सीख मनुष्यजातिको, २८१

उ

उग्रता,
-की सभी क्रियाएं संकीर्णता व दुर्बलताकी क्रियाएं हैं, ७८, ७९, ८२
उदारता, १२४, ३६६
आत्माका सूक्ष्म आकाश, २९४
-का अर्थ, २९५
उदाहरण,
'चरागाहमें रहनेवाला पशु, १५
'कुली-मजूरका व्यायाम, ३४
'शिशु, कीचड़में और नहला देनेपर, ५५
'नरकसे एकको निकालनेमें एक वर्ष, ६६
'एक बहुप्रिय, योग्य स्त्री, समाज-बहिष्कृत और उपेक्षित, ८०
'बर्तनकी सुगन्ध सुरामें, ८४
'बाघ दिव्य है, ८८
'बारहसिंहेका प्रसंग, १११ टि०
'फ्रांसका प्राध्यापक, घरका रास्ता चुननेमें आध घंटा, १२८
'स्वप्नमें मुर्दागाड़ीकी ओर संकेत करता हुआ साईस . . . लिफ्ट टूट जाना . ., १३५
'रेड इण्डियन लोगोंकी सुनने और सूंघनेकी शक्ति, १४०
'कल्पना करो तुम भगवान् हो, सब वस्तुएं तुम्हारे अंदर हैं, १५२-५३
'मेजपर चीजें रखना, १६५
'मैं कहती हूं 'वह वस्तु लाओ' और वह दूसरी ले आता है, १८५
'भोजनद्वारा विष अंदर चले जाना, १८७
' "जाओ, अमुक व्यक्तिसे यह वस्तु प्राप्त करनेके लिये यह कहो," १८९
'मैले-कुचैले कपड़ोंका त्याग, २२९
'बालुकापर पड़ा पत्थर, २४१
'सिंह, कामधेनुकी पीठपर खड़े ऊंटकी पीठपर, २५६
'वैज्ञानिकके पास एक मूर्ख शिक्षार्थी, २६०

'सागरकी गहराइयोंमें हलचल नहीं होती, किंतु . ., ३०६
'लहरोंपर डूबता-उतराता तिनका, ३०९
'प्रहार करनवालेके आगे अपना गाल करनेवाला, ३०९
'गुंडेसे मार खाकर उसे चुपचाप ताकता व्यक्ति, ३०९
'पत्थरकी वर्षा करनेवालोंकी ओर प्रेमपूर्वक निहारता . ., ३०९
'तारेका प्रकाश पृथ्वीपर, ३१८
'सीपी व साम्राज्यकी रचना, ३२१
'विलासी राजा . . निपुण मोची, ३२१
'विष्णुके तीन पग, ३२३ टि०
'जहाजको अंधड़में देख निराश होना, ३२४
'लंबे समयतक उसी एक संकरे पुराने घरमें रहना, ३३४
चरवाहेको ज्वर, ३४०
'अफ्रीका निवासी जंगलियोंकी जाति, ३४०अ
'उपासका पेड़, ३४१
'बच्चा, बिना सहारे चलनेको उत्सुक, ३५९
'गोपियोंका चीर-हरण, ३६५
'कैलासके हिमखण्ड, ३७२
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)
उपभोग, दे० 'अति'
उपलब्धि, ७१
(वैयक्तिक), और 'ज्ञान' पूर्णतया संयुक्त हैं, १४३
(आंतरिक), होनेपर लोक-स्थिति, २९०
उपवास, २०४
उषा (देवी), ८६

ए

एकत्व [एकता],
-की चेतना और दृश्य वस्तु, १९८
(दे० 'सत्य चेतना' -में भौतिक जगत् भी)
तत्त्वका, २१९अ;
इसे जाननेकी क्षमता, २२०
ऊपरके संकल्पके साथ या नीचेकी वस्तुके साथ . ., २४४
सब मानव प्राणियोंका, २९२
और प्रेमके मानवीय कारणोंका मूल्य, ३६७
(सच्ची), कब संभव, ३६७
भगवान्‌के साथ, दे० 'तादात्म्य'

ओ

ओ३म् [ॐ], २७२
आरोवील,
-की स्थापनाका उद्देश्य, २७९
-में दुःख-कष्ट, २७९
-में गरीबी, २७९
(दे० 'आश्रम' भी)

औ

औषधि [दवाई],
-की रोग-मुक्तिकी शक्ति, ३४०, ३४४
उतना ठीक नहीं करती जितना

कि विश्वास, ३४०
-के बिना रहनेमें बाधा, ३४३; इसका इलाज, ३४३
आवश्यक क्यों, ३४३
(दे० 'रोग' भी)

क

कंचनजंगा,
(उच्चतम), से भी उच्च, १९४
कठिनाई [बाधा, विपत्ति], १५९
-का बोझ और प्रेमकी शक्ति, ७४
-के बोझका अपना हिस्सा अपने ऊपर लो, १२७
टल जाना, हस्तक्षेपसे, २००
'कठिन है इसी कारण इसके लिये प्रयास करना चाहिये, २०३
-यां दण्ड नहीं हैं, २०९
-के दबावसे चेतना जाग्रत् . ., २०९
'ऊपरकी सभी चीजें कठिन हैं, परंतु भगवान् जब ठेका ले लेते हैं . ., २१४
प्रभु किन्हें देते हैं, ३१५अ
-योंकी आवश्यकतामें शंकाका अर्थ, ३७७
(दे०' इच्छा' 'तमस्' और 'दुःख-कष्ट' भी)
कर्तव्य, २९५
कर्म,
-के परिणामोंको मिटानेकी शक्ति, ४८
(दिव्य), कितना सरलतापूर्ण !, १७५
(अत्यधिक), अत्यधिक निश्चलताकी ओर ले जाता है, २०७
-पर नियंत्रण कैसे, २८५
(निर्दोष), संभव कैसे, २८७
-का उद्देश्य, ३२२
(पुण्यकृत बुरे), को भी जानना, ३२८
-का पथ कठिन, पर सरल व आनंददायक भी, ३३३
-पथका चमत्कार, ३३३
(दे० 'कार्य' व 'बोलना' भी)
कला,
-का कार्य, २५७-५९
आधुनिक, ३३७
-को जैसा होना चाहिये, ३३८
कलाकार, ३३, ४०, २२९, २५८, ३२४
कवि, २५८
कामना, ३६
-की पूर्ण संतुष्टि या पूर्ण त्याग असंभव, १८४
अज्ञान और अहंकारसे रहित मुक्तिकी अपेक्षा लोगोंको उनकी दासता पसंद, २७०
(दे० 'इच्छा' भी)
कायरता, ३८, ३०९
कारण,
-की खोज करते रहो, ४२-३
कार्य,
हमारे करने लायक, ५४, २४५, २७९, २९९, ३०५, ३१२, ३३१, ३३२, ३६२
(दे० 'सत्यके पथिक' भी)
जब पूर्ण सहजताके साथ . ., ११५

सामान्यतः संकल्प-चालित, ११५;
रूपांतर-पथपर किंतु उलटी बात, १५१
(अतिमानसिक), का तरीका, ११५
और जल्दबाजी, २१०-११
(महान्), में भी अकर्तृत्वबोध, २४०
भागवत शक्ति ही करती है, २४४
(अपने मत या अहंको मिलाये बिना), करनेका ठीक ढंग, २४६
करना जब बुद्धिमानी न हो तो आदेशकी प्रतीक्षा करो, ३०४
-में अंतिम असफलता कब, ३०४
(प्रचंड), के बीच मुक्त आत्माकी स्थिति, ३०६
-का उद्‌गम, ३०६
इस प्रकार करो मानों आदर्शकी पूर्ति . ., ३१६-१७
व्यक्तिगत आवेगके वश नहीं, ब्रह्मके आदेशानुसार . ., ३१८
-में दक्षता एवं पूर्णता, ३२१अ
-की महानताकी नाप, ३२२
-में उचित-अनुचितकी उलझन, ३२४
(दे० 'कर्म' भी)

कार्य-कारण,
-की दृष्टिगोचरता जगत्‌में, ४५, २१८

कालविन, ३६३

काली,
-को श्रीअरविन्द सबसे अधिक महत्त्व क्यों देते हैं, ८६
-की प्रणाली, २२१;
इसका अर्थ, २२१
भयावनी शक्तिके रूपमें कृष्ण ही हैं, ३७६
(दे० 'श्रीकृष्ण' भी)

कालीदास, ३७२

कुटिलता, ३११

कुरुक्षेत्रका युद्ध, ५३, ६३, ३७०

कुरूप, १०४
और अनाकर्षक वस्तुएं, ४५-७
और सुंदर सापेक्ष, ४६
वस्तुके सौन्दर्य", ४६, ७०-३
शरीरमें प्रतिभावान्, ३१२
(दे० 'सुंदरता' भी)

कृतज्ञता,
जितनी, प्रसन्नता उतनी, ३६१

कैंन, ३२०

कैना,
-का बैंगनी रंगका फूल, ९६

क्रांति,
जो हमें संसिद्ध करनी है, ११
-योंका परिचालन, पर्वत-चोटीपर मौन बैठे हुए, २४१, ३०६
-योंमेंसे निकलता है, बस, चेहरा ही नया, २९६
-यां (सफल), केवल छः, २९६

क्रॉस (+),
-का प्रतीक, २६९

क्रूरता,
और प्रेम, १०७, १७२, १७३
(दे० 'निष्ठुरता' तथा 'घृणा' व 'तमस्' भी)

क्रोध, ७८
(न्याययुक्त), की बात, आत्मप्रवंचना, ८१-३

प्राणिक शक्तिका विकृत रूप, ८२
दुर्बलताका चिह्न, ८२
आसुरिक वस्तु, ८२
और प्रतिहिंसा निचली मानवताकी वस्तुएं, २८८अ
(दे० 'घृणा' भी)

क्षमता [योग्यता],
-ओंका गर्व, १५९
-की चाह, ३२६

क्षमा,
किसे करूं और क्या क्षमा करूं, ४७-८
मांगनेके साथ-साथ उन्नति भी होनी चाहिये, ४७
करना भला कार्य कब, ३१०
(दे० 'भूल' भी)

ख

खोज,
-को सूत्रोंसे सुला मत दो, ४२-३
समग्र ज्ञानकी, १४३ (दे० 'समग्र दृष्टि' भी)

ग

गति,
तमस्‌में भी बंद नहीं होती, ७८
(दे० 'अकर्म' भी)

गरीबी [दरिद्रता], ३२६
'गरीबोंकी सहायता, २७७
-के बारेमें, २७८-८१
और कष्ट कबतक, २८१

गीता,
-का प्रभाव, ६४
(दे० 'श्रीअरविन्द' भी)

गुण,
-के साथ अवगुण भी, ८२
(आवश्यक), २५६अ, २९४
(एक), का अतिरंजन, २७५
प्रशंसा पाने या पूर्णता पानेके लिये !, २९४
-ोंके प्रदर्शनसे धोखा मत खा, ३११
कष्ट और कठिनाइयोंमेंसे, ३१५

गेलेन, ३४१

ग्रहणशीलता, ८, १२, २२

घ

घटना,
-को शुद्ध रूपमें समझना, ४९, ५९
(दे० 'चीज'-ोंको सच्चे भी)
'जो कुछ होता है, भलेके लिये, ४९
-को कष्टमें बदलनेवाली चीज, ५०, २९०
(प्रत्येक), के पीछे भगवत्कृपा, ५१
-ओंका पूर्वबोध, १३२
-को बदल सकना, १३४-३५
एक ही, मनुष्य दुःखी, पशु नहीं, १५४
एक ही, एकको आनंद, एकको कष्ट, २५४
(बाह्य), से विचलित मत होओ, २७६, २७७
-की महानता और श्रेष्ठता किन चीजोंपर, २९६

-एं साधित नहीं, विकसित होती हैं, ३१८
-में हस्तक्षेप, ३१८
घृणा,
पापीसे, ७६, २५२
विद्रोह, क्रोध आदि क्रियाओंकी आवश्यकता, ७७;
इनका मूल, ७८;
इनका समाधान, ७९;
इनकी उपस्थितिका अर्थ, ७९
और प्रेम, २०८
गुप्त आकर्षणका चिह्न, २२४-२७
ही एकमात्र अपराध, २२४
अकर्मसे, २४१
अत्याचारीसे, २९१
-की तलवारकी धार दोहरी, २९१
कुटिलतासे, ३११
नास्तिकसे, ३५७
शैतानसे, ३५८
हंसीमें बदल गयी, ३५८

च

चंद्र (देवता), ८६
चंद्रावली, ३५७
चमत्कार, ४०
-ोंके लिये रुचि किस बातका चिह्न, १६५, १७०
-ोंका उपयोग आपने या श्रीअरविन्दने क्यों नहीं किया ?, १६६-६७
(प्राणिक या भौतिक), में मिथ्यात्वका मिश्रण, १६६-६७
-को देख सकनेकी क्षमता, १६६, १६८, २१९
नामकी कोई चीज नहीं", और "चमत्कार द्वारा ही यहां सब कुछ बदल सकता है" : व्याख्या, १६८-७०
क्या चीज है ?, १६८, १७०
(सच्चा), तब क्या होगा ?, १६८
-का अर्थ पृथ्वीके लिये, १६९, १७०
-ोंकी आवश्यकताका सबसे बढ़िया उपयोग, १७१-७२
-की वे भौतिक व्याख्या दे देंगे, २१९
(दे० 'विज्ञान' भी)
चिकित्सा-विज्ञान,
वरदान नहीं, अभिशाप, ३३९, ३४२
सदाशय है, किंतु.., ३४१
चीज [वस्तु],
", बुरी कब हो उठती हैं, ४६ ४७, ७७-८, १०४,
इनका इलाज, ४७
'सब कुछ भगवान् है, ४७, १०३, २१४
(दे० 'भगवान्' सब कुछ भी)
-ोंको सच्चे रूपमें देख सकना, ४९, ७८, २७६, ३००
(प्रत्येक), सर्वोच्च सत्ताकी अभिव्यक्ति है, ७१
(दे० 'जगत्' -में सब भी),
(बुरी), के प्रति सम्यक् वृत्ति, ७२-३
", वैसी ही हैं, जैसी होनी चाहिये, ७८, ७९, १०६;
इस दृष्टिको अपनानेपर कोई गति नहीं होगी !, ७८

˜, जो भूतकालमें ही रहेंगी, १०१
˜(सब), जहां सह-अस्तित्व रखती हैं, १०१, १०६, २०४
˜(अरुचिकर), भी भागवत सत्ता-का अंग, १०३-६
(दे० 'कुरूप' वस्तु भी)
(प्रत्येक), अपने स्थानपर है, १०६, १०८, १०९
˜, अपने स्थानपर नहीं, १०८
कोई बुरी नहीं, केवल.., १०९
(प्रत्येक), को प्रत्युत्तर देनेका ढंग, अतिमानसिक चेतना और मानव चेतनाका, ११६
(सूक्ष्म), को पानेकी विधि, १३९
जो एक क्षण सत्य है, दूसरे क्षण सत्य नहीं रहती, १५२
एक ही समय है भी और नहीं भी, कैसे ?, १५३
(प्रत्येक), को उसके ठीक स्थान-पर रखनेका तरीका, १६३
(कोई), दबानी नहीं चाहिये, १६३, २०४-५
˜(तुच्छ), आध्यात्मिक अनुभव-का विषय कैसे ?, १६५
˜(विरोधी), — मृत्यु-जीवन, क्रूरता-प्रेम, अज्ञान-ज्ञान — 'अभिव्यक्ति'को अधिक पूर्ण बनानेके मार्ग हैं, १७२-७४; ये मार्ग भद्दे हैं : कारण, १७४
˜, ऐसी बहुत होंगी जिन्हें विलीन होना होगा, १८३
-ोंको उसी रूपमें स्वीकारना जैसी वे हैं और फिर आगे बढ़नेका प्रयत्न करना, २०८अ
कोई ऐसी नहीं जो प्रभु न हो, किंतु विरले हैं जो प्रभुके प्रति सचेतन हों, २१४
-ोंका सृजन और संहार आंख-मिचौलीका खेल, २३२, २४०
-ोंको घृणित या अरुचिकर समझना मानसिक धारणा है या..., ३१२
˜, तेजीसे आगे बढ़ रही हैं, ३२३
(दे० 'सत्यचेतना'-में वस्तुओं तथा 'रोना-धोना' भी)

चुनाव,
और निर्णयका सामान्य तरीका, २०
-संबंधी स्वतंत्रता, ८९
कार्यका, १२८, १२९
(दे० 'निर्णय' भी)

चेतना,
भरना शरीरके कोषोंमें, ३३
पार्थिव मनोवैज्ञानिक और मानव समूहकी, ७६
-का परिवर्तन भी एक क्रिया है, १९५
-का परिवर्तन, एक गति नहीं, १९६
-का प्रत्येक बिंदु **समस्त** अनुभवको पा सकता है, २३०
(दे० 'जड़तत्त्व' भी)

चैत्यपुरुष, ३७८
ही अंतःप्रेरणाका माध्यम, ७
-द्वारा नये जन्मका चुनाव, ३३
-का विकास और शरीर-साधना, ३३-५
जब शासन-सूत्र संभालेगा, ८९
(दे० 'अंतरात्मा' और 'जीव' भी)

चोर,
और हत्यारेके आगे नतमस्तक, २५२

ज

जगत् [संसार, सृष्टि],
आगे बढ़ रहा है, ११, ४७, १०१, १०४, १४८
एक भ्रांति', के दो सिद्धांत, ४४-५
-में सब कुछ सच्चिदानन्दकी ही अभिव्यक्ति है, ४६, ७१, २५२
-में प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, ४६
-का भविष्य, ५३-४
(दे० 'राष्ट्र' भी)
एक अंधी आकस्मिकता' में तर्क, ५६
-की असत्यताका बोध, १०९अ
-का स्वरूप सत्यचेतनामें, १०९-१०
(दे० 'सत्यचेतना'-में भौतिक जगत् भी)
यह प्रतिमूर्तियोंका जगत् है, १३१
(दे० 'अभिव्यक्ति' -का मूल भी)
तीन आयामोंवाला, १४५
'चौथे आयामकी भावना, १४५
एक प्रहसन है, १५४, १५५-५६; इसे दुःखांत हमीं बनाते हैं, १५४-५५; यह प्रहसन है भगवान्के लिये, किंतु हम . . ., १५४, १५६
-के रूपांतरका उपाय, १९६, २२३, २४५, २५०, ३००, ३१२
(दे० 'आत्मा', 'पृथ्वी' -की वापसी तथा 'लक्ष्य' भी)
-के रूपांतरकी प्रक्रिया, २००
(दे० 'आश्वासन' भी)
-की निश्चेतना ही असत्यको बनाती है, २१४
मिथ्या, किस अर्थमें, २१४अ
एक आवर्त्त-दशमलव . ., २२७
-की भ्रांतिके विषयमें, २३२अ
-के बारेमें मानव-विचार, २७१
-को समझनेका सर्वश्रेष्ठ ढंग, २७१, २७६
-में दुःख और गरीबी न रहे, क्या ऐसा दिन आयगा ?, २७८अ
-से निराश होकर भगवान्को पकड़ने . ., ३००
तर्कके नहीं, विश्वासके सहारे बढ़ रहा है, ३०२
घायल, विषधर नाग, ३११
-को यदि एक राष्ट्रका रूप . ., ३२२-२३
(सारा), मेरा अंतःपुर, ३५१
-को अलग रखकर भगवान्से प्रेम करना, ३५७
(दे० 'भगवान्'-से प्रेम भी)
आत्माका पति और कृष्ण यार, ३५९
अभीतक दिव्य आनंदका विरोधी, ३६०
स्वर्गकी प्रतिमूर्ति कब बनेगा, ३६४
-का अधिपति बननेकी लालसा, ३७३-७४;
इसमें आनंद कब, ३७४
(दे० 'अभिव्यक्ति' और 'विश्व'में, तथा 'श्रीअरविन्द' 'तमस्' व 'रोना-धोना' में भी)

जटिलता,
और सरलता, १७६

(दे० 'मन' भी)
जड़तत्त्व, १७३
-में भागवत उपस्थितिका मूल, २१३
सत्य है या चेतना ?, २६१
जड़पदार्थ,
और सर्वोच्च प्रेम, ७५
-का रूपांतर, ७५
अभी कठोर है, ७५
और ये बम-प्रयोग, ९५
-में अतिमानसिक चेतना, ११३-१८
-की दृढ़ताका प्रयोजन, ११४
जगत्का मिथ्या रूप नहीं, १९८
-के 'तमस्'के प्रतिरोधका परिणाम, २४३
जनक,
-के सामने नारद भी विभ्रांत, २०३, २१२
जीव,
-के शरीरमें आनेका उद्देश्य, ३३, ३६०
(दे० 'चैत्यपुरुष' और 'मनुष्य' किस भी)
जीवन, ८६, १२४, २५१
-का त्याग, १५, ६९, ८४, २०५-६, २२२
-की चीजोंसे ऊबका अनुभव .., १५, १६
-की सहायता, चैत्य प्रगतिमें, ३४
सामान्य और असफलता व पराजयका, ५७
-की नारकीय परिस्थितियोंमें होनेपर उचित भाव, ६६
सर्वोच्च इच्छा-शक्तिकी अभिव्यक्ति कब होगा, ८९
इतना दुःखमय क्यों है ?, १५६, २०९, २१४
यदि सरल होता, १५६, २०९
-को गंभीरतापूर्वक लेना उसे पूर्ण बननेसे कैसे रोकता है ?, १६२-६३
-को पूर्ण बनानेका पथ, १६३
-को दो भागोंमें बांटना, १६५
और अक्षर आनंद, १८१-८३
अति व्यस्त और पलायनका, २०७
आनंदपूर्ण कब होगा, २१४
-को व्यर्थ घसीटनेकी अपेक्षा मरकर दुबारा जन्म लेना क्या अधिक अच्छा नहीं ?, ३३४-३५
-का सर्वग्राही सूत्र, ३५६
हमें किस लिये दिया गया है, ३६०, (दे० 'जीव' भी)
जब .. हास्य बन जाता है, ३६७अ
(दे० 'पार्थिव स्वर्ग', 'मुक्ति' और 'मृत्यु' भी)
जूडिया,
-में भगवान्‌का सेवक .., ३४९
जेहोवा, ९४, ९५
ज्ञान,
और प्रज्ञा, ३-५, १४०, २२२; ये संबद्ध शक्तियां क्यों ?, ३
(मानसिक), "विकृत माध्यममें देखा हुआ सत्य" : व्याख्या, ३-५
शब्दका प्रयोग, ६, १७
जो भगवान् देते हैं, न विवेक है, न बुद्धिहीनता .., ११-२
(उपार्जित), की जब और

आवश्यकता नहीं रहती, १२;
इस स्थितिको पानेकी शर्त्त, १२
साधारण [मानसिक], १७, १९अ, २७, ४२
प्रज्ञा और तर्कबुद्धि, १९-२०
(सच्चा), २०, ३७०
(सच्चे), के लिये प्रथम पग, २०, २२
'पढ़ना-समझना और सच्चा अनुभव, २२
जिसका कोई यथार्थ मूल्य नहीं, २६, २७
(सच्चा), पानेकी शर्त्त, २६-७, २९
(मानसिक), आपेक्षिक ज्ञान, २७
-को जीवनमें उतारनेका महत्त्व, ३७अ, २६४
(अधिक), की प्राप्तिका उत्तम तरीका, ३८
-के वृक्षका फल, ८९
-के वृक्षका प्रतीक, ९१, ९४
विभाजनका, ९१, ९४
-के उदय होनेका लक्षण, १२९
(व्यावहारिक), को व्यवस्थित करना आवश्यक, पर नाशकारी, १४०अ, १४२
वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनोंका संयोग काफी नहीं, तीसरी वस्तु भी चाहिये, १४१-४३, १४४
(नया), अजेय होता है, पुराना होकर वह.., १४८
रूपांतरकारी, १४८-४९
'जाननेका अर्थ है कर सकना, २१६
आत्माका, भौतिक ज्ञानसे कहीं अधिक अद्भुत, २१६, २१७
आत्माका, भौतिक ज्ञान प्रदान नहीं करता, २१६
(आंतरिक), में विश्वास दिलानेकी शक्ति नहीं होती, २१८
अपनी खोजका शोर मचाता.., २२२
'जानना, कहना, करना, अच्छा है, किंतु बनना.., २४१
(दे० 'बनना' भी)
आध्यात्मिक, के निषेधकी प्रणाली जड़-वैज्ञानिकोंकी, २६१
पाने योग्य, २६४
'बोध मस्तिष्क और हृदयका, ३०३
-की छोटी-छोटी बारीकियोंको खोदते रहना, जब कि असीम बुद्धिमत्ता ऊपर.., ३२९
'केवल जाननेसे क्या लाभ.., ३३३
(मानव), और भागवत ज्ञान, ३८०
(सच्चे), की एक बूंद.. क्रांति पैदा.., ३८१
(परम), की प्राप्ति कब, ३८३
(दे० 'सत्य', 'समग्रदृष्टि', समझना', 'अज्ञान' और 'भूल' भी)

ज्ञानी,
नहीं हूं, समर्पित हूं, ११-२
कौन होता है, ११
बननेकी एकमात्र विधि, ३७०
(दे० 'भगवत्प्रेमी' भी)

झ

झगड़े,
(मानसिक), से बच जाओगे, २४-५

(निजी), से बचो, किंतु सार्व-जनिक लड़ाई.., ३१३
(दे० 'संघर्ष' भी)

झलक,
पा जाना, प्रतीक्षा करती अनंत संपदाओंकी, १२-३, १६

ट

टार्कमादा, ३७१
ट्रायनगर, ६३

ड

डटे रहो,
अचंचलताके साथ, २०२
'टिके रहनेका केवल एक तरीका है, २२३
भूतकालके सामने, ३०४

त

तमस्,
और क्रूरता, १०७, २०७
-से सृष्टिको, बाहर लानेका साधन, १७२-७५, २०७
-का प्रतिरोध ही विपत्तिको उत्पन्न करता है, २४३
(दे० 'गति' भी)

तर्क,
बाह्य रूपको सत्य माननेका, २०
सबको सत्य साबित कर सकता है, २७
(दे० 'मन'-द्वारा भी)
-द्वारा भगवान्‌के अस्तित्वका निषेध, ३५
-शक्तिकी मूर्खता, ३५अ
और अनुभव, ३५-६
नियतिवादके पक्षमें, १९७
-का कार्य, ३०२
अपनेको विश्वासके अनुकूल .., ३०२
(दे० 'विश्वास' भी)

तर्कबुद्धि,
और इंद्रिय-ज्ञान, ५, ७, ८, १९४
मनुष्यकी मानसिक क्रियाका शिखर, ७, १७
-द्वारा सोचे हुएसे भिन्न बोल उठना, ९-१०
और अंत:प्रेरणा [प्रज्ञा], १०, १७, १९
जीवनमें आवश्यक, १७
-को पार कब करना, १७, १८
-का कार्य, १९, २०, ६८
-के चमत्कार", का आशय, ३९-४०
(दे० 'मन', 'बुद्धि' और 'सत्य' भी)

तर्कवादी, १०२

तर्कशास्त्र,
सत्यका सबसे बड़ा शत्रु, ६८-९

तादात्म्य [एकत्व] (भगवान्, भागवत चेतना, सर्वोच्च संकल्प . . . के साथ),
प्राप्त करनेकी आवश्यकता व उसके परिणाम, ४३, ५२, ७८, ७९, २२७, २४१, २४४, २७३, २७६, ३३७, ३४३, ३५८, ३६५, ३६७
प्राप्त करनेकी शर्त्त, ३८०

तिरस्कार,
करना किसीका, ३१२
तुच्छ,
कोई चीज न हो तेरी नजरोंमें भी, ३२१
त्याग,
महत्तर आनंदके लिये .., १७९
-की भावना, १७९-८१
-की भावना या मुक्तिका बोध, १७९, १८१
करना नहीं, स्वीकार करना कठिन, १८१
-का पथ, २०५-६
(दे० 'जीवन' भी)
कामना, अज्ञान, अहंकारका, २७०
त्यागके लिये नहीं .., २९३
उस वस्तुका कैसे, जो उन्होंने जबर्दस्ती मुझसे छीन ली .., ३४७, ३४८
(दे० 'अति' भी)

द

दया,
-भाव बौद्धोंका, २७५
जीवोंपर, २८७
-के दास, २८७
(मानवीय), और भागवत करुणा, ३७८-७९
दर्शनशास्त्री (संसार-त्यागी),
बुद्धिमान्, पर जरा मूर्ख भी, ३५३
दांते, ३६३
दानशीलता, २७६अ
दास,
घृणापात्र व प्रेमपात्रका, २२५
बस, भगवान्के बनो, २८७
जो किसीका, नहीं रहा .., ३१५
नारदकी तरह, ३७४
दिखावा,
या चरितार्थता !, २१२
(दे० 'बनना' भी)
दुःख-कष्ट [दुःख-दर्द, पीड़ा, यंत्रणा], १०९
व कठिनाईसे बाहर निकलनेका उपाय, १५, १५७-५८, १६४, २७२, २८०-८२, २८७
-के पीछे शुभ, ५०
जब आवश्यक नहीं रहेगा, ५२, १७४अ, २१४, २७८-७९
व कठिनाईकी विद्यमानताका हेतु, ६७, १५६, १७३-७४, २०९, २१४, २५३-५५, २७२, २७९, २९०, ३१५, ३२४, ३७०
हमारी दिव्य जननीका स्पर्श .., १७७
(नैतिक), स्वभावको बनाते हैं, १७७
शरीरका, दे० 'शरीर'
-का एक कारण, २५५, (दे० 'घटना'-को कष्ट भी)
मानव जातिके कब दूर होंगे, २७८अ, २८०-८१
(अधिकांश), का कारण मनुष्यकी भूलें, २७९
'एकमात्र दुःखद वस्तु, २८९, ३७९

(अपने और दूसरोंके), के प्रति सम्यक् वृत्ति, २९०
प्रगति न करनेका, ३०७
-में आश्वासन, ३०७
कामना, महत्त्वाकांक्षा आदिकी भूमिका मानव-विकासमें, ३०८
'शोक और दुर्बलताको गुण कहा, ३०९
जिसने कभी नहीं झेला . ., ३१५
आनंदका ही रूप, ३५०
-की चार अवस्थाएं, ३५०-५१
-का तिरोभाव भगवान्से मिलनके बाद, ३५१
शोक या दुर्भाग्यके कारण जब मैं कष्ट पाता हूं तो कहता हूं . ., ३६५
यदि मैंने न भोगा होता . ., ३६९
'शोक-तापसे हृदयको कठोर बना लिया . ., ३६९
पहुंचाना अपने-आपको . . इस विकृतिके पीछे ज्ञानका प्रच्छन्न रूप, ३६९अ
-की खोज मत कर . ., ३७०
साथीपर न फेंक, ३७१
पहुंचानेका अधिकार, ३७१
-के आकार और . . आशंकाकी परवा करना जब जीव छोड़ देता है . .", ३७३
-के लिये आकर्षण न रहनेपर प्रभु हमें आनंद . ., ३७७
'पीड़ा है गुप्त और प्रचंड आनंदोल्लास, ३८०
(दे० 'आत्मा' व 'सुख' भी)

दुर्घटना,
-का नियम, १३५
-की विफलताका कारण नियतिवाद या सत्यचेतनाका हस्तक्षेप, १९६-९७, १९९

दुर्बलता, २१०, ३७५
सुखके आगे, ५९
हैं, घृणा, क्रोध आदिकी क्रियाएं, ७८, ८२
ही अशुभका कारण, ३२६
है . . . शक्तिमत्ता, ३८०
(दे० 'भगवान्' दुर्बल, व 'रोना-धोना' भी)

दुर्भाग्य,
-पर रोना-पीटना, ४९, २७२
क्या है, ४९, ५९
क्यों आता है, ४९

दूसरे,
-ोंका तरीका पकड़ना ठीक नहीं, १६
-ोंके अनुभव भी सत्य, २४
-ोंपर अपना अनुभव लादना, २४
-ोंमें हमें क्या चीज खटकती है, २४-५
-ोंमें खटकनेवाली चीजके प्रति सच्चा मनोभाव, २४-६
एक आइना हैं, २५, २६
जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं, २६
-ोंकी बुरी वस्तुको न देखना, बुरी बातकी चर्चा न करना, ७२
-ोंके पापोंके प्रति सामान्य वृत्ति, ११०
-ोंके प्रति तब उदार होगे, १२४

-ोंके कार्योंमें हस्तक्षेप, २४७-४८
-ोंको सलाह देना, २४७-४८
-ोंके साथ हमारे संबंध, २५५
दृष्टि,
भविष्य-दर्शनकी, १३०-३४
(दे० 'विज्ञान' भी)
दृष्टिकोण,
अगणित हैं, ३७
संकुचित, घटनाके प्रति, ४९, ५०
५२, ८० (दे० 'संकीर्णता' भी)
अतिमानसिक, १११
(दे० 'समग्र दृष्टि' भी)
दृष्टि भ्रम,
-का क्या अर्थ है, ३९-४२
और अंतर्दर्शन, ४१-२
देवता,
-ओंका — वरुण, इन्द्र आदिका —आवाहन, ८६
-ओंमें अंतरात्मा नहीं होती, २१२-१४
-ओंका अवतार लेना, २१३
ही दिव्य नहीं, दैत्य भी . ., २९२
पूरी तरह दिव्य नहीं, यदि उसमें असुर . . नहीं, २९२
-ओंको सहना सीखना होगा, ३०९
देवत्व,
-की विरोधी तीन हठीली चीजें : स्वार्थपरायणता, नीचता, घृणा, २२४
देश,
मातृरूप भगवान् है; उसके बारेमें बुरी बात कहना . ., २९५
दैत्य,
-के, अमरत्वकी ओर ले जानेवाले, चार पग, ३७६
दोष,
दूसरोंमें खटकनेवाले, २४-६
(किसी), की निंदा करनेवाले, ३१०
-ोंके लिये किसीसे घृणा . ., ३११
(दे० 'भूल' भी)

ध

धन, ३२६, ३२८
धर्म,
-की सुविधा : भगवान्‌को पीटना, ९६
-की लोगोंको आवश्यकता, ९८
और योग, ९८
-की संकीर्णताको निकाल फेंक, १९४
-के कर्मकांडी, २५९
-की सहायता, २५९अ
अहंभावसे मुक्तिमें सहायक, २८१
या नास्तिकतामें कौन श्रेष्ठ, २९६अ
(दे० 'संप्रदाय' भी)
धर्मग्रन्थ, दे० 'शास्त्र'
धर्मात्मा,
बननेका स्वांग, १२७
धर्माभिमान,
और पुण्य, ६८-९, ३५९
धैर्य, १३९
रखनेकी आवश्यकता, २१०
आदर्शकी पूर्तिमें, ३१६
ध्यान,
और पूजा-पाठ पुराने समयका क्या अब जैसा ही था?, ६४

न

नरक,
-में भगवान् यदि रखें, ६५-६
(शाश्वत), की बात, ३६३
(जघन्य), ३७४
स्वर्गका सबसे छोटा रास्ता, ३७७
नमनीयता, ३२, ११३, ११४
-का अर्थ, ११७
नारद, २०३, ३७४
आत्माको न देख पाये, यह कैसे ?, २१२-१३
नास्तिक [अनीश्वरवादी], ५७, २५९, ३८२
और ईश्वरवादी, ५७-८
'नास्तिकताका प्रयोग, २९६
-से घृणा, ३५७
-को ईश्वर-अस्तित्वकी युक्ति, ३६२
निंदा,
करना दूसरे धर्मों और संप्रदायोंकी असहिष्णुताकी, २३
मायावादी व अज्ञेयवादीकी, ३६२
असफलता और अपूर्णताकी, ३६६
मत कर, सहायता कर, ३६६
(दे० 'प्रशंसा' भी)
नियति,
-से आक्रांत अनुभव करना, २१-२
नियतिवाद,
समस्त अनुभूति नहीं, १९७-९८
(उच्चतर), २५२
नियम, ३३१
-का पालन, कठोरतापूर्वक, २६५
(आलोकित), को पानेसे पहले सामाजिककी अपेक्षा उच्चतर नियमका पालन अच्छा, २६६
(आलोकित), क्या है ?, २६७
उच्चतर, का पालन कैसे ?, २६८
-कानून जगत्की रक्षा नहीं कर सकता, २७०, ३२६
(दे० 'सरकार' भी)
किन लोगोंके लिये, ३३२
(दे० 'कार्य-कारण' भी)
निराशा [हताश होना], २९, ४९
किस बातका चिह्न और किनमें उत्पन्न होती है, ५६
और दुर्बलताके वश होनेपर यह सोच . ., ३०९
'निराश न होनेका पाठ, ३२४अ
(दे० 'जगत्'-से निराश, 'भय', 'विरोधी शक्ति' व 'विश्वास' भी)
निरीक्षण [जांच],
(अपनी), बिना दयाके, १२४
यथार्थ, १७१
निर्णय,
देना, जिन चीजोंके बारेमें तुम जरा भी नहीं जानते, ३०, ३५अ
और मत मनुष्यके, ३१०
(दे० 'चुनाव', 'मूल्यांकन' भी)
निर्वाण, १०१, १९८, २०४
निश्चयता,
-का सुख, २३२
अनुभूतिसे ही, २७४
अंतिम चरितार्थतामें, ३०७
(दे० 'आश्वासन' भी)
निश्चल-नीरवता [नीरवता],
अंत:प्रेरणा पानेके लिये, ८, १५०

पढ़ेको समझनेके लिये, ९
ज्ञान पानेके लिये, १२
सत्यदृष्टिके लिये, २२
और अनुभव, १९१अ, १९३
-की शक्ति, २२२;
इसे नीचे उतारनेमें कठिनाई, २२३
आदेश जान सकनेके लिये, ३०३
-मेंसे वाणी और कर्म, ३०६
(दे० 'अचंचलता' भी)

निष्ठुरता,
-का अपना स्थान ?, १०७-८

नीचता,
ही एकमात्र अधर्म, २२४
अक्षम्य पाप, २९४
-का अर्थ, २९५

नीत्शे,
-का अतिमानव, २५६

नेपोलियन, १४८
सशस्त्र भगवान्, ५२

नैतिकता,
'नैतिक और बुद्धिवादी व्यक्तिका ज्ञान, १८
और मानव एकता, ३२३
-का मजाक, ३४८
-से मुक्त करनेका प्रयास, ३७५

नैतिक धारणा [नैतिक दृष्टिकोण], १११, ११२, १२४, १८६, २२६, २५२
भगवान्के बारेमें, १०२-३, १०५
(दे० 'पाप-पुण्य', 'शुभ-अशुभ' भी)

नैतिक विचार,
-ोंका प्रयोग व्यक्तिगत गतिविधियों-को छिपानेके लिये, ८३

प

पक्ष,
सत्यके असंख्य, ३७
भगवान्के, अनगिनत, १०६
किसका, संसारके संघर्षोंमें, ३२७

पतन, दे० 'पार्थिव स्वर्ग'

पथ [योगपथ, रास्ता],
संकीर्ण है, १३
ग्रहण करनेमें तीन बाधाएं, १३-४, १६
अपना ही अपनाना चाहिये, १६
कम लंबा कैसे, २९
-पर आगे बढ़नेका उपाय, ३८, १४८, १४९
कोई भी पकड़ो .., ८५
अमृतका स्वाद बदल देता है, ८५
अनगिनत, १०६
प्रत्येक, से तुम 'उन'के एक पक्षको छू सकते हो, १०६
समग्र ज्ञानकी खोजका, १४३
(दे० 'समग्रदृष्टि' भी)
-की बहुविधता और 'रहस्य', १४३
त्यागका और भागवत प्रेरणाके अनुसार कार्य करनेका, २०४-५;
दूसरा बहुत कठिन, २०५
(भयंकर), की आवश्यकतामें शंका-का अर्थ, ३७७
(दे० 'चीज' (विरोधी) भी)

पद-परंपरा, दे० 'समझना'

परिणाम,
वर्तमान स्पंदनका तात्कालिक फल नहीं, १८५

परिवर्तन,
-की शक्ति, सच्चे ज्ञानमें ही, २०-२
बाह्य क्रियाओंमें, तादात्म्यसे, ४४
(दे० 'चेतना' भी)
परिवार, २९५
परिस्थिति,
-संबंधी अज्ञान, ४९, ५९
-के प्रति सच्ची वृत्ति, ५९, ६६
-योंकी व्यवस्था .., ३३७
परोपकार-वृत्ति [परोपकार-भावना],
और भगवत्प्राप्ति, ८४
'भलाई, बिना शक्तिके अपूर्ण, २९२
स्वार्थपरताका ही रूप, २९३
-से दूसरोंकी आत्माका हनन कैसे ?, २९३
'परोपकार, कर्तव्य .. बंदीगृह बन जाते हैं, २९५
अच्छी है, पर .., ३२८
पवित्रता, १२७
(बच्चेकी सहज), ५५;
इसे ढकनेवाली चीजें, ५५;
'अगली पूर्णता, ५६
भागवत, १०६
वैराग्यमूलक, ११२
आत्मामें है, किंतु कार्योंमें .., ३०७
-का अर्थ, ३०८
पवित्रीकरण,
-की शक्ति, ७३अ
(दे० 'शुद्धि' भी)
पशु,
हमें नहीं समझते, ११९
और दुःखपूर्ण घटनाएं, १५४
पालतू, १५४
पश्चात्ताप, १६४
ही काफी नहीं है, ४७
पश्चिम,
-का जीवन, २०६
-का सिद्धांत, जीवन-यापनका, २५१
'पश्चिमी धर्मोंके भगवान्, ३५०
(दे० 'यूरोप' भी)
पश्चिमी मन [यूरोपवासी],
-का मूर्तिके प्रति भाव, ९७
-के लिये समझना कठिन कि **सब कुछ** भगवान् हैं, १०३
पाखंड, ८३, १२७, ३१०
पागल,
अंतःप्रेरणाके दबावसे, २९१
हूं, वे कहते हैं .., ३५६
(दे० 'मूर्ख' भी)
पाठ,
-से लाभ उठानेका तरीका, ९
मानवजातिके लिये, ३१०
(दे० 'शिक्षा' भी)
पाप,
कोई भी ऐसा नहीं जो हमारे अंदर न हो" : व्याख्या, ७६
क्या है, ७७, १०७-८
-का कोई अस्तित्व नहीं, १०७-८
-का विचार, १०८, १६५
' 'आदि पाप' का विचार, १०८
मनुष्यमें कोई नहीं .. रोग .., ११०
-भावना क्यों आवश्यक थी, ११०
(अपने), के प्रति और दूसरेके पापके प्रति मनुष्यकी वृत्ति, ११०
(अक्षम्य), २९४

और शोकका आघात, ३०७
-में जब मैं जा गिरता.., ३५९
-में प्रभु हमें क्यों गिराते हैं, ३५९
(दे० 'अशुभ' भी)

पाप-पुण्य,
नहीं, भगवान्‌की इच्छा, ५४, ३२६अ
-से परे चले गये व्यक्तिके प्रति मनुष्यकी प्रतिक्रिया, ६०
-की भावना पूर्णतामें बाधक, ११०
-का विधान कब आवश्यक, २६७
-का प्रयोजन, २७६
(दे० 'पुण्य', 'शुभ और अशुभ' भी)

पापी,
-से घृणा, ७६, २५२
-में भगवान्‌को देख, ३६६

पार्थिव स्वर्ग,
-का अस्तित्व था, ९०-२;
तबका जीवन, ९०-२
-से पतन, ९३, ९४-५, १५६, ३७७;
यह अनिवार्य नहीं था, ९३
-को दुबारा कैसे पा सकते हैं, ९५

पीड़ा, दे० 'दुःख-कष्ट'

पुण्य,
-का सबसे बड़ा शत्रु, ६८-९
और नैतिकता है यह, ७२
-भावना पापोंकी पोषक, ११०
-भावना और पूर्णता, १६३
-का अभिमान, ३५९
-के वस्त्रको जब खींचा.., ३६५
-के चोगेको त्याग दें, ताकि 'सत्य' के लिये तैयार हो सकें, ३६६

पुण्यात्मा,
-से घृणा न करना कठिन, ७९-८०

पुनर्जन्म,
-में साथ जानेवाले अनुभव, ९८
(दे० 'चैत्यपुरुष' भी)

पुस्तक,
(शिक्षाप्रद), के पढ़नेका लाभ तभी.., १
(अरोचक), को प्रसन्नतासे पढ़ना कैसे संभव है ?, ७०

पूजा,
-का अर्थ, ६४
देवोंकी नहीं, परम प्रभुकी, २५३
कर उस दिव्य प्रज्ञाकी.., ३६२
(दे० 'ध्यान' भी)

पूर्णता, २६, ५२
-से लोगोंका अभिप्राय, १०५
(दिव्य), क्या है, १०५-७
भगवत्प्राप्तिका एक मार्ग, १०६
-का अर्थ, १६३
समस्वरतामें ही, २७५
-की प्राप्तिकी शर्त, ३२१
(बाह्य परिवेशकी), सरकार-द्वारा या अंतरात्मा.., ३२६

पूर्वजन्म,
-ोंकी स्मृति, ९८

पूर्वबोध, १३५-३६

पृथ्वी,
सूक्ष्म जगतोंका घन रूप, ६१
-की वापसीको सुनिश्चित बनानेवाली चीज, १२५-२७, २५०
(दे० 'जगत्'-के रूपांतर भी)

'पार्थिव चेतनाकी मुक्तिका मूल्य, १२५
-का एक आरंभ है, वहां विकास-का अर्थ संगत है, १६९
-के लिये कुछ कर सकनेके लिये आवश्यक चीज, २२३
-को लुप्त नहीं होना चाहिये, २२९
(दे० 'प्रेम', 'भागवत प्रेम' और 'सूर्य' भी)

पेगेनिज्म, ३३६

प्रकृति,
-के पहरेदार : भय, अविश्वास, और संदेह, १३
-का तरीका, १४-५
-के सामने अनंतकाल पड़ा है, १५
-का उत्तर जल्दबाजी करनेवालों-को, १५
-के रहस्योंको भौतिक चेतनामें रहते जाननेका प्रयास, ३०
-के नियम आवश्यक कब, २५०अ
-के अनुरूप जीवन-यापन, २५१
शरीरकी या भगवान्‌की, २५१
-का अनुकरण और कला, २५७
-का "शाश्वत प्रतीक", २५८
क्या है, २८२
माता कैसे आगे बढ़ती है, ३२३
-की प्रशंसा व पूजासे क्या, आत्मा-द्वारा उपभोग कर, ३५२
भाव और कर्म — सब प्रेमपात्र बन जाते है, ३५२
(दे० 'विधान' भी)

प्रगति,
-में सहायक एक चीज, ३०
ऊपरसे आनेवाले सत्योंका परि-णाम, १५०
-के साथ विघटनकी शक्ति भी बढ़ती है, १८०
(दे० 'दुःख-कष्ट' प्रगति और 'पथ'-पर आगे भी)

प्रज्ञा,
मानसिक नहीं, आत्मिक शक्ति है, ३
है 'सत्य' की दृष्टि, ५
और तर्क-बुद्धि, १७, १९
-की प्राप्ति, १९, २०;
और बड़प्पनकी भावना, १९
बाह्य रूपोंके पीछे सद्वस्तुको देखती है, १९, २०
क्या है, ५०
-का पहला पाठ, १४०
अपने कार्योंको मौनताके.., २२२
(दे० 'ज्ञान' व 'अंतःप्रेरणा' भी)

प्रणाली,
भारतकी और यूरोपकी, २२१
कालीकी और प्रेमकी, २२१

प्रतिक्रिया,
शक्तिको बढ़ाती है, ३२४

प्रतिभा,
और बुद्धि, १४८
क्या है, २९०

प्रतिभाशाली, २९०

प्रतिहिंसा, २८८अ

प्रलोभन,
जब भगवान् देते हैं.., २९७
(दे० 'स्त्री' भी)

प्रतिरोध,

जड़पदार्थके तमस्का, २४३
-को समाप्त करना ही महत्त्वपूर्ण कार्य, २४५
(दे० 'विरोध' भी)
प्रभुत्व [अधिकृत करनेकी चेष्टा],
तुच्छ सफलताओं और साधारण वस्तुओंको, जबकि असीम 'शक्ति'.., ३२९
(दे० 'जगत्'-का अधिपति भी)
प्रमाण (भौतिक),
मांगनेकी आदत, सत्यकी स्वीकृतिके लिये, ३०
(दे० 'आत्मा'-की शक्तिकी भी)
प्रयास [प्रयत्न],
सतत और अथक, ३८, १३९, ३८०
'बस, हम उसके लिये कष्ट नहीं उठाते, १५६
पूर्वनिश्चित घटनाओंका एक अंग, २५२
-में लगे रहो, परिणाम आता न दीखनेपर भी, ३०४
और घटनाओंकी चरितार्थता, ३१८
(दे० 'अभीप्सा' व 'संकल्प' भी)
प्रशंसा,
बटोरनेके लिये भगवान्ने तुझे नहीं अपनाया, २९८
-निंदासे ऊपर उठनेका उपाय, २९९
(दे० 'भगवत्प्रेमी' भी)
प्रश्न,
करना कब उचित, ९
मनुष्य क्यों करता है ?, ८९
प्रसन्नता, दे० 'पुस्तक'
प्राण,
-की क्रियाओंका त्याग, ११२
प्रार्थना,
क्यों ?, १७२
प्रेम,
-की शक्ति, ७३-४;
इसे फैला सकना संभव, ७४
-का अवरोहण पृथ्वीपर ही, २१३
-के प्रयोगसे बचनेका कारण, २२१
-की विकृति, २२५
-की सच्ची क्रिया, २२६
और शक्ति मिलकर ही जगत्की रक्षा कर सकते हैं, २६९
अनिवार्य गुण, २९४
-का अर्थ, २९५
-को सदा प्रक्षिप्त करते रहना.., ३१०, ३६६
(पूर्ण), भयको भगा देता है, किंतु.., ३४९
करनेका सबसे अच्छा तरीका, ३५१अ
यदि तुम क्षुद्रतम कीड़े और अपराधीसे नहीं.., ३५६
और ईर्ष्या, ३५७
-के सब रूप, भगवान्के प्रति प्रेम हैं, ३६६
पड़ोसीसे.., ३६७
(गभीर, निःस्वार्थ), कब संभव, ३६७
(मानव), की असफलताका कारण, ३८०
(मानव), और भागवत प्रेम, ३८०

(मानव), क्या भागवत प्रेममें बदला जा सकता है ?, ३८०
बस, एक ही है, ३८०
(दे० 'भागवत प्रेम' तथा 'क्रूरता' व 'घृणा' भी)

प्रेरणा,
विशुद्ध कब, ११५

फ

फालस्टाफ, २५९
फिलिप सिडनी (सर), ५०-१
फोटोग्राफी, २५७
फ्रेंच क्रांति,
-का कारण, ३०६
-का मंत्र, ३२०;
इसका व्यावहारिक रूप, ३२०

ब

बंदीगृह [कारागार],
स्थूल और मानसिक, ६९
अहंका, २७३
कब, परोपकार आदि चीजें, २९५

बनना,
अधिक आवश्यक, २१२, २४१, २८५, ३३३

बम-प्रयोग, ९५
बल [सामर्थ्य],
सर्वशक्तिमान्, ७९
'मानव पराक्रम और भागवत सामर्थ्य, ३८०

बहाना,
अपनी अशक्यताका, ३८
अनुकूल मानसिक, ८३
(दे० 'आत्म-प्रवंचना' भी)

बाइबिल, १९१
-के सृष्टयुत्पत्ति-प्रकरणकी कहानी, ९१
-की 'स्वर्ग और सर्प' की कहानी, ९४

बाराब्बास, ३२०
बाह्य प्रतीति,
-यों (घृणित, भयानक), के पीछे श्रीकृष्ण तुम्हारे क्रोध, घृणा व आतंकपर हंस रहे हैं, ३१२
-यां भ्रमोत्पादक हैं, ३१२
-यां किन्हें धोखा नहीं दे पातीं, ३१२

बाह्य रूप,
मिथ्या हैं' ऐसा कहना और सचमुच समझना, २०-२
और पीछेका सत्य, ४६, ४८

बिल्ली, ११९
बुद्ध,
-की शिक्षा, ७२, २१२

बुद्धि, १५७
-का देखनेका तरीका, २०, ४५-६, १२८, १२९, १५२
(दे० 'मन' भी)
व्यावहारिक, ४२-३
प्रकृतिका अंतिम तत्त्व नहीं, २६-५
(दे० 'तर्कबुद्धि' भी)

बुद्धिमत्ता, २४६अ, २९१, ३१७, ३२७, ३५३
बुद्धिमान, २१
बोलना,
आवेग या अंत:प्रेरणाके अधीन, ९-१०

'समय आता है, जब तुम कुछ भी नहीं कह सकते, १०१
अचंचलतामेंसे, ११५
बंद करना और वाक्संयम, २०४
'बतानेसे आधा कर्म नष्ट, २१२
'सत्यकी वाणीमें अभिव्यक्तिकी शक्ति, २४४
'असभ्य शब्द-व्यवहार, २७४अ
कम और सोचकर, २७५
(दे० 'दूसरे' और 'निर्णय' भी)

बौद्ध-धर्म, ७२, २७५, ३५३

ब्रह्मणस्पति, ८६

भ

भक्त,
नहीं हूं, क्योंकि.., ३४७
नहीं हूं, ज्ञानी नहीं हूं, तो मैं क्या हूं ?, ३४७

भक्ति,
मुक्तिके द्वारकी कुंजी, ३४५
-में परिपूर्णता कब, ३४७

भक्तिमार्ग,
-का उदय, ६३

भग (देवता), ८६

भगवत्कृपा, २२, २९, २१०, २२०
विद्यमान है, वह चाहती है.., १६
प्रत्येक घटनाके पीछे, ५१
-पर जगत्का भविष्य निर्भर, ५४
-का हस्तक्षेप, २००, २४३अ
-को ले आनेवाली चीजें, २४४
सब कुछके द्वारा लक्ष्यकी ओर ले जायगी, ३३३
-में विश्वासका फल, ३३७;
रोगमें, ३४०
(दे० 'भूल' भी)

भगवत्प्रेमी,
-के लिये संसारकी प्रशंसा और निंदा, २९८, ३०५, ३५४-५५
'भगवान्के सिपाही ! तेरे लिये यह दुःख, कष्ट और लज्जा क्यों ?, ३०७
और भगवद्-ज्ञानीका संसार-कृतिको देखनेका तरीका, ३७२
(दे० 'सत्यके पथिक' भी)

भगवान्,
ही भगवान्को जान सकते हैं, २९
अविश्वासीके सामने प्रकट.., ३७
हास्यप्रिय हैं, ३७
-के कार्यकी तुलना कलाकारकी कृतिसे, ४०
-को क्या होना चाहिये, कैसे कहूं, ४३
-को क्या भौतिक मनसे जानना संभव है ?, ४३-४
-के साथ तादात्म्यका प्रभाव बाह्य भागोंपर भी, ४३अ
प्रत्येक वस्तुमें, ४६
'सब कुछ वे स्वयं ही हैं, उनके सिवा कोई और चीज है ही नहीं, ४७, १००, १०३, १०४, २१४, ३८३
-ने एक मानवीय हाथसे मेरे ऊपर आघात किया", ४८
निर्दयी उत्पीड़क हैं" अर्थ, ५१-२
दयालु प्रेम हैं, ५२

-की इच्छा ही यदि सब कुछ है तो व्यक्तिकी इच्छाकी क्या उपयोगिता ?, ५४
अपने ही साथ आंखमिचौनी खेलते हैं" अर्थ, ५७-८
-से पूर्णताके अभीप्सुकी और सामान्य मनुष्यकी मांग, ५८
मानव अज्ञान और दुःखके आवरणको धारण करना क्यों स्वीकार करते हैं?, ६२
यदि नरक दें, ६५
जानते हैं मेरे लिये सर्वोत्तम क्या है, ६५
ऊपर उठाते हुए भी हमें नीचे रखनेकी चेष्टा क्यों करते हैं?, ६६-७
-के तरीके अनगिनत, ६६-७
वही करते हैं जो उस व्यक्तिके लिये आवश्यक होता है, ६७
-को समझना, ७१, ३६१, ३७७
-के व्यक्ति-रूपमें अवतरणका रहस्य, ७५
-से प्रेम, पर मनुष्योंसे नहीं, ८३-४, ३५७
-के साथ मिलन अमरताकी चेतना प्रदान करता है, ८५
-को पीटना, धर्मोंमें, ९६
'असीमका अनुभव कैसे पायं, ९९ (दे० 'अनंतता' भी)
'असीमसे बाहर भला कैसे कोई निकल सकता है, १००
-के दो पक्ष : नास्ति, अस्ति, १०१
ऐसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देते, १०१
महान् हैं (अल्लाहो अकबर), १०२
दुर्बल, असफल, मूर्ख .. कैसे हो सकते हैं ?, १०२-४
संबंधी हमारा विचार, १०३ १०५
-की लीला' का अर्थ, १०४-५
वस्तुओंके पीछे तो विद्यमान हैं, पर क्या पूर्णतया खेलके अंदर नहीं ?, १०४
-के पास पहुंचनेके रास्ते, १०६
ठीक वही हैं जो वे होना चाहते हैं, १०६
आगे-आगे बढ़ते रहते हैं, १४८
अनंत संभावना हैं, १५२; यह हमारे मस्तिष्कमें नहीं घुसता, १५५
कभी हंसते नहीं, १५२
-के लिये हां और ना एक साथ होते हैं, १५३
एक प्रहसन खेल रहे हैं, इस नाटकके दर्शक और पात्र, १५४, १५५-५६
-को सब कुछ करने दो, १५७-५९; इसमें कठिनाई, १५९
सर्वत्र हैं, १६०, १६१, १६५
दूर कब होते हैं, १६०-६१
-का हास्य शिष्ट कानोंके लिये .., १६२
किसी चीजको गंभीरतापूर्वक नहीं लेते, १६२, १६५
-के साथ हंसना-खेलना, १६३-६५, ३७२
अपनेको क्रमशः मूर्तिमान् करते हैं, १६९

सभी संभव खेल खेलते हैं, १७०
तू प्रकट हो" की अभीप्सा, १७२
वह सब हैं जो हम बनना चाहते हैं, १७९
-के साथ मिलन, कामनाके पूर्ण त्याग या कामनाकी पूर्ण संतुष्टिसे, १८४
-की दृष्टिमें समीप या दूर, वर्तमान, भूत, भविष्य नहीं, १९४
-को बहुत-से प्रयोग करनेमें मजा आता है, १९९
यदि केवल निर्वाण ही चाहते .., २०४
-की प्रेरणा [आदेश] के अनुसार कार्य करना, २०५, ३३२-३३
-का न आदि है, न अंत, २२७
''सर्व'के साथ चेतनाके संबंध, २३०
'ब्रह्म ही नहीं, जीव और वस्तुएं भी नित्य हैं, २३२ टि०, २४०
-ने आंखोंपरसे पर्दा हटा लिया है, इसका लक्षण, २४०
-के कार्यका अधिकांश निषेधके द्वारा संपन्न.., २६०
-को संपूर्णतः जानना, २६३
-को देखना गंधहीन पुष्पमें, २६३
(अंतरस्थ), सदा ठीक पथसे ले चलते हैं, २६८, २८७
-का विरोध कि उनकी खोज ?, २७०
-को जाननेके लिये मानवीय मानदण्डोंका त्याग या .., २७०अ
बुरे हैं' में तर्क, २७१
(सबमें स्थित), के लिये जीवन धारण करो, २७३
मौकेपर मूर्ख .. मनुष्य .., २७४
समन्वयकी ओर .., २७५
-की सचेतन उपस्थिति ही उग्रताओंको वशमें कर सकती है, २९१
-के आदेशपर वध .., २९३-९४
-को ही चुनना चाहे संसार विरुद्ध हो जाय, २९९
-को लक्ष्यकी ओर जानेके लिये चक्कर क्यों काटने पड़ते हैं?, ३००
ही जानते हैं बुद्धिमत्तापूर्वक गलती करना और असफल होना, ३१५
-की नजरोंमें कोई चीज तुच्छ नहीं, ३२१
-को ही अपने लिये चुनने दो राजपद या भिखारीपद, ३२६
-के पक्षमें सदा रहो, ३२७
मुझसे क्या चाहते हैं, कैसे जानूं?, ३२७
-के साथ शत्रुता, ३३३, ३४९
-ने मुझे खोजा .., ३४७
एक स्त्री हैं जब मैंने यह जाना.., ३४७, ३४८
-के साथ जार कर्म, ३४८
-से डरनेका अर्थ, ३४९
पश्चिमी धर्मोंद्वारा वर्णित, ३५०
-के प्रेमके स्वादके बाद अन्य प्रेम .., ३५१अ
विषयक हमारे सिद्धांत, ३५३, ३८२

(प्रेमी), का व्यवहारका ३५४
-के अपने साथ व्यवहारको गुप्त.. किंतु अब.. निर्लज्ज, ३५४
जिनसे प्रेम करते हैं उनमें आनंद मानो.., ३५७
-में विरोधी वस्तुएं पूरक, ३५८
-की इच्छाके बिना कुछ नहीं होता, ३५८
-का आनंद जिसने एक बार चख..., ३५९
-के संभालनेवाले स्पर्शको हम अनुभव ही नहीं करते, ३५९
-के विषयमें अपूर्ण धारणाएं उन्हें अस्वीकार करनेका हेतु!, ३६१
-का शिक्षा देनेका तरीका, ३६१
-ने जो कुछ नहीं दिया वह अपने प्रेम व ज्ञानके वश रोक.., ३६१
'असीम प्रज्ञाके अस्तित्वमें युक्ति, ३६२
-की उपस्थिति हमें आश्चर्य व प्रशंसाके लिये बाधित करती है, ३६२
-के साथ प्रेम-संबंध सात प्रकार-का, ३६३
सांमियोंके, ३६४
-का कृष्ण रूप, ३६४
(जो), हंस नहीं सकता वह इस हास्यजनक विश्वका निर्माण..., ३६४
-ने एक बच्चेको गोदमें ले लिया, मां रोने लगी..., ३६५
-के प्रति प्रेम, मनुष्योंके प्रति उदारता.. पूर्ण प्रज्ञा, ३६६
-को क्या तू निराकार अनंतके रूपमें देख सकता, फिर भी प्रेमिकाके रूपमें प्यार.., ३६८
जब निर्दयीके रूपमें.., ३६९
जानते हैं कब थप्पड़ लगाना, कब पुचकारना, ३७०
शत्रुका चेहरा पहनकर अपने-को तबतक छिपाये.., ३७०
-की सेवा, ३७२
-से परित्यक्त होकर संसारका मालिक बनना.., ३७४
-का सेवक होना; और दास होना, ३७४
-की सेवा और मनुष्यजातिकी सेवा, ३७४-७५
-के साथ कुश्ती लड़ना, ३७५
अपने सेवकसे संतुष्ट, दो कार्योंसे, ३७५
-के नजदीक जानेके लिये आव-श्यक चीज, ३७६
-का आक्रोश.., ३७७
ही स्वामी होने चाहिये, ३७८
(अंत:स्थ), की आज्ञाका पालन, ३७९
-की वाणी न सुनना सांसारिक दृष्टिसे मानसिक स्वस्थता, ३७९
-को देख, उनके छद्मवेशोंके पीछे भी, ३७९अ
-संबंधी अस्वीकृतियां भी उपयोगी, ३८२
-को देख सकना अत्याचारीमें अत्या-चारके समय.., ३८३

(दे० 'श्रीकृष्ण' में तथा 'भगवत् ..' व 'भागवत ..'के अंतर्गत भी)
भय, ३४३
'ज्योति' की ओर बढ़नेमें, १३
भूल करनेका, २०४
अपने-आपको खो देनेका, २०६
और चिंताके बारेमें, ३३५
जिस वस्तुसे, उसके आनेमें तुम सहायता .., ३३५
अवसाद आदिके हमपर आक्रमण किस बातका प्रमाण, ३३५अ
भगवान्से, ३४९, ३७५
भविष्यवाणी, १३०
-में भूलों और विकृतियोंका कारण, १३१, १३४
और वैश्व मानसिक दृष्टि, १३३
पृथ्वीपर सुदूर स्थित वस्तुओंके बारेमें, १३३
'भविष्यवक्तासे अपेक्षित वस्तु : पूर्ण सच्चाई, १३४
करनेसे रोकनेवाली चीज, २४४
'भागवत' (पुस्तक), ६१
-के लेखक, ६१
भागवत उपस्थिति,
सब वस्तुओंमें और सत्ताओंमें, ४८
-का बोध सर्वत्र पानेके लिये आवश्यक चीज, १६०-६१
-की व्याख्या नहीं की जा सकती, १६१
(दे० 'जड़तत्त्व' भी)
भागवत प्रेम [दिव्य प्रेम, सर्वोच्च प्रेम, प्रेम तत्त्व, पूर्ण प्रेम],
द्रुततम मार्गोंसे हमें ले जाता है, ५२
-के पृथ्वीपर अवतरणका परिणाम, ७५;
इस अवतरणकी शर्त्त, ७५, २०९
-के पृथ्वीपर अवतरणका प्रयोजन, १२६
-की अभिव्यक्तिका समय आ गया है, १२६;
इसका अर्थ, १२६-२७
और भौतिक चेतना, १७३-७४
और अक्षर आनन्द, १८३
-की द्विविध क्रीड़ा, ३६८
(दे० 'प्रेम' भी)
भागवत मुहूर्त्त,
-का लाभ न उठानेका फल, २०९
भागवत शक्ति [सर्वोच्च शक्ति],
और स्वतंत्रताके साथ पूर्ण शांति और अचंचलता भी, ७९
पूर्ण सामंजस्यकी शक्ति है, नीचे आकर जब वह जड़पदार्थपर दबाव डालती है .., २४३
ही सब कुछ करती है, २४४
(दे० 'अव्यवस्था' भी)
भागवत संकल्प [सर्वोच्च इच्छा, सर्वोच्च संकल्प],
-की अभिव्यक्ति, व्यक्ति-रूपी साधनके द्वारा ... इसमें विकृतिका कारण, १८४
-के स्पंदन और इच्छाके स्पंदनके बीचके अंतरकी कुंजी, १८५-८६; यह समस्त नैतिक तत्त्वको दूर कर देती है, १८६
-में इच्छाके मिश्रणका फल, १८८-९०
जब व्यक्तिको चुनता है, २३२
-की क्रियाका स्वरूप, २४२;

राष्ट्रों व पार्थिव परिस्थितिके लिये भी, २४२
-से सचेतन होनेकी शर्त, २९९
(दे० 'विश्व' -की भी)

भाग्य, २९९
प्रत्येकका एक ही, १३
और अपना कार्य, २५१-५२
-पर बाकी सब छोड़ दो, ३०३

भारत, २२१
-का प्राचीन सामाजिक आदर्श, पुरोहित, राजा, वैश्य और शूद्र-के लिये, २७७
(प्राचीन), की महानता और आधु-निककी, अवनतिका रहस्य, २८०
-में सामाजिक जीवनके तीन गढ़ थे . . , ३२०
-की आत्माको किन चीजोंसे मुक्त होना होगा और क्या करना होगा, ३३१
-का आनंद सेवक-प्रेमीमें, ३४९

भावना [भावोद्वेग],
-ओंकी चिल्लाहट और आत्माका उत्तर, ३५६

भाषा,
और शब्द हमारे, ७१, ९३, १०५ १९५, १९६, १९८, २०१, २२७, २२८, २३१, २३४
(दे० 'अनुभव' भी)

भीतर [अंतरमें],
पैठ जाओ, २२
निवास करो, २७६;
इसका फल, २७७
(दे० 'हृदय' भी)

भूमिका,
विरोधी-शक्तियोंकी, १२५-२६
अपनी, निभाते रहो, समय और सफलताकी चिंता न करो, ३०३
दुःख-कष्ट आदिकी, ३०८

भूल,
और निराशा, २९
और भगवत्कृपा, २९, ३९, ७४
करना अज्ञानतावश, ३८
करते रहना जान लेनेपर भी, ३८
-के लिये भगवान्‌से क्षमा, ४७
-के बुरे परिणाम नष्ट कब, ४७, २८७
विचारमें, १२९
-का — जो किसी समय सत्य वस्तु थी — त्याग, १७९-८१
-के भयसे कार्य छोड़ देना, २०४-५
(दे० 'भविष्यवाणी' भी)

भूतकाल, दे० 'अतीत' व 'डटे रहो'

भूल जाना,
कि 'केवल वही हैं', १०४

भोजन,
-के बिना रहनेकी प्रवृत्ति, २०४

भौतिक चेतना, दे० 'भागवत प्रेम' में

भौतिक सत्ता,
भारतीय आध्यात्मिक जीवनमें, ११२
(दे० 'अमरता' भी)

भ्रांति [भूल-भ्रांति], ४२, ८९, १७२, १९४
-के पीछे चेतन संकल्प, ४३, ४५
-का विचार ही भ्रांति है", ४४-५
भी न्यायसंगत है", १५२-५३, १५५, १५६-५७
है ही नहीं, १५२

-के अवसरोंको दबाना, २०४
-यां, मिथ्यात्व . . " वे चिल्लाते हैं, ३५६
(दे० 'मिथ्यात्व' भी)
भ्रातृत्व [बन्धुभाव], ३२०
तभी प्रकाशमें आयगा, ३२१
रक्तका, देशका, धर्मका . ., ३६७

म

मत,
(निर्विवाद), सबसे भयंकर क्यों, ६७-८
और सत्य, ८७
(अपने), का व्यवहार, २४५-४७
-से बुद्धिमत्ता अच्छी, २४६अ
(दे० 'सिद्धांत' 'निर्णय', और 'श्रीमाताजी' भी)
मध्यम मार्ग, २१२
मध्यवर्ती, १८९, १९०
मन,
-द्वारा सत्य ज्ञानको पानेकी चेष्टा, ३-५, ३८१
-की अक्षमता, ३-५, १२९
-द्वारा तुम कुछ भी सिद्ध कर सकते हो, २७, ३६
-को नमनीय बनानेका एक साधन, ३६
आकारोंका निर्माता, ३६
(दे० 'विचार' (मानव) भी)
-के अनेक स्तर व प्रदेश हैं, ४२
-का देखनेका तरीका, ६७, १२९, २६२
(दे० 'बुद्धि' भी)
-को जीत लेनेका प्रमाण, ७०-१
-की संकुचितता, ८०
(दे० 'संकीर्णता' भी)
-का अनुकूल व्याख्याका अभ्यास, ८३
-की जटिलताएं और विकृतियां, ८८अ, ९०, ९१, ९२; यही जटिलता अनंतगुनी सचेतन सिद्धि लायेगी, ९६, १७६
-के आनेके साथ आनेवाले परिणाम, ८९, ९४
यंत्रकी रचना किस लिये, ८९
-की अभिव्यक्तिकी पहली अवस्था, ९०
व्यर्थ अपना सिर फोड़ता है, १५८
-को कार्य करनेकी प्रेरणा पानेके लिये घर बनानेकी आवश्यकता, २३१;
यह सब कुछको मिथ्या बना देता है, २३१
-ने जगतोंकी सृष्टि नहीं की, २६२
जाग्रत और अवचेतन, ३३५
-के शासनका परिणाम, ३३८, ३४२
सदा संदेह करता है, ३६०
'इस झूठेका विश्वास ?, ३६०
(दिव्य), का प्रयास सत्यकी खोजमें, ३८१
(दिव्य), क्या है ?, ३८१
(दे० 'बुद्धि' व 'तर्क-बुद्धि' भी)
मनुष्य [लोग],
जो ज्योतिके प्यासे हैं, १५
-की दुर्बलता सुखके आगे, ५९

अब भी दुःख-दर्द और पापसे आसक्त है, ६०, २७९
-से तरंग कोई भी काम करा सकती है, ७५
-की "स्वाभाविक" अवस्था क्या होगी ?, ८८
एक संक्रमणकालीन सत्ता है, ८८, ३११
पृथ्वीका ही प्राणी नहीं, ८८ टि०
-का विकास चक्राकार गतिसे, ८८
'मानव आकारोंका पृथ्वीपर प्रथम प्रस्फुटन, ९२
अपने प्रति सचेतन कैसे हुआ ?, ९४
'हम अपने भौतिक जीवनमें केवल एक प्रतिबिंब हैं, १३१
'हमारा उपयोग हो रहा है.., १४२
'यदि तुम पिछड़ जाना नहीं चाहते.., १४८, १४९
'तुम कुछ नहीं कर सकते.. इससे सचेत हो, १५९
-में ही आंतरात्मिक सत्ता, २१३
जब आया तो पशुके पास इसे जाननेका कोई साधन न था.. पर मनुष्योंके पास भी साधन नहीं हैं, २१९
'ऐसा नहीं है कि हम पहले नहीं थे..और बादमें नहीं रहेंगे, २३२ टि०, २४०
अपनी इच्छाएं दूसरेपर लादते रहते हैं, २३९
प्रकृतिकी सर्वोच्च रचना नहीं, २६५
जब देश, जाति या जगत्के लिये सोचते हैं, २७३
-जीवन और कर्मका शिखर.., २८२
किस लिये बना है, २८२, २८८, ३७८
(दे० 'जीव' भी)
-का सच्चा गौरव, २८९
-में शेखी बघारनेकी आदत, २९०
'मानव प्राणियोंकी एकताके प्रति सचेतन होनेका फल, २९२
-की संभावना, ३०९
अपनी सीमित सत्ताको संतुष्ट करनेमें.. जब आत्मा अभि-व्यक्तिसे वंचित.., ३३०
' "जो व्यक्ति भगवान्का है": अर्थ, ३३४
-की वर्तमान अवस्था, ३४४
-के अपने अंदर जो होता है वही बाहर देखता .., ३६५
(दे०' व्यक्ति' और 'मानव..' के अंतर्गत भी)
मनोमय व्यक्तित्व,
क्या चीज है ?, ३१
मरुत् (देवता), ८६
मशीन,
-री सरकार व समाजकी, ३२६
", क्यों आवश्यक हैं, ३३७
मस्तिष्क, २४१
-से समाधान मत ढूंढो, २०२
-से हृदयकी पहुंच अधिक, २३४
और हृदयका बोध, ३०३
महत्त्वाकांक्षा, ३६, २५६

मानव चेतना,
अपने मूलमें, ७७
-की असत्यता और भागवत चेतनाका आनंद, ३६५
मानव जाति, २९५
-को क्रूरतापूर्ण व्यवहारमेंसे गुजरना पड़ेगा, २०७
-को भी साथ ले आओ, २५६-५७
-का दास बननेका अर्थ, २५६
-की मुक्ति, २८०-८३
-का सर्वाधिक विकास कब, २८२
'मानव यात्राका परमोच्च लक्ष्य, २८२
'मानव एकताकी ओर, ३२२-२३
-की सेवा, ३७४-७५
-की सहायताका सबसे सुनिश्चित मार्ग, ३७९
(दे० 'जगत्' -का भविष्य, और 'दुःख-कष्ट' मानवजाति भी)
मानव प्रकृति,
आलसी, २०७
विद्रोही, २७०
मानसिक जीवन,
-के स्वाभाविक परिणाम, ८९
मानसिक रचनाएं, ६५, १३३, २३०
माया,
-की शक्ति, ३८२; इससे बाहर आनेका उपाय, ३८२
मायावादी, दे० 'निंदा'
मित्र (देवता), ८६
मिथ्यात्व, १५९
-के मूलमें विद्यमान वस्तु, १२७
-के स्पंदनका स्थान प्रकाश . ., १९६, २०१, २०२
(दे० 'अशुभ' भी)
आया कैसे ?, २१४
-की समाप्ति कैसे, २१४
-के विरुद्ध व्यंग्यका शस्त्र . ., ३६४
है तैयार अथवा भंग होता हुआ सत्य, ३७९अ
-के साथ मनका व्यवहार, ३८१
(दे० 'असत्य' व 'भ्रांति' भी)
मुक्ति, ६४
भय, संदेह व अविश्वाससे, १६
तर्क बुद्धिसे, १८
(नियतिसे), का पथ, २२
'जीवन्मुक्तिका आदर्श, २०३
'मुक्त व्यक्तिकी शक्ति, ३०६
(दे० 'स्वतंत्रता' तथा 'अहं' -विमुक्त भी)
मुहम्मद,
-का मिशन आवश्यक था, २६९
मूर्ख,
' "सनातन मूर्ख", ४९
-की बातोंमें सत्य, ९९
-की बातोंसे शिक्षा, १०२, ३१३
कहना किसीको, २७४
(दे० 'पागल' भी)
मूर्खता,
सत्यका विकृत मुखौटा", ९९अ
(दे० 'साहस' भी)
मूर्ति,
-योंके पीछेकी वास्तविकता, ९६-७
मूल्यांकन,
हमारे, १५२, २५२, ३१०, ३२२, ३२७
(दे० 'निर्णय' भी)

मूसा, १९१, २६७
-के अध्यादेश, २७०
मृत्यु, ८६, १०९
-के बाद शरीर, मन, ३१
-का कारण, ३२
-को भयानक मनुष्यने बना लिया है, १५४
और जीवन, १७२, १७३, १७४
क्या है ? वैज्ञानिकसे पूछो, २१६
विशालतम अमरत्वकी ओर .., २५४
और असफलता अशुभ ?, २७१
बिना आत्माको पाये, २८९
-के बारेमें, ३०८, ३३३-३४, ३६५
-के आस-पास इतना शोक क्यों ?, ३०८
मोलिऐर (सुखांत नाटककार), १६२
मैकबेथ, २५९

य

यंत्र [उपकरण],
-की पूर्णता, बहुत सहायक, ३४
हूं, स्वामीके हाथमें, ३४७
(पूर्ण), बननेकी शर्त, ३७७
यंत्रणा, दे० 'दु:ख-कष्ट'
यज्ञ,
-को सीमित न करो, ३३१
यहूदी,
-का भगवान्के प्रति भाव, ३४९
युद्ध,
करना होगा, १४
बार-बार करना होगा, १६
क्या आवश्यक है ?, ५२-३, २०९
-की आवश्यकता क्या अब भी पड़ेगी ?, ५३-४
कर, हाथ, वाणी, मस्तिष्कसे, ३०५
यूनान, ६३
'यूनानी और शेक्सपीयर, २५८अ
यूरोप,
वैज्ञानिक संगठनके लिये गर्व करता .. उसका नाश, १४६-४७
-में समाजवाद, ३१९, ३२५
-की प्रगतिका चित्रण, ३२५
-में जनतंत्र, ३२५
-की सभ्यता, ३३७
(दे० 'पश्चिम' भी)
योग, ९९, २७१
(दे० 'धर्म', 'सामाजिक नियम' भी)
योग्यता, दे० 'क्षमता'
योजना,
-एं बनानेका कार्य, ३१७
योद्धा,
बनना होगा, १४, ३०५
रात्रि (देवी), ८६
राधा, ३५७ टि०
राबले (व्यंग्य लेखक), १६२
राम,
नहीं हो सकता तो रावण होऊंगा, २९२
-द्वारा बालीका वध, ३२४
रावण, ३७३
-का मन विश्व-आधिपत्यके लिये लालायित, पर अंतरात्मा .., ३७४
राष्ट्र,
-ोंकी ग्रहणशीलतापर युद्धका टलना संभव, ५३

-ोंकी पराधीनताका कारण, २६६
जो विदेशी जूए तले.., ३१५
'स्वतंत्र राष्ट्रीयता.., ३२२
-की उत्पत्ति, ३२२
-ोंकी एकताकी ओर, ३२२-२३
रुद्र (देवता), ८६
रूप, दे० 'बाह्य रूप'
रूपांतर,
-की चाभी, २२
-की सीधी शक्ति, ७३-४
(भौतिक), की कठिनाई, ११३-१८, १५१
अपना अपेक्षित, विरोधी शक्तियों-का नाश चाहनेके स्थानपर, १२५
जगत्का, दे० 'जगत्'
(आंतरिक),का प्रभाव निम्न स्तरों-पर सदा ही, १५०
-की रंगीन कल्पना, १५०
अंगोंका, १५१;
इसमें तीन सौ वर्ष, १५१
शरीरमें लक्षित होना, २००
(दे० 'शरीर' भी)
नहीं, सच्चे स्पंदनका प्रतिस्थापन, २०१
व्यक्तिके उसके प्रति सचेतन हुए बिना एक विशेष बिंदुतक ही हो सकता है, २१९
साधित करनेवाला अवतार, २७०
-के कार्यमें सही मनोवृत्ति, ३१६
'रूपांतरित होना जो चीजें अस्वी-कार करती हों.., ३६७
(दे० 'अहं' व 'विनाश' भी)
रोग [व्याधि, बीमारी], २११
दूर होना, हस्तक्षेपसे, २००
स्वस्थताके नवीन आनंद.., २५३
-से चालीस वर्षोंतक पीड़ित.., ३३६-३७
-को ठीक करना अच्छा है, किंतु बीमार न पड़ना.., ३३९
अनावश्यक रूपसे लंबा क्यों.., ३३९
-ोंकी रोक-थाम, ३४१
भगवान्को सौंप सको तो.., ३४२
बढ़ रहे हैं, ३४२
-ोंसे मनुष्यके उद्धारका उपाय, ३४२
(दे० 'औषधि' भी)
रोना-धोना [विलखना, शिकायत करना],
कमजोरियोंके लिये, ३८, ६७
दुर्भाग्यपर, ४९, २७२
जगत्की अवस्थाके लिये, १७६अ
बीमार होनेपर, २११
अप्राप्त वस्तुओंके बारेमें, ३६१
(दे० 'अहं'-को अदृश्य भी)

ल

लक्ष्य,
-को सामने रखना, २९
अंतिम, सृष्टिका, ४८
-के निकट होनेका चिह्न, ५९
(समग्र), को कैसे बेधें, १२७, १२८
(दे० 'समग्रदृष्टि' भी)
-पर सीधे या चक्कर काटकर, २६८
महान्, साधन छोटे; तो भी कार्य करते रहो, ३०३

दूर है, शीघ्रतासे डग बढ़ाओ, ३१६
-पर दृढ़ रहो, वही साधन . ., ३१७
स्वयं ब्रह्म है, वह साधित . ., ३१७
अंतिम, प्रत्येकका, ३७६
लज्जा, १६२
लियर, २५८, २५९
लीला, १०४-५
लोकतंत्र,
-से समाजवाद और फिर अराजकताकी ओर, ३२५
-का लाभ और बुराई, ३२५

व

वक्रता, १७५
वध करना, ३२४
क्रोध या स्वार्थवश या भगवान्के आदेशपर, २९३-९४
इसे कभी क्रूरता, कभी सामरिक आवश्यकता कहना, ३१०
वरुण (देवता), ८६
वर्तमान,
-का क्षण ही महत्त्वपूर्ण क्षण है, २११
वर्तमान युग,
-के लिये भागवत प्रेमकी सर्वाधिक आवश्यकता, ३७१
वाणी, दे० 'बोलना'
वातावरण,
-में अब अंतर, नयी वस्तुसे, २१७
विकास [क्रमविकास],
(वैयक्तिक), के लिये सहायक वस्तुका प्रश्न, ५७
-की क्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती है, १६९
-का अंतर्हित हेतु, १७२
अभिव्यक्तिका मूल सिद्धांत, २३३-३४
अभी समाप्त नहीं हुआ, २६५
(दे० 'प्रगति' व 'विकृति' भी)
विकृति,
' "विकृत माध्यम", ३-४
विकास-क्रममें, ८८
आयी कहांसे ? : समस्या, १०७
अवश्य समाप्त होनी चाहिये, १०९
-के स्पंदनका परिणाम, १९६
बुरी और अच्छी !, २२६अ
(दे० 'भविष्यवाणी', 'मन' -की जटिलता भी)
विचार,
-का गला बहु-शब्द-प्रयोगके नीचे मत घोंट दो, ४२-३
(मानव), सर्जनकारी है, ६५
(दे० 'मन' आकारों भी)
(वे ही), सत्य हैं . , ६७
-का तीर एक बिंदुपर लगता है, 'समग्र' सत्यपर नहीं, १२७-२९
-की अक्षमता, १२८
-ोंमें सामंजस्य ढूंढ, २४५
-ोंका आदान-प्रदान, स्वतंत्र, ३१३
'नापसंद सम्मतिमें भी सत्य ढूंढो, ३१३
-के लिये अंतिम सत्य वस्तु, ३५३
'किन मानसिक धारणाओंसे पृथक् रहना, ३६२
विज्ञान (जड़, भौतिक), १७६, ३७३
-की शक्ति, २१, २१६, २१९-२०
-का अभौतिक वस्तुओंके विषयमें अपना फतवा देना, ३०
अपने रास्ते सत्य-ज्ञानतक पहुंच

जायगा' की भावना, १४१
-के चमत्कारोंपर क्या आपको हंसी आती है ?, २१५-१६
-का अपरिमित आश्वासन, २१५
और भविष्य दृष्टि, २१६-१७
और आध्यात्मिक अनुभव, २२०
(दे० 'ज्ञान' वैज्ञानिक भी)
बकवास.. और प्रज्ञा.., २२२
(दे० 'वैज्ञानिक' भी)
विधान,
प्रकृतिका, बदला जा सकता है, २५०; इसके लिये आवश्यक चीज, २५०
स्वेच्छाकृत, का पालन, २६६
पाप-पुण्यका, २६७
कौन-सा मुक्तिदाता होता है, २७०
(दे० 'नियम' भी)
विधि-विधान [विधि],
-ोंको तोड़ना, १८, २६५; क्या अच्छा है जैसा कि नयी पीढ़ी कर रही है ?, २६८
(किसी), के प्रति आसक्ति बचकानापन, २३१
(दे० 'नियम' भी)
विनम्रता [विनय], १२, ३०, ३५९
विनाश,
किसे कह सकते हैं, १००, १०१
-की तब आवश्यकता नहीं रहेगी, २२८, २३०
-का स्थान रूपांतर . . , २२८
और अव्यवस्थाका उत्पत्ति-कारण, २४३
भव्य कब, २८९
करनेमें सम्यक् वृत्ति, ३६७
(दे० 'शत्रु' -पर आधात भी)
करनेसे पहले निःसंदिग्ध . ., ३६७
(दे० 'विश्व' भी)
वियतनाम,
-में अमरीकियोंकी उपस्थिति, २४२ टि०
विरोध,
आंतरिक, क्यों दिया जाता है, ६७
प्रगतिके लिये उत्तेजक तत्त्व, १७३-७४
(दे० 'चीज' (विरोधी) भी)
'विरोधी पक्षोंके मिलनमें सच्ची बुद्धिमत्ता और सामर्थ्य, ३१७
वस्तुओंमें, की समाप्ति कैसे, ३५८
(दे० 'प्रतिरोध' भी)
विरोधी शक्ति,
-का शस्त्र : निराशा, ५६
-यां बदल जायंगी या नष्ट हो जायंगी' अर्थ क्या ?, १००
-योंकी भूमिका, १२५-२६
-यां क्या सदा नहीं बनी रहेंगी ?, १२६
(दे० 'रूपांतर' भी)
विवाद,
-का उपयोग, ८६-७
-में जीत, ज्ञान-विस्तारका अवसर खोना है, ८७
विवाह [ब्याह], ११३
विवेकानन्द, २०३, २१५
शिवकी विभूति, २१३
-ने यह कहा था . ., २६३
क्या थे ?, २६३
साकार भगवान्के बारेमें, २७०
विश्व, १६९

अबका और पूर्वजोंका, ३३७
भागवत, को सहना कठिन, ३६३
वैराग्य,
-की रुचि या भगवत्सेवा !, ३१४
व्यक्ति,
-का सच्चा 'स्व', ३२
-से अतिमानसिक कार्यका आरंभ, ११०
अकेला, दे० 'अवतार' (अकेला)
जगत् और विश्व, २२७
-का बाह्य यंत्रवत् जीवनमें महसूस करना कि 'कोई विशाल वस्तु' उसे चाहती है, २३१-३२
कबतक पूर्ण नहीं, ३२१
-गत सत्तासे अंध चिपक, ३८२
(दे० 'मनुष्य' व 'अंतर्दर्शन' भी)
व्यक्तिकरण,
-का आरंभ, ८९
और फिर विपरीत क्रिया, ११७
व्यक्तिवाद,
क्या है, ३१९
-का उपचार, ३१९
व्यवस्था,
(सभी), क्षण-स्थायी और अपूर्ण, १४१

श

शंकर [शंकराचार्य],
-पर भगवान् तीन बार हंसे, ३१४अ
शक्ति,
-यां (ऊपरसे आनेवाली, सभी), संबद्ध ही होती हैं, ३
और दुर्बलता, १०३, ३८०
और संतुलन, २०२
-की आवश्यकता, प्रेमको धारण करनेके लिये, २०९
(अपनी) दिखाओ", यदि तुम्हारे पास दिव्य चेतना है, २२४
-की विराट् धारा, २४१
और क्रोध, २८९
(दे० 'भागवत शक्ति' व 'विश्व-शक्ति' भी)
शब्द, दे० 'भाषा'
शत्रु,
-पर आघात, पर उसमें स्थित भगवान्से प्यार, २९१अ
(दे० 'विनाश' करनेमें भी)
नहीं, अखाड़ेके पहलवान्, २९२, ३६७
-की शक्ति आंक लो, ३१३
(दे० 'भगवान्' भी)
शरीर,
प्रभुसे कहता है.., १२
"एक यंत्र और छाया" है, ३१, ३२-३, ३५
मृत्युके बाद, ३१
-की अमरता, ३२, ८५, ३३४
(दे० 'रूपांतर' भी)
-साधना और चैत्य-विकास, ३३-५
-साधना और अतिमानसिक जीवन, ३५
-में अतिमानसिक चेतना.., ११३-१८
-का निर्माण गुह्य प्रक्रियाद्वारा, ११८-१९
-की वेदनाओंको दूर करनेका साधन, १६४

-को ठोस समझनेका अभ्यास, १६४
-की आवश्यकता : सरलता, १७५
-का दर्द आनंदमें : चार अवस्थाएं, १७७-७९
-के कोषाणु भी जल्दी मचाते हैं, २११
-के कोषाणुओंमें भी 'शक्ति' का कार्य, २४५
-के कोषोणुओंमें प्रतिरोधकी समाप्ति मुख्य कार्य, २४५
-का अतिक्रम करनेवाली प्रकृति", २५१
-का भी रूपांतर अपेक्षित, २५५
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)

शल्य-चिकित्सा, १७६

शांति,
कभी धोखा न देनेवाली, ७९
-का आधार आवश्यक, २०२
(दे० 'अचंचलता', 'आनंद', 'सुख' व 'सामंजस्य' भी)

शारीरिक व्यायाम,
करनेका अर्थ, ३३-५

शासन,
(पूर्ण), ३१९
"साधूनां साम्राज्यम्", ३१९
प्रभुका, ३२१, ३२९;
पूर्णताके लिये आवश्यक, ३२१
-प्रणाली कौन-सी अच्छी, कौन-सी बुरी, निश्चय करना कठिन, ३२५
'सत्यके साम्राज्यका दिन, ३२५
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका. ३२९
अतिमानसिक चेतनाका, ३३०
(भगवान्‌का), कबतक स्थापित नहीं हो सकता, ३३८
(दे० 'सरकार' भी)

शास्त्र [धर्मग्रन्थ], २६७
-के वचन और अपना अनुभव, १९०
-के वचनोंकी प्रामाणिकता, १९१, १९४, ३३१
ब्राह्मणोंके, २७०
-का अनुसरण कब, ३३२
-ोंको समझनेका ढंग, ३७४

शिक्षा,
'समझ-शक्ति बढ़ानेका तरीका, ९
-में दो प्रवृत्तियां साथ-साथ चाहिये : 'परमाश्चर्यमय' के लिये प्यास और यथार्थ निरीक्षण, १७०-७१
' 'बौद्धिक शिक्षण' की सहायता, २६४
प्रतिक्षण, प्रत्येक वस्तुसे, ३१३
-का भगवान्‌का तरीका, ३६१
(दे० 'पाठ' व 'मूर्ख' भी)

शिव,
पृथ्वीपर कब जन्म लेंगे, २१३

शुंभ,
-का कालीद्वारा मारा जाना, ३७६

शुद्धि [सफाई, शोधन],
-का भार भगवान्‌पर या अपनेपर, १५८, २९७

शुभ, ५०, १२७

शुभ और अशुभ [दिव्य और अदिव्य, भला और बुरा], ८९, ९४
-का विचार, १०४, १११, १२४, १८६, २७६, ३२४, ३५५अ

(दे० 'नैतिक धारणा' भी)
तुम किसे समझो, २९७
(दे० 'अशुभ' भी)
शेक्सपियर,
-में सार्वभौम कलाकार, २५८-५९
शैतान,
-से कष्ट या घृणा कबतक, ३५८
श्रद्धा,
और विश्वासकी शक्ति, २४४
(दे० 'विश्वास' भी)
श्रीअरविन्द,
-के 'विचार और सूत्र' :
इनका रूप ऐसा क्यों, ५-६, १०अ, १७, ७१;
इनके विरोधाभासी होनेका कारण, ५, १७, ७१, १५३;
इन्हें समझना, २१, ३७;
इनका लेखन, १०१, १०४, १४६, १५३, १५७, ३४८ टि०
-की रचनाओंसे लाभ उठानेका तरीका, ६, ९
-की जगत्-विषयक दृष्टि, ४५, १०९
ईसाके बारेमें, ६२
-का इतिहासका अध्ययन, ६२
गीताके बारेमें, ६४
-की गीताकी व्याख्या, ६४
-का बंदीगृहका अनुभव, ६९
सच्ची स्वतंत्रताके नायक, ७०
सर्वोच्च प्रेमके एकदम पृथ्वीपर न आ जानेके बारेमें, ७५
इस 'अभिव्यक्ति'के बारेमें, ९३, १०९
स्वर्गसे पतनके बारेमें, ९३, ३७७
सर्पकी कहानीके बारेमें, ९४
-की शिक्षा क्या नया धर्म है ?, ९७-८
समस्याके सब पक्षोंको उपस्थित करते . ., ९७
जिस वस्तुके प्रतीक हैं, ९७ टि०
-को भी ईसाई शिक्षाके विरुद्ध युद्ध लड़ना पड़ा था, १०४
-के वाक्य लंबे; कारण, १०५
-को क्रूरतासे घृणा, १०७
बुरी वस्तुओंके बारेमें, १०९
गुह्य ढंगसे शरीर-निर्माणके बारेमें, ११८
चमत्कारके बारेमें, १६६
-ने "मनमें कई चमत्कार" किये : व्याख्या, १६७
-को अतिमानसिक शक्तिपर पूरा अधिकार था, १६७
-का लोगोंकी बीमारी दूर करना, १६७
चाहते थे, मुझे यदि सौ व्यक्ति भी मिल जायं . ., २०८
युद्धकी आवश्यकताके बारेमें, २०९
प्रभु हैं, प्रभुका एक भाग . ., २१४
चाहते हैं, व्यक्ति नीरवताकी शक्तिको नीचे उतारे, २२३
-की भावाभिव्यक्ति, २३४
-में विनोद वृत्ति, २५३
अंतिम अवतार !, २६३
-का अनुसरण और अन्य देवी-देवताओंको मानना, २६४
-ने जबसे सूक्ष्म-भौतिक जगत्में कार्य करना . ., ३२३

-में परिहास-प्रतिभा, ३४७
' "काली" नामसे हस्ताक्षर, ३४८ टि०
-के कहनेका ढंग निराला, ३५२
-में प्रतिभा, असाधारण अनुभूतियोंको साधारण रूपमें अभिव्यक्त करनेकी, ३५४
एक वाक्यसे ही क्या कुछ कर देते हैं, ३६४
-ने चित्रोंका उपयोग केवल समझानेके लिये .., ३६८
-का प्रयास पाठकोंको नैतिकतासे मुक्त करनेका, ३७५
(दे० 'काली' व 'श्रीमाताजी' भी)

श्रीकृष्ण [कृष्ण], ३५३
-के साथ खेलने"का अर्थ, ५१-२
-को देखने"का अर्थ, ५१-२
किस कारण वृन्दावनमें वास नहीं करते, ६०
कभी हुए ही नहीं .., ६०-१
-अर्जुन-संवादका परिणाम, ६३
कवियोंकी सृष्टि हैं, ६४
-को जानना, २६३
-से अधिकृत ही कालीको सह सकता है, २९१
(अकेले), एक ओर, और सेना दूसरी ओर, तो भी उनको ही चुनो .., २९९
-द्वारा कंसका वध, ३२४
-से अधिक प्रेम या कालीसे, ३५२
-के साथ प्यार और नाराजगीकी लीला, ३५४
यदि चंद्रावलीसे प्रेम .., ३५७
-की मधुर मूर्तिके दर्शन, उनके संहार-रूप-दर्शनके बाद, ३७०
-को पाना काली-उपासनाके बिना कैसे !, ३८३

श्रीमाताजी,
मैं तुम्हारे लिये जो चाहती हूं, १६
-का नाम लेकर वे एक और मूर्खताको जोड़ देते हैं, ८०
-को पार्थिव स्वर्गकी स्मृति, ९०-२
पहली बार वैयक्तिक पार्थिव आकारमें, ९२
-का संदेश, श्री अरविन्दके बारेमें ९७ टि०, २१४
'हंसी करते संकोच, १०२
-पर ईसाई शिक्षाका प्रभाव, १०३
-को 'वस्तुएं अपने स्थानपर नहीं' का ज्ञान छुटपनमें, १०८
-के सामने समस्या, भौतिक रूपांतरकी, ११४, ११७
-की सामान्य अवस्था, ११७
'मैंने एक प्राणिक सत्ताको शरीर प्रदान किया था, ११८
-की, ३ फरवरी, १९५८ की, (अतिमानसिक नौकाकी) अनुभूति, ११९-२४
-का अतिमानसिक जगत्के साथ संपर्क, ११९
-की उपस्थिति अतिमानसिक जगत्में, ११९, १२३
-का रूप अतिमानसिक जगत्में, १२२
-की पूर्वबोधकी शक्ति, १३६-३८
'फ्रांसमें, पर्वतीय प्रदेशमें .., चट्टानके दूसरी ओर सांप, १३६-३७

'यहीं, अरियन कुप्पम्में, मैं सांप-
पर पैर.., १३७
पेरिसमें चौराहा पार करते हुए
ट्रामका दूरसे धक्का..,
१३७-३८
-का शिक्षक : 'तुम इंद्रियोंसे काम
नहीं लेतीं', १३८
'बीमारीसे महीनों बिस्तरमें..
देखना चाहती थी, शिल्प-
शालामें क्या हो रहा है, १३९
-के सामने समस्या, तीसरे बिंदु-
को खोज निकालनेकी, १४१-
४३
-की, १३ अप्रैल १९६२ की अनु-
भूतिके बाद, उनकी दृष्टिमें
परिवर्तन, १४१, १४४-४५
'मैं भगवान्‌को सर्वत्र, सब समय
अनुभव करती हूं, १६०
'मुझे त्यागका अधिक अनुभव नहीं
..मैं जानती थी.. भूलका
त्याग, १७९-८१
-की आनंदकी स्थिति और लोगों-
के बीच कार्यरत रहते हुए
की स्थिति, १८२
-की शरीरकी अनुभूतियोंका
निष्कर्ष, १८८
शास्त्रकी प्रामाणिकताके बारे-
में, १९१
-की अनुभूतियोंकी भाषा, १९२
-का अपनी अनुभूतिको शब्दोंका
रूप देना, १९३
-की २९ फरवरीकी अनुभूतिको
सूत्रबद्ध करनेकी चेष्टा, १९५
'मुझे पृथक् 'मैं' का कोई वेदन
नहीं, १९९
-का शरीर, २००अ
'शरीरको ज्वर-जैसा लगता, जब
कार्य बड़ा एकाग्र और घनी-
भूत होता, २०२
-का आश्रम बनानेके पीछेका
विचार, २०७
'अभी कल ही, शक्तिकी अभि-
व्यक्ति.. धैर्य.., २१०
'मेरे लिये सब चीजें किन्हीं नियमों-
के अनुसार चलती हैं, २१८
'मैं भविष्यवाणी कर सकती हूं,
२१८
-की बहुत पहलेकी अनुभूति :
ज्ञानका तत्काल ही प्रचार
करने और शांत बने रहनेके
बीच भेदकी, २२२
-की शरीरमें अनुभूति : "मैं एक
निष्प्राण व्यक्ति हूं..",
२३५-३७;
चेतनाकी दृष्टिसे यह एक
भारी प्राप्ति है, २३७-३८
-का देखने और सुननेका तरीका,
२३५-३६;
यहां व्यक्तिगत कुछ नहीं,
२३६;
खानेकी क्रिया, २३६
-के शरीरका पूर्ण आत्मदान,
२३७-३८
-से मानव संकल्प यदि कुछ अपेक्षा
करे.., २३९
'शरीरमें निश्चयता : यदि वह
सर्वोच्च सत्ताके साथ संपर्क
खो दे तो.., २४०

'शरीरका प्रश्न : मैं 'तुम्हारी शक्ति' अपने अंदर क्यों नहीं अनुभव करता, २४०
-का अनुभव; अदम्य शक्तिका, २४१
'मैंने अंतर्दर्शनमें दिव्य सृष्टिका निर्माण होते देखा, २४१
'एक चित्र देखा : मत कैसे बनाये जाते हैं, २४८-४९
-का पश्चिमी धर्मोंद्वारा वर्णित भगवान्‌के प्रति मनोभाव, ३५०
'२५ वर्षकी आयुमें मैंने आंतरिक भगवान्‌की खोज कर ली, ३५०
'कायाके रूपांतरमें जो पाठ प्रभु सिखाना चाहते हैं, ३६९
'शरीरके रूपांतरके संबंधमें दो अंतर्दर्शन, ३७३

श्रीरामकृष्ण, ३८२
विवेकानन्दसे : 'तुम भगवान्‌को उसी भांति देख सकते .., २१५
-ने यह कहा था.., २६३
क्या थे ?, २६३

श्रेष्ठता [बड़प्पन],
-की भावना, १८, १९, ३०, ६९ ८०, १२४

स

संकल्प [इच्छा-शक्ति], ७८
वैयक्तिक, का अर्थ, ५४
व्यक्तिगत, और विवेककी आवश्यकता क्या समर्पणके बाद भी ?, २९७-९८
(दे० 'प्रयास', 'भागवत संकल्प' भी)

संकीर्णता [संकुचितता], ३६३
ही घटनाओंको दुःखान्त बनाती हैं, ५०, २९०
मनकी, ८०
-को निकाल फेंक, १९४
'जब तुम अपने-आपको घटाते ही चले जाते हो, २०६
(दे० 'अज्ञान', 'विस्तार' व 'दृष्टिकोण' संकुचित भी)

संघर्ष,
कठोर, प्रकृतिके पहरेदारोंसे, १३
'निरंतर उत्तेजनाकी स्थिति, २५
'आंतरिक तनाव, २११
(यह), शरीरमें या शरीरके बिना भी चलता रहेगा, ३०५
(दे० 'झगड़े' भी)

संतुलन,
इस सृष्टिका मूल धर्म, १०८, १०९
'संतुलित मार्ग, २१२
(दे० 'शक्ति' भी)

संदेह [संशय],
उच्चतर सपंदाओंके प्रति, १३, १४
करना, बड़प्पनके भावमें, ३०अ
विश्वासीको जितना सताता .., ३०१
और विश्वास, ३६०

संन्यास,
नहीं, आंतरिक त्याग, २७०

संन्यासी,
और जीवन्मुक्त, २०३
(पर्वत-चोटीपर बैठे), की शक्ति, ३०५-६
-के वेशको सम्मान दो, किंतु .., ३२६

संप्रदाय (धार्मिक),
-ोंकी असहिष्णुताका कारण, २३-४
-ोंकी तुलना विभिन्न पात्रोंसे, ८५
-ोंका मूल्य और उपयोग, ८५
(दे० 'धर्म' भी)
संभव, १७०
सब कुछ है, ३७, १५५
(दे० 'असंभव' भी)
संयम, दे० 'साधना'
संयोग, ४०, ४२, ३०३
और भ्रांतिके पीछे चेतन संकल्प, ४३, ४५
जैसी कोई वस्तु नहीं, ४४, २७१अ
सच्चाई [सत्यनिष्ठा],
और अनुभव, ३७, ४२, १९२
-का अभाव है, ५९
और भविष्यवक्ता, १३४
-से चाहना कि भगवान् सब कुछ कर दें, १५९
और विशुद्धता, २१२
समर्पणमें, २९८
आदेश जाननेके लिये, ३३२
सजातीय,
ही सजातीयको जान सकता है, २९-३०
सज्जनता [साधुता],
आत्माका सूक्ष्म आकाश, २९४
-का अर्थ, २९५, ३२७
सत्ता,
-एं प्रकाशके वस्त्रोंमें, २४८
सत्य,
एक पूर्णांग वस्तु है, ५
उच्चतर, विरोधाभासपूर्ण, १०
उच्चतम, इस समयका, ११
-की प्राप्तिकी शर्त, २२
हमारे ही पास है . ., २३
-को पाना बुद्धिद्वारा या अनुभवद्वारा, ३५-८
और तर्कबुद्धि, ३७
-को मिथ्यात्वमें बदल देनेकी तर्कबुद्धिकी शक्ति, ४०
निरपेक्ष, मानसिक स्तरपर, ६७-८
और तर्क-शास्त्र, ६८-९
(सर्वोच्च), का स्वरूप, ७१
(अपने), को दूसरोंको समझानेका तरीका, ८७
समग्र, का लक्ष्यवेध, १२७-२९
(दे० 'समग्रदृष्टि' भी)
पा लेनेसे संतुष्ट व्यक्ति, १२७अ
(अपनी सत्ताके), को जीना ही समग्र ज्ञानका रास्ता, १४३
चुप-चाप नहीं बैठता, १५२
ही एकमात्र उपाय है जगत्को बदलनेका, १९६
-की अभिव्यक्ति कवि और कलाकारका कार्य, २५७-५९
कौन-सी वस्तु : जड़तत्त्व या कि चेतना ?, २६१
-ोंको जान लेने दो, जिन्हें अवतारने वाणीबद्ध नहीं किया, २६३
ही सच्चा पथ-प्रदर्शक, २८७, ३२६
एक कठिन और आयासपूर्ण विजय है, ३०५
विरोधी वस्तुओंसे ऊपर समग्र एकत्वमें, ३२८
(अपूर्ण), का अध्ययन कर, ताकि विशालतर ज्ञानतक जा सके, ३६१

भागवत, पाप-पुण्यसे ऊपर, ३६६
उच्चतम, विशालतम, गभीरतम अधिकृत कब, ३६८
(विशुद्ध) की खोज..., ३८१
(बहुत-से गंभीर), उन अस्त्रोंके समान.., ३८१
(दे० 'ज्ञान', 'विचार' व 'प्रमाण' भी)

सत्यके पथिक,
-का मार्ग, २८७
-की वृत्ति सीखनेके बारेमें, ३१३; जीवित रहने या न रहनेके बारेमें, ३३३, ३३४
(दे० 'भगवत्प्रेमी' और 'कार्य' हमारे करने भी)

सत्यचेतना [दिव्य चेतना],
-में वस्तुओंका रूप, ४६, ७७, ७९, १०९, २७६
-में सत्य और मिथ्यात्व एक ही समय और साथ-साथ, १९६, १९८, २०१
-का हस्तक्षेप, १९९
-में भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन, २१५
-में भौतिक जगत्‌का बोध स्पष्ट और यथार्थ रहता है या.., २३२-३३, २३४, २३८
(दे० 'एकत्व'-की चेतना भी)
-के साथ संपर्क और सुस्वास्थ्य, ३३७
(दे० 'शक्ति' (अपनी) भी)

सनातनता [सनातनत्व, शाश्वतता],
-की भावनामें जीओ, २११
-की भावनामें एक विश्वके लयका महत्त्व नहीं, २२८-२९
आत्मासे संबंधित, २७४
' "शाश्वतीः समाः", २७४

सफलता,
किस चीजपर निर्भर, ५६-७
-में स्थिर रहनेके लिये आवश्यक चीज, ५९
या कि अपनी भूमिका, ३०३
-के पीछे दौड़-धूप, ३१५, ३२९
(दे० 'असफलता' भी)

सभ्य, ३३७

सभ्यता (यूरोपीय), ३३७

समग्र दृष्टि [समग्र ज्ञान, समग्र सत्य],
-का फल एवं उसकी प्राप्तिकी शर्त्त, ७८, १२८-२९, १४३, १५६, २७२

समझना,
पद-परंपराको, १९
सूत्रोंको, २१, ३७
आंतरिक जीवनको, ३०, ३९अ, २१२
घटनाओंको, ४९, ५९
वस्तुओंको, ४९, ७८, २७६, ३००
भगवान्‌को, ७१, ३६१, ३७७
चमत्कारको, १६६, १६८, २१९
आंतरिक तथ्योंको, २१९, २२०
भगवान्‌की क्रिया व प्रयोजनको, २५३, २७६, २९१
जगत्‌को, २७१, २७६
शास्त्रोंको, ३७४

समझ-शक्ति, दे० 'शिक्षा'

समता,
-की वृत्ति, ५९
पूर्ण और स्थायी, ११२ टि०
(पूर्ण), अनिवार्य, अतिमानसिक

स्पंदनके लिये, ११३, ११५
अतिमानसिक, ११६

समर्पण,
ज्ञान पानेके लिये, १२
काली छायाका, १२५-२७
-के रास्तेमें सबसे बड़ी बाधा, १२७
'भगवान्‌को सब कुछ करने दो, १५७-५९
(पूर्ण), द्वारा कोषाणुओंमें प्रतिरोधकी समाप्ति, २४५
प्रकृति-परिवर्तनके लिये, २५०
-में प्रसन्नता इच्छा-तुष्टिसे अधिक, २७२
और व्यक्तिगत संकल्प, २९८
-में आत्म-प्रवंचना, २९८
-द्वारा अक्षमतासे छुटकारा, ३१७
-से मानसिक दासतासे मुक्ति, ३४२
भगवान्‌को समझनेका साधन, ३६१
(दे० 'आत्म-विस्मृति' भी)

समस्या,
कि क्या कहा जाय या क्या किया जाय, २८, १५८
तरंगोंको अभिव्यक्त न होने देनेकी, ७७
कि विकृति आयी कहांसे ?, १०७
भौतिक रूपांतरकी, ११४, ११७-१८
-का हल मानसिक एकाग्रताद्वारा, १४०
तीसरे बिंदुकी प्राप्तिकी, १४१-४२
जीवनके बीच अक्षर आनंदकी स्थिति बनाये रखनेकी, १८२-८३
स्पंदनोंकी, १८६-८८
-एं (सभी), स्पंदनकी ही समस्याएं हैं, १८८

समाज,
पूर्णता-प्राप्त, की सृष्टि, ३१८-२१

समाजवाद, दे० 'यूरोप'

समाधि,
ले लेना, जीवित ही, २२२अ

समानता, ३२०
-की अभिव्यक्ति तभी, ३२१

सरकार,
समाज, नियम-कानून आदि सामयिक आवश्यकताएं, ३१८
किनकी हो, ३१९
", मिथ्या या भ्रामक, ३२५
-की सहायतासे पूर्णता लानेका स्वप्न, ३२६
(दे० 'नियम' और 'शासन' भी)

सरलता,
(सहज), को मनुष्य पुनः कब प्राप्त करेगा, ८८
(दिव्य), जटिल अस्त-व्यस्ततामेंसे, १७५-७६
(दे० 'सुन्दरता' भी)

ससीम,
और असीम, ९९, २३०-३२

सहनशीलता,
'सहन करना दुःख-दर्दको, १७७-७९
कई प्रकारकी, ३०९
(दे० 'विश्वास' भी)

सहानुभूति, २९०, ३६६

सहायता,
गरीबोंकी, २७७
कर, अपने भाइयोंकी, ३६६
(दे० 'सेवा' और 'दया' भी)

सूक्ष्म सत्ताएं,
भविष्यकी सूचना देनेवाली, १३२-३३
सूर्य, ८६, २१५
आंतर, दिव्य हास्यका; इसे पानेकी शर्त, १६४
-की और पृथ्वीकी चेतनाके पारस्परिक संबंधोंमें परिवर्तन, १९४, १९९
-की बनावट देखना... और आत्माको देखना.., २१५
सेवा,
करना उपयोगी किस कारण, ३७२
-की अपेक्षा भगवान्का होकर रहना बेहतर, ३७४अ
और प्रशंसाकी कामना, ३७९
(दे० 'भगवान्'-की सेवा और 'सहायता' भी)
स्त्री,
-के विषयमें हमारे विचार, ३१३
-के जालसे बचनेके दो ढंग, ३१४
-का आदर्श क्या होना चाहिये, ३१४
और पुरुष आध्यात्मिक दृष्टिसे, ३१४
'एक पत्नीव्रत, ३५१
स्पंदन,
(वह), एक ही होता है जो अनिश्चित कालतक दुहराया जा सकता है", ७४
(अतिमानसिक), की अभिव्यक्तिकी शर्त, ११३
भागवत उपस्थितिका, १६१
सर्वोच्च संकल्पको प्रत्युत्तर देनेवाले और स्पंदन अज्ञानके, १८५-८८
(सच्चे), की शक्ति, १९६
(व्यवस्था और समस्वरताके), का हस्तक्षेप, २००
सच्चे, का हस्तक्षेप अहंभावों या व्यक्तित्वोंपर निर्भर नहीं, २०१
प्रेम और घृणाके, २२४-२७
प्रकाशमय, २३२, २४२
सृष्टिकी बाह्य यथार्थताका, २३३; "क्यों"..का उत्तर, २३३
भगवान्के प्रति पूजाका, २७३
(दे० 'मिथ्यात्व' भी)
स्पार्टा, २८०
स्मरण [रटना],
हर क्षण कि 'केवल वही है', १०४
स्वतंत्रता [स्वाधीनता],
विधि-विधानोंसे, १८
(सच्ची व पूर्ण), ७०, ७९
(सच्ची), का अर्थ, २०४, २०६, २६६
-की चरम पूर्णता, २३७अ
(पूर्ण), का उपभोग, २६६
कामना, अज्ञान व अहंभावके त्यागके मूल्यपर, २७०
-प्राप्तिकी शर्त्त, २७३
-के पथपर कब, २७३
-के अयोग्य कौन, ३१५
समानता, भ्रातृत्व", फ्रेंच क्रांतिका मंत्र, ३२०; इसे व्यवहारमें लानेकी शर्त, ३२०
-की अभिव्यक्ति तभी, ३२१
(दे० 'मुक्ति' भी)

स्वप्न,
पूर्व सूचक, १३०-३१
स्वर्ग, दे० 'पार्थिव स्वर्ग'
स्वर्ग और नरक, ६५-६, २६२
(दे० 'नरक' भी)
स्वार्थपरता [स्वार्थपरायणता],
ही एकमात्र पाप, २२४, २९४
-से आत्माका हनन, २९३
-का अर्थ, २९५
विलीन कब, ३६७
स्वास्थ्य (प्राकृत),
-की पुनःप्राप्ति कब, ३४१, ३४२-४३
(दे० 'रोग' व 'औषधि' भी)

ह

हक्सले, ३८२
हास्य,
विश्व-व्यापी, ३७२
(दे० 'भगवान्' -का हास्य व 'सूर्य' आंतर भी)
हिपोक्रेटस, ३४१
हिरण्यकशिपु, ३७३
हृदय,
-का रूपांतर, १५१
-की पहुंच, २३४
-का बोध, ३०३
(दे० 'भीतर' भी)
हृदयहीनता,
-को विवेक .. का नाम, ३०९
हेकेल, ३८२
हेन, १५२
हेमलेट, २५८, २५९
हेलास, ६३

विषय-सूची

ज्ञान	१
कर्म	२८५
रोग और चिकित्सा-विज्ञान	३३९
भक्ति	३४५
अनुक्रमणिका	३८५